आचार्य अभिनवगुप्त का लोचन-एक समालोचनात्मक मूल्यांकन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोधकर्त्री

कु० अञ्जलि अष्ठाना

निर्देशक

डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल डी० लिट्०

रीडर संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत - विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९७८ ई०

दुर्गे शास्त्रविचाराणां ध्वान्ताकूपारसन्तरम् ।
वन्देऽभिनवगुप्ताख्यं ज्ञानमार्तण्डमुद्गरम् ॥

प्राक्कथन

काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का आविर्भाव वैसे ही हुआ है जैसे रजनी और दिवस के मध्य प्रभातागमन का । विविध मत के संघर्षों के प्रकाश से झिलमिलाती साहित्यशास्त्र की विभावरी एकाएक आनन्दवर्धनोदय से चमक उठी । समस्त तमिस्रा विगलित हो गई और नवीन प्रकाश-पुंज प्रसर गया । तदनन्तर प्रारम्भ हुआ साहित्यशास्त्र के अभिनव दिवस का, जिसमें काव्य का कोई कोना भली-भांति निखरे बिना नहीं बचा । उसका प्रत्येक अंग अपनी सहज सुषमा से चमक उठा और उसका वास्तविक स्वरूप , जो सहृदय-हृदय में केवल कल्पना के रूप में था, प्रत्यक्ष प्रकट हो गया ।

ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व का काव्यशास्त्रीय चिंतन जैसे आनन्दवर्धन के अवतार की पूर्व पीठिका थी, अथवा उनकी श्यामल परछाईं, उसके बाद का चिंतन उन्हीं का प्रशस्ति-गान अथवा उस दीपशिखा का प्रकाश । पूर्ववर्ती आचार्य जिस व्यंग्य-अर्थ को भंगी-भणिति, अथवा समासोक्ति , आक्षेप,अपह्नुति इत्यादि अलंकारों में ही देख रहे थे, उस व्यंग्य-अर्थ-रूपी चारुत्व के वास्तविक वैशिष्ट्य को आनन्दवर्धन की तत्त्वाभिनिवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि ने ही पहचाना । व्यंग्य-अर्थ को अपनी उक्ति का सर्वस्व बनाकर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों ने अपनी काव्य-साधना की थी । वह उनकी काव्य-प्रतिभा का मूल बीज था । उसे उस रूप में नहीं समझने के कारण परवर्ती आचार्य महाकवियों की काव्योक्तियों का सही स्वरूप निर्धारण ही नहीं कर सके । दुर्भाग्य से वे महाकवि स्वयं आचार्य नहीं थे कि अपनी कविता की मीमांसा में काव्यशास्त्र-ग्रन्थ लिखकर उसका वास्तविक परिचय देते । परिणामत: शताब्दियों तक अटकल बाजियां चलती रहीं और केवल आनन्दवर्धन की लेखनी के साथ वह तत्त्व वास्तविक रूप में सहृदय समाज के समक्ष आ सका, जो इन महाकवियों की काव्य-साधना का मूल बीज था और कविता-कामिनी का सर्वस्व लावण्य था । काव्य में व्यंग्य-अर्थ को सभी आचार्यों ने पहचाना था, किन्तु उसकी प्रत्यभिज्ञा आनन्दवर्धन को ही हुई - उसका

वास्तविक महत्व आनन्दवर्धन की प्रज्ञा ने ही जाना —'मन्थनः कृपणितेषो तो तृष्णायां महार्णवे:'। और उन्होंने इस व्यंग्य अर्थ को प्रधान-रूप से अभिव्यक्त करने वाले काव्य को ध्वनि संज्ञा दी। विरुद्ध भावनाओं के होते हुए भी आनन्दवर्धन का सिद्धान्त विद्वानों के मध्य मान्य हुआ। भला सूर्य के प्रकाश को कौन इनकार कर सकता है। ध्वनि-सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप प्रकाश में आ जाने पर, वही काव्यशास्त्र का सर्वस्व बन गया।

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की रचना के साथ ही उसकी टीका टिप्पणी प्रारम्भ हुई। कुछ टीकाकार गुप्त शत्रु के रूप में उसके विरोध के लिए प्रवृत्त हुए, और कुछ ने अपनी अपरिपक्व अथवा अप्रौढ़ बुद्धि के नाते उसके सिद्धान्तों का भ्रान्त परिचय दिया। फलत: ध्वनि के विषय में न केवल विद्वेष अपितु उपहासात्मक विरोध प्रारम्भ हुआ, और यह आंधी तब समाप्त हुई, जब लगभग १५० वर्ष पश्चात् 'लोचन' टीका की रचना हुई। इससे ध्वनि के अनेक सूक्ष्म तत्त्व स्पष्ट हो गए। किन्तु, आनन्दवर्धन का चिंतन सूक्ष्म होते हुए भी लघु शब्दों में था, जब कि अभिनव गुप्त की प्रखर प्रतिभा ने अपने 'लोचन' को इतना सम्पन्न बनाया कि वह तरह-तरह से बोझिल हो गया और साधारण वैदुष्य के व्यक्तियों के लिए दुरूह बन गया। 'लोचन' में जब वे अपना मतभेद देते हैं तब वह आपाततः पकड़ में नहीं आता और ऐसा प्रतीत होता है कि यही मूलानुसारी व्याख्यान है, कुछ भी प्रतिकूल नहीं। ऐसे अनेक स्थल हैं, और वे स्थल इतने मार्मिक एवं महत्त्व के हैं कि वहाँ अपना मत रखकर अभिनव गुप्त ने पूरे सिद्धान्त का स्वरूप ही बदल दिया और वह ध्वनि-सिद्धान्त आनन्दवर्धन का नहीं, अभिनव गुप्त का-सा हो गया। अधिप ही राजा बन गया। अत: प्रस्तुत प्रबन्ध में लोचन-व्याख्यान में निहित स्वतन्त्र मतों को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत समीक्षा पांच अध्यायों में विभक्त हो गई है :- प्रथम अध्याय- विषय-प्रवेश। द्वितीय अध्याय- सिद्धान्तपक्ष। तृतीय अध्याय- दार्शनिक विवेचन। चतुर्थ अध्याय- ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का मूल्यांकन। पंचम अध्याय- लोचन का परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव।

प्रस्तुत शोध कार्य में प्रवृत्त करने का श्रेय पूज्य गुरुवर्य डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल जी को है। मदीय गुरुवर्य का सदा से यह आग्रह रहा है - मौलिक रचना

के परिवेश से सर्वथा मुक्त रहकर एवं निर्भीक होकर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का अध्ययन करना । उन्हीं के निर्देशानुसार प्रस्तुत अध्ययन किया है । यह प्रयास कहां तक सफल हुआ है इसके लिए विद्वान् सहृदयजन ही प्रमाण हैं ।

शोध कार्य की वास्तविक प्रेरणा देने वाले तथा छात्रों के प्रति वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करने वाले श्रद्धेय गुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उन्हीं के आशीर्वाद का एक मूर्त रूप है । हृदय में साहित्यिक चेतना को जागरित करने वाले परम आदरणीय गुरुवर्य डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल जी के सम्मुख श्रद्धानत हूँ, उन्हीं के स्नेह एवं उपदेश से यह शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हो सका । ध्वनि-सिद्धान्त पर इधर अनेक ग्रन्थरत्न लिखे गए हैं । मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि उनमें प्रथित विचार-मणियों का पूर्ण उपयोग करूं तथा उनके बताए मार्ग का यथासम्भव अनुसरण करूं । अतः मैं इन गौरव ग्रन्थों तथा उनके मनीषी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ ।

गंगानाथ झा-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट के प्रति आभारी हूँ, जहां से पुस्तकें सुलभ होती रहीं । प्रयाग विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने लेखों, पत्रिकाओं एवं दुर्लभ पुस्तकों को देने की व्यवस्था की । श्री गंगाधर तिवारी ने प्रस्तुत प्रबन्ध को यथाशक्ति अल्प समय में टंकित किया है, उसके लिए अत्यन्त आभारी हूँ । टंकण कार्य में जो अनिवार्य अशुद्धियां रह गई हैं, उनके लिए सविनय क्षमा प्रार्थिनी हूँ ।

ध्वनि-गौरव विद्वानों के कर कमलों में इसे समर्पित करते हुए मुझे कविकुल गुरु की यह पंक्ति बराबर याद आ रही है -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥

विनीता

अंजलि अस्थाना

विषयानुक्रमणी

तृतीय अध्याय

(पृष्ठ १३१ - १५१)

दार्शनिक विवेचन

चतुर्थ अध्याय

(पृष्ठ १५६ -२५६)

विवेचन और विश्लेषण

पंचम अध्याय

(पृष्ठ २६२-३०३)

-----:o:-----

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का स्थान :-

कविता रूपी पावन सरिता मानव की सांस्कृतिक चेतना के साथ प्रसूत हुई, और तभी से वह जन मन को आनन्दरस में निमग्न करती रही । इसमें अवगाहन तो सभी सहृदय जन करते रहे, किन्तु इसके स्वरूप का परिचय मनीषी आचार्यों का तत्त्वाविवेचन बना । संस्कृत में, आचार्य भरत से लेकर आज तक जितने भी प्रख्यात प्रतिभाशाली आचार्य हुए, सभी ने अपनी अपनी बुद्धि-कौशल से काव्य के स्वरूप का सैद्धान्तिक विश्लेषण किया ।

रूपकों (जो एक काव्य भेद ही है) में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित करने वाले आचार्य भरत ने - 'रसः काव्यार्थः' एवं 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' द्वारा नाट्य में रस का महत्त्व बताया । परन्तु, भामह उद्भटादि ने काव्य रचना का सारा सौन्दर्य अलंकारों में पाया और वही काव्य का सर्वस्व निर्णीत हुआ । उनकी दृष्टि में 'रस' एक प्रकार का अलंकार बना रहा । जब वामन ने 'रीति' विवेचन के प्रसंग में 'गुण' को काव्य का प्रधान तत्त्व बताया तब भरत द्वारा प्रतिपादित 'रस' वहाँ एक प्रकार का गुण बन गया । इस प्रकार भरत द्वारा प्रतिपादित रस कहीं अलंकार कहलाया कहीं गुण । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसे अर्थ रूप ही उपयुक्त माना गया । आचार्य भरत ने उसे व्यापक माना था, किन्तु , अलंकार और गुण वादियों ने उधर ध्यान नहीं दिया ।

यही स्थिति 'व्यंग्य-अर्थ' की भी हुई । आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों की बुद्धि में यह व्यंग्य अर्थ और व्यंजनावृत्ति अस्फुट रूप से स्फुरित हो रही थी , तथापि वे आचार्य उसे किन्हीं अलंकारों के अन्तर्गत वाच्य के उपस्कारक रूप में ही मानते रहे । यथा -

भामह ने समासोक्ति अलंकार के लक्षण में कहा— 'जहाँ समान विशेषणों के द्वारा अन्य अर्थ गम्य हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार है'[1]। इस प्रकार भामह ने अर्थान्तर की गम्यमानता के द्वारा वाच्य से भिन्न व्यंग्यार्थ की ओर स्पष्ट संकेत किया है। पर्यायोक्त अलंकार में 'अन्येन प्रकारेणाभिधीयते'[2] द्वारा परोक्ष रूप से व्यंजनावृत्ति की ओर ही संकेत है। दण्डी ने तो उदात्त अलंकार के प्रसंग में 'व्यंजित'[3] पद का प्रयोग भी किया है। और पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में 'प्रकारान्तराख्यानम्'[4] द्वारा व्यंजनावृत्ति की ओर संकेत किया। उन्होंने उत्प्रेक्षा के व्यंजक शब्दों को गिनाते हुए 'व्यनक्ति'[5] पद का प्रयोग भी किया है।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यंग्य-अर्थ पूर्ववर्ती आचार्यों को ज्ञात था। किन्तु, वे काव्य में उसके महत्त्व का उचित आकलन नहीं कर पाए। भामहादि आचार्य शब्दालंकार एवं काव्यालंकारों में ही काव्य का सारा सौन्दर्य खोजते रहे। क्योंकि शब्दार्थ ही काव्य के विधायक तत्त्व या शरीर हैं। उनकी दृष्टि काव्य के बाह्यालंकरण मात्र तक ही सीमित थी, उसी दृष्टि से वे महाकवियों के काव्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने अलंकार गुण, रीति आदि के पलड़ों से महाकवियों के काव्य को तौलना चाहा था, और उसी का प्रतिपादन करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। किन्तु उन्होंने काव्य और शरीर के भीतर की काव्यात्मा को न पहचाना और न पहचानने का प्रयत्न किया। व्यंग्य-अर्थ से परिचित होते हुए भी उसकी पृथक् सत्ता एवं महत्ता का प्रतिपादन करना एक प्रकार से पूर्वप्रतिष्ठित शास्त्रों की मान्यताओं को चुनौती देना था, जिसका उनमें साहस नहीं था, क्योंकि व्यंग्य

१- काव्यालंकार २।७९

२- वही ३।८

३- पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।
सुव्यंजितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यदः ॥ काव्यादर्श २।३०३

४- वही २।२९५

५- वही २।२३४

अर्थ को पृथक् स्वीकार करने पर, उपर्युक्त व्यापार की भी कल्पना करनी पड़ती। अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार [illegible] नहीं गया था। इसलिए आचार्यों ने रस को भी कभी कभी वाच्य अर्थ रूप अथवा अर्थ गुण रूप तक ही मान कर सन्तोष किया। किन्तु, महाकवियों के काव्य में कड़कने वाले उस तत्त्व विशेष —'व्यंग्य-अर्थ' को क्रान्तदर्शी आचार्य आनन्दवर्धन ने पहचाना, जो महाकवियों के काव्य का प्राण तत्त्व था। इसी व्यंग्य-अर्थ की दृष्टि से आनन्दवर्धन ने काव्य-स्वरूप का विवेचन किया। उसको काव्य के वाच्य अर्थ(उपमादि) प्रकारों से सर्वथा भिन्न बताया। पूर्ववर्ती आचार्यों ने उसका बहुधा व्याख्यान किया था, अतः आनन्दवर्धन ने उस बहुचर्चित तत्त्व की[1] पुनरावृत्ति नहीं की, यथाप्रसंगानुसार उसका अनुकथन मात्र करके छोड़ दिया। केवल व्यंग्य-अर्थ के स्वरूप का सर्वथा नूतन दृष्टि से निरूपण किया और व्यंग्य के साथ उसके प्रतिपादक व्यंजक की भी अनिवार्य प्रतिष्ठा की। ये दोनों तत्त्व ध्वनि-सम्प्रदाय के आधारस्तम्भ हैं।

यह व्यंग्य-अर्थ प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों की वाणी में[2] स्फुरित होता है और केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञों द्वारा जाना जाता है।[3] वह वस्तु, अलंकार और रस रूप होता है। काव्य में व्यंग्य-अर्थ को सर्वोपरि महत्ता दी गई और उसी दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन किया। विभिन्न व्यंग्य-अर्थ में विशेष महत्त्व 'रसव्यंग्य' को दिया। जिसका प्राधान्येन सूत्रपात आचार्य भरत ने किया था, उसका उचित स्वरूप परिचय एवं मूल्यांकन आनन्दवर्धन ने किया -

> व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
> रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥[4]

१- ध्व० १।२

२- ध्व० १।६

३- ध्व० १।७

४- ध्व० ४।५

और, यह 'रस रूप व्यंग्य-अर्थ न केवल सहृदयों को अलौकिक चमत्कार आनन्द देता है, अपितु कवियों की काव्य-रचना के लिए असीम स्वातन्त्र्य एवं नवीनता के प्रयोग का अनन्त अवसर प्रदान करता है। क्योंकि, रस के सम्बन्ध से वर्णन करने पर वे बातें भी नवीन लगती हैं, जिनका पूर्व के कवियों ने बहुश: वर्णन किया है।[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्यंग्य-अर्थ की प्रतिष्ठा में सहृदय की प्रतीति काव्यसृष्टि में चमत्कार की ओर अनुराग व्यंग्य के आस्वादन के साथ ही काव्य की वनपंक्ति अलंकार और गुण रूपी कोकिल तथा मधुकरों के गुंजारों से मंजुल हो उठा। अमराई में यौवन आ गया। आदि काव्य-रामायण से लेकर सारी लौकिक काव्य परम्परा का प्राण तत्त्व संकेत रूप ही नहीं, विश्व के साहित्य का वर्तमान सहृदयों को व्यंग्य अर्थ प्रतीत होने लगा। और ऐसा लगा कि अब तक काव्य के विषय में दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पाई थी। यह काव्य तत्त्व कवियों को स्पष्ट था, किन्तु, वे आचार्य न थे अत: उन्होंने सहृदयों को उसका परिचय शास्त्र रूप में न दिया। केवल काव्य में उसका प्रयोग करते रहे। आनन्दवर्धन को लगा कि 'व्यंग्यार्थ' ही काव्य का जीवन है और व्यंग्य-व्यंजक का उचित प्रयोग करके ही काव्य रचना सार्थक बन सकती है। अत:[2] व्यंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करने वाले काव्य को 'ध्वनि' संज्ञा दी। और काव्य का एक ही प्रकार माना -'ध्वनि'।[3] व्यंग्य अर्थ के अप्रधान रहने पर -'गुणीभूतव्यंग्य' नाम रखा। यह गुणीभूतव्यंग्यकाव्य ध्वनि निष्यन्दभूत ही है।[4]

१- दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था: काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा: ।। ध्व० ४।४

२- ध्व० १।१३

३- (१) ध्वनिरेव काव्यम् ।
(२) काव्यस्य व्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्त: काव्यप्रकार: । ध्व० ४६७

४- ध्व० ३।४०

अतः वह भी ध्वनि-काव्य[1] ही है । व्यंग्य-अर्थ के अभाव में तो चित्रकाव्य काव्य का चित्रमात्र ही हुआ, काव्य नहीं ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की वह उच्च ग्रन्थ - रामायण, महाभारत आदि में तो उसका प्रसिद्ध व्यवहार होता ही था, अस्फुट रूप[2] में पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी उसकी छाया लक्षित होने लगी थी । किन्तु, आनन्दवर्धन की तत्त्वाभिनिवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि ने ही इस तत्त्व को प्रथम बार उचित रूप में पहचाना और उसकी सुनिश्चित सुव्यवस्थित रूप से स्थापना की । आनन्दवर्धन ने यद्यपि पुरानी बात को ही कहा, किन्तु सर्वथा नूतन एवं सही दृष्टि से । कवि वाणी के गूढ़ अर्थ को निबद्ध कर उन्होंने चिरप्रसुप्त काव्य-सिद्धान्त[3] को जागृत किया । और अलंकार-शास्त्र को नई पद्धति बताई ।

इस प्रकार ईसा की नवमी शती तक संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, गुण, आदि प्रमुख सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गए थे । उनमें आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सम्प्रदाय नामक नया सम्प्रदाय जोड़ा, जिसमें समस्त काव्यांगों - रस, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि को ध्वनि-काव्य रूपी कल्पवृक्ष की छाया में समाहित करने का सफल प्रयास किया ।

निःसन्देह ध्वन्यालोक परवर्ती युग के लिए एक आलोक स्तम्भ है, जो काव्य के समस्त आभ्यन्तर पक्षों को आलोकित कर रहा है और कवियों के लिए अनन्त, असीम काव्यपथ प्रस्तुत करता है । क्योंकि ध्वनि के सहारे कवि प्राचीन वस्तुओं का भी सर्वथा नूतन दृष्टि से प्रस्तुतीकरण कर सकते हैं । इस प्रकार 'ध्वनि' कविता कामिनी का अक्षय यौवन एवं चिर नूतन शृंगार बना ।

१- ध्व० ३।४२

२- रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयताम् ।ध्व०वृ०३८

३- सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्त -
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।। ध्व० पृ० ५५२

४- ध्वनिकृतामालंकारिकसरणि व्यवस्थापकत्वात् - रस गंगाधर ।

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥[1]

ध्वन्यालोक की टीका – लोचन:

'लोचन' के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त हैं । इसमें अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तृत व्याख्यान किया है । अपने 'लोचन' का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए स्वयं अभिनवगुप्त कहते हैं – 'किं लोचनं विना-लोको भाति चन्द्रिकयापि हि'[2] । विद्वानों ने भी ध्वन्यालोक के अध्ययन में लोचन का वही महत्त्व बताया है, जो व्याकरण में पतंजलि के महाभाष्य का अथवा वेदान्तसूत्रों के अध्ययन में शंकराचार्य के भाष्य का । इन उक्तियों में कुछ दूर तक सत्यता है तथापि ये अतिशयोक्तिपूर्ण हैं ।

'लोचन' में अभिनवगुप्त का उत्कृष्ट पाण्डित्य सर्वत्र झलकता है । शैव दर्शन के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने जो धाक जमा रखी थी उसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में उनकी 'अभिनवभारती' और 'लोचन' दोनों कृतियों ने पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की । आचार्य ने नतमस्तक होकर साहित्य-शास्त्र में अभिनव की इन दोनों टीकाओं के माध्यम से कही गई उक्तियों को प्रमाण माना और प्रायः किसी ने उनके कथन की प्रामाणिकता की अस्वीकार करना भी उचित न समझा । इसका विवेचन प्रबन्ध में यथास्थान करेंगे ।

१– ध्वन्या० ४।२

२–(१) लो० पृष्ठ १५

(२) आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में अनेक स्थलों पर 'चन्द्रिका' व टीका का नाम लिया है जिससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका के पूर्व 'चन्द्रिका' टीका भी लिखी गई थी, जिसके रचयिता सम्भवतः अभिनवगुप्त के ही पूर्वज थे ।

लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त

क) जीवनवृत्त-

आचार्य अभिनवगुप्त[1] जो साहित्य जगत् में 'अभिनवभारतीकार' एवं 'लोचनकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं, वह माधवाचार्य के 'शंकर-दिग्विजय' में निर्दिष्ट शाक्तभाष्यकार कामरूप देशवासी अभिनवगुप्त से भिन्न हैं[2]। अभिनवगुप्त कान्यकुब्जीय ब्राह्मण थे। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में अपने पूर्वज अत्रिगुप्त का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसी कारणवश कश्मीर राजा ललितादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। उस समय कन्नौज के राजा यशोवर्मा थे, उस युद्ध में यशोवर्मा पराजित हो गए। यशोवर्मा के यहाँ अत्रिगुप्त नाम के एक बहुत बड़े विद्वान थे। कश्मीर के राजा ललितादित्य अत्रिगुप्त को अपने यहाँ ले आए, और बड़े सम्मानपूर्वक उन्हें रखा[3]। इन्हीं अत्रिगुप्त के वंश में लगभग २०० वर्ष बाद अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में अपने पितामह वराहगुप्त, पिता नरसिंहगुप्त (चुखुल) का वर्णन किया है। इन्हीं नरसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनव की माँ का नाम विमला था[4]। अभिनव के सभी पूर्वज परम शिव भक्त[5] थे। पितामह वराहगुप्त को तो अभिनव ने शिव का ही अवतार कहा है। पिता

१- सम्पूर्ण विवेचन का आधार ग्रन्थ - डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अभिनवगुप्त है।

२- [illegible] कामरूपानभिगम्य अभिनवोपपदगुप्तम् । [illegible] शाक्तभाष्यकारं स च मनसा [illegible]।।शंकरदिग्विजय १५।१५

३- निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशस्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः शास्त्राब्धिचर्वणकलोदयसत्त्वमित्रः।।
तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्।प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालय-मूर्धगम्।(तन्त्रालोक अध्याय-३७)

४- [illegible] नरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ इति- तन्त्रालोक १।१४

५- तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले ।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ।।
तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्रपरिकर्मठचित्तमुच्चैर्माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ।।
(तन्त्रालोक - ३७।५३ ।

नरसिंहगुप्त 'संसारवृत्तान्त पराङ्मुखः'[1] एवं 'शिवैकचित्त'[2] थे। माता विमला भी शिवभक्त थीं। अतः अभिनवगुप्त पर भी इस वातावरण का प्रभाव पड़ा और वे भी शैव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् हुए।

अभिनवगुप्त ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, क्योंकि बाल्यकाल में ही माता के मृत हो जाने पर, पिता नरसिंहगुप्त भी सन्यासी हो गए। परिणाम यह हुआ कि अभिनव को सांसारिक जीवन के प्रति आकर्षित करने वाला कोई न रहा। फलतः वे सांसारिक जीवन से सर्वथा विरक्त हो गए। वे एक मात्र शिवभक्ति और दार्शनिक विषयों के अध्ययन में लग गए।[3] उन्होंने शैव-दर्शन को आत्मसात् कर लिया तथा उसे पूर्णतः अपने जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न किया। अतएव, उनकी समस्त विचारधाराएं शैव दर्शन पर ही आधृत हैं। अभिनव ने अपना सम्पूर्ण जीवन दार्शनिक चिन्तन,मनन में एवं साहित्यसेवा में ही लगा दिया।

अभिनव ने किसी एक गुरु से ज्ञान नहीं प्राप्त किया था। उन्होंने स्वयं लिखा है-

'नानागुरुप्रवरपादनिपातजातसंविद्धरोरुहविकासनिवेशितश्रीः'

तदनुसार उनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची निम्न लिखित है -

पिता नरसिंह गुप्त(चुखुल) से व्याकरणशास्त्र[4], भूतिराज से ब्रह्मविद्या[5], भूतिराजतनय से शैवमत[6], वामनाथ से द्वैताद्वैततन्त्र[7], लक्ष्मण गुप्त से

१,२- परात्रिंशिका अन्तिम पद - १२

३- 'साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश्वरस्या स्वयंभूजननुकिया मुदितः।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तीमवीगणत् कामपि केवलं पुनः ॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्।

४- पिता स शब्दगहने कृतसम्प्रवेशः इति।

५- अमोघदर्शी ब्रह्मविद्या यः प्रकाशदायिनी।
शिवः श्रीभूतिराजो वा मामस्यां प्रकाशयन्।

६- श्रीनाथसन्ततिमहाम्बरघर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः।

७- ब्रह्माद्वैतविमर्शनैकनिपुणः श्रीद्वैतवादप्रकाशनविधौ वामनाथः। तन्त्रालोक 37/60 - 62

[illegible] शिक्षा ली[1], भट्टेन्दुराज से ध्वनिसिद्धान्त[2], तथा भट्टतौत से नाट्यशास्त्र[3] का अध्ययन किया।

इन सात गुरुओं का तो अभिनव ने ग्रन्थ में अधिक उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त १३ अन्य गुरुओं का भी उल्लेख एक श्लोक में इस प्रकार किया है -

'श्रीचन्द्रशर्मभवभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथाः।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्रीभूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः॥'

ख- कृतियाँ -

अभिनवगुप्त के ४२ से अधिक ऐसे ग्रन्थ हैं, जो शैव दर्शन की विभिन्न शाखाओं पर लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त ध्वन्यालोक पर लोचन और भरत के नाट्यशास्त्र पर लिखी अभिनवभारती टीकाएं साहित्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं। इनके ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है -

१- बोधपंचदशिका, २- मालिनीविजयवार्तिक, ३- परात्रिंशिकाविवृति, ४- तन्त्रालोक, ५- तन्त्रसार, ६- तन्त्रवटधानिका, ७- ध्वन्यालोकलोचन, ८- अभिनवभारती, ९- भगवद्गीतार्थसंग्रह, १०- परमार्थसार, ११- ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, १२- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, १३- पर्यन्तपंचाशिका, १४- घटकर्परकुलक-विवृति, १५- क्रमस्तोत्र, १६- देहस्थदेवताचक्र-स्तोत्र, १७- भैरवस्तोत्र, १८- परमार्थद्वादशिका, १९- परमार्थचर्चा, २०- महोपदेशविंशतिका, २१- अनुत्तराष्टिका, २२- अनुभवनिवेदन, २३- रहस्यपंचदशिका, २४- तन्त्रोच्चय, २५- [illegible]विचार, २६- क्रमकेलि, २७- शिवदृष्ट्यालोचन, २८- पूर्वपंचिका, २९- पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, ३०- प्रकीर्णकविवरण, ३१- प्रकरणविवरण, ३२- काव्यकौतुकविवरण, ३३- कथामुखतिलक, ३४- लघ्वी-प्रक्रिया,

---

१- [illegible]ऽपि अस्य श्रीसोमानन्दपादेभ्यः प्रभृति [illegible]गुरवः।
[illegible]लक्ष्मणगुप्तनाथः।
२- भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् इति (लो०पृ०२)
३- [illegible]वांछितसिद्धिहेतोः॥
[illegible]

४५- भेदवाद विदारण, ४६- देवीस्तोत्रविवरण, ४७- तत्त्वाध्वप्रकाशिका, ४८-शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, ४९-बिम्बप्रतिबिम्बवाद, ५०- परमार्थसंग्रह, ५१- अनुत्तराष्टक, ५२-प्रकरणस्तोत्र, ५३-नाट्यालोचन, ५४- अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी ।

अभिनवगुप्त की समस्त कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु उपलब्ध कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे उच्चकोटि के शैवदार्शनिक।

अभिनवगुप्त को उनके शिष्य शैव और शिव का अवतार मानते थे। एक शिष्य ने अपने गुरु अभिनवगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है :-

अभिनवगुप्ताचार्यस्तत्रावतीर्णो विचारयन्तोऽस्मिन् ।

कुलकुण्डलिनीकुहरे निवसति नित्येन भोगावतीर्णः ।।

इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी अभिनव को अपना साहित्य गुरु बताया है, और उन्हें 'बोधवारिधि' अर्थात् ज्ञानसागर कहा है -

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः । (क्षेमेन्द्र बृहत्कथामंजरी पृ०२६०)

अतः इसमें सन्देह नहीं कि अभिनवगुप्त एक समाहित चेतना के परम योगी थे ।

यह प्रसिद्ध है कि अभिनवगुप्त ने बारह सौ शिष्य तथा शिष्याओं के साथ कश्मीर की श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच भीरवा नाम से प्रसिद्ध गांव की , इसी नाम के साथ भी विख्यात है भैरव गुफा में भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए प्रवेश किया और वहीं अनन्त काल के लिए उन्होंने समाधि ले ली ।

विद्वानों ने अनेक प्रामाणिक परिशीलनों के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त का काल ९५० ई० से लेकर १०२० ई० तक निश्चित किया है ।

५- आचार्य अभिनवगुप्त: एक समालोचक और व्याख्याकार -

अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र पर कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा, जैसा पहले कहा जा चुका है , उनकी केवल दो साहित्य-कृतियां हैं - अभिनवभारती और लोचन और दोनों टीका ग्रन्थ हैं । टीकाकार होते हुए भी शंकराचार्य के

१- (१) द्र० अभिनवगुप्त पृ० २६ ।

(२) भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए गुफा में प्रवेश की बात डा० पाण्डे ने लिखी है ।

समान अभिनवगुप्त आचार्य पद पर अभिषिक्त हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि किन कारणों से उन्हें आचार्यत्व पद की ख्याति मिली। इस ख्याति के मिलने के अनेक कारण हो सकते हैं यथा- दर्शन-विषयक उनका बहुमुखीय-ज्ञान, पुराणत्व-ज्ञान इत्यादि, किन्तु इन समस्त कारणों में से सर्व प्रमुख कारण उनका मौलिक रस-सिद्धान्त ही है। परवर्ती आचार्यों में मम्मट आदि ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ में रस-विचार उपस्थित किया। इस प्रक्रिया को लेकर अभिनवगुप्त इतने अधिक प्रसिद्ध हुए कि रससम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत को भुला सा दिया गया।

अब, लोचन में प्रतिबिम्बित होते हुए अभिनव के एक समालोचक और व्याख्याकार के व्यक्तित्व का परीक्षण करेंगे। साथ ही, यह देखेंगे कि अभिनव ने किस प्रकार आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को व्याख्यात करने का प्रयत्न किया है और दर्शन एवं तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर किस प्रकार उन्होंने अपने दार्शनिक भावों और तार्किक प्रतिभा का संयुक्त समन्वय साहित्य में किया है। इससे यह ज्ञात हो सकेगा कि काव्यशास्त्र को अभिनव गुप्त का क्या योगदान है और भारतीय समालोचना जगत् में अभिनव गुप्त का कौन सा स्थान है।

यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है कि लोचन में कोई एक व्याख्या पद्धति ही अपनाई गई है। अपनी कृति में कोई वैशिष्ट्य लाने के विचार से अभिनव ने किसी एक पद्धति का अवलम्बन करना उचित नहीं समझा। अपनी टीका को उच्चकोटि की मौलिक कृति सिद्ध करने के लिए विभिन्न व्याख्या पद्धतियों तक को एक साथ 'लोचन' टीका में रखने का उन्होंने प्रयत्न किया जिससे अभिनव के व्याख्यान ने एक नया रूप ले लिया।

अभिनव गुप्त ने व्याख्यान की उस पद्धति को सर्वाधिक अपनाया है, जिसमें पहले भूमिका के रूप में प्रतिपक्षियों के मतों को उपस्थित करके, उनके प्रत्येक तथ्य का खण्डन करते हुए, अन्त में अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है। खण्डन-मण्डन करते हुए अभिनव गुप्त जब तर्क की चरम अवस्था पर पहुंच जाते हैं, तब उनका उदात्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उपयुक्त शब्दों का चयन करते हुए जब वही कुशलता से उसे वाक्यों में प्रयुक्त करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे

उनका उचित रूप ही भाषा के रूप में परिणत हो गया हो , वह भाषा समीक्षा की भाषा न रहकर एक नव काव्य बन गई हो । यह भाषा अभिनव की प्रकृत से ओज प्रौढ़ भाषा है, क्योंकि , लोचन में ही नहीं अभिनव भारती में भी, और अभिनव भारती में ही नहीं दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाओं में भी वे ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं ।

अभिनव को तो लेखन-कला का जैसे वरदान मिला हो । वह किसी एक विषय को लेकर तर्क करना प्रारम्भ करते हैं तो भाषा के विभिन्न प्रयोगों और तर्क के विभिन्न दृष्टिकोणों से उस विषय का सविस्तार विवेचन करते हैं ।

अभिनव के व्याख्यान के महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली और अर्थ के विस्तार के कारण उसमें कतिपय दोष आ गए हैं । उनका व्याख्यान विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित रहता है जैसे - दर्शन, तर्क, व्याकरण आदि । यही कारण है कि प्रायः उनके व्याख्यान के प्रवाह में व्यवधान की प्रतीति होती है । किसी बात को कहते-कहते बीच में कोई दूसरी बात ध्यान में आ गई तो उसे भी वे वहीं पर कह देते हैं । मानों उन्हें आशंका हो कि आगे अवसर मिलेगा या नहीं । फलतः वे कतिपय असम्बद्ध तथ्यों को भी यदा कदा जोड़ देते हैं । अन्य तथ्यों का विवेचन करते हुए भी अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को जहां तक हो सकता है, अधिकाधिक रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं ।

आनन्दवर्धन के पूर्वोक्त मन्तव्य को समझाते समय अभिनवगुप्त उसका अंतर्निहित आशय कहते हैं । यथा -

ननु या प्रकृती शब्दार्थलक्षणाः, या च गुणालंकारहेतुः,
तेन गुणालंकारव्यतिरिक्तोऽसौ व्यापारित्वार्थं विशिष्टकाव्यालंकार-
भाव । (लो० पृ०२२)

इस प्रकार और भी कई स्थल लोचन में मिलते हैं ।

अभिनवगुप्त ध्वनि-सिद्धान्त को न स्वीकार करने वालों का विरोध करते हैं चाहे उन आलोचकों का क्षेत्र साहित्य, दर्शन या व्याकरण कुछ भी हो । इन विरोधियों के प्रति अभिनव की भाषा अत्यन्त कटु हो उठी है । यथा -

अहं मदीयमीमांसानुसारेण[1] । मीमांसक पर बिगड़ जाते हैं और लिखते हैं - पुरं मीमांसकस्य प्रदीपं प्रतिभेदितमिवाभिनवम्[2] अर्थात् मीमांसक अपने वादी को बाध मान रहा है । अभिनव अपने भावुक स्वभाव के कारण ही ऐसा कह देते हैं । वे किसी पर क्रुद्ध बना रहते हैं और किसी पर बहुत अधिक आकृष्ट । आनन्दवर्धन पर उनमें श्रद्धा बहुत है और उनके विरोधियों पर आक्रोश ।

अभिनव गुप्त व्याख्यान के प्रसंग में प्रायः किंवदन्ती और प्रसिद्ध दृष्टान्तों का भी प्रयोग करते हैं - यथा - गुडजिह्विकादृष्टान्तेन बीजाङ्कुरादि - दृष्टान्तेन[3] । जहाँ प्रसिद्ध- मत्स्यादीयन्यायेन[4] का प्रयोग करते हैं वहाँ अप्रसिद्ध काकाक्षिन्याय[5], कामधेनुपरीक्षान्यायेन, काकदन्तपरीक्षा, लोष्ट- प्रस्तारन्यायेन[6], का भी प्रयोग करते हैं । एक और उक्ता ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त करते हैं जो बिना विवेक के दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं - गड्डरिकाप्रवाहेणानुसरणम्[9], बहुरिकाप्रवाहपतितो लोकः[10] ।

अभिनव की भाषा बहुत प्रौढ़ और सम्पन्न है । उसमें विविध रूपों का समावेश है । उनकी भाषा को शास्त्रीय भाषा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी । उनके अधिकांश शब्द शास्त्रियों के ही हैं जैसे - अन्वय, व्यतिरेक, व्याप्ति, अतिव्याप्ति, वाच्यवाचक, जाति, धर्म, धर्मी, पारम्परिकता आदि । एक कुशल साहित्य समालोचक होने के कारण एक ही पद के विभिन्न रूपों को पृथक् पृथक् अर्थ बोधन के लिए प्रयुक्त करते हैं । यथा - चर्वणा, चर्वणीय, चर्व्यमाण, चर्व्यमाणः, चर्व्यमाणताधारः, रसयिता, रस्यमानताधारः, रस्यमानः, ध्वनि, ध्वन्यते, ध्वनन इत्यादि ।

इस प्रकार लोचन में अभिनव गुप्त के भाव, विचार में अनेक तथ्य होने का पता चलता है । इसके अतिरिक्त हमें लोचन से पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में अनेक तथ्यों का

१- लो०पृ० १९९
२- लो०पृ० ६६
३- लो०पृ० २९२
४- लो०पृ० ३१३
५- लो० पृ० १०२
६- लो०पृ० ३५४
७- लो०पृ०८८
८- लो०पृ० ३९७
९- लो०पृ० २२०
१०- लो०पृ०२९

ज्ञात होता है, विशेष रूप से उन आचार्यों के उनकी कृतियों का भी आज अनुपलब्ध हैं। दौर्भाग्यवश वे कृतियाँ केवल अभिनवगुप्त को ही प्राप्त थीं। अतः भरत से लेकर ध्वनि सम्प्रदाय के विकास काल तक होने वाले विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख इसी लोचन में मिलता है। अभिनवगुप्त अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से विरोध करते हुए भी उनके सिद्धान्तों को कभी कभी कुछ अंश में मान भी लेते हैं, जैसे - भट्टनायक का विरोध, उनसे वादविवाद। फिर भी अभिनव भट्टनायक के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं, उनके मतों को कुछ हद तक स्वीकार करके अपने सिद्धान्त में मिला लेते हैं।

यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त ध्वनि-सिद्धान्त को उसी रूप में व्याकृत नहीं करते हैं जिस रूप में आनन्दवर्धन ने उसे प्रस्तुत किया। स्थल स्थल पर वे आनन्दवर्धन से सहमत नहीं होते। किन्तु वे उनका विरोध भी नहीं करते, बल्कि कहीं-कहीं तो युक्ति से उसका परिष्कार कर अपने अनुसार व्याख्यान कर देते हैं।

अभिनवगुप्त व्याख्या करते समय इतने अधिक तल्लीन हो जाते हैं कि कभी कभी एक ही अंश का अतिविस्तृत व्याख्यान करने लगते हैं, और उस प्रसंग में व्याकरण, दर्शन, आदि सम्बन्धित अपने ज्ञान का प्रदर्शन भी कर देते हैं। इसी प्रसंग में यदि प्रसंग हुआ तो अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को भी उपस्थित करके उनका खण्डन भी करने लगते हैं। आनन्दवर्धन ने जो बात दो-तीन पंक्तियों में सरल पदावली में कही है, उसे ही अभिनवगुप्त घुमा-फिरा कर बड़े यत्न से स्पष्ट कर समझाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सरल पदावली में कही गई बात सुलझने के बजाय और अधिक उलझ जाती है। अभिनव की इसी प्रवृत्ति के कारण उनकी टीका कठिन बन गई है। और, इसी कारण तुलनात्मक अध्ययन हेतु बार-बार मानक रखना पड़ता है।

इन कतिपय दोषों के रहते हुए भी, अभिनव ने परवर्ती आचार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। अभिनवगुप्त के व्याख्यान में सिद्धान्त और समालोचना का संयुक्त समन्वय हुआ है। यही कारण है कि दार्शनिक भावों से युक्त उनकी तर्क-पद्धति ने परवर्ती आचार्यों को प्रभावित किया।

विषय की उपयोगिता तथा उसका महत्व

'अभिनव की प्रतिभा जैसी प्रखर एवं प्रकाशिनी है उसकी अपेक्षा उनकी शैली शिथिल है और वाग्जाडम्बर से आक्रान्त हो जाती है । आनन्दवर्धन वामन आदि से तुलना करने पर यह वैषम्य बड़ा स्पष्ट हो जाता है । ध्वन्यालोक की वृत्ति का जब अभिनवगुप्त भाष्य करते हैं तो एक ओर जहाँ उनकी मेधा दार्शनिक तथ्यों का सूक्ष्म गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है वहाँ प्रवृत्ति और शैली की शिथिलता कभी कभी सामान्य तथ्यों को भी उलझा देती है'।[1]

उपर्युक्त निर्दिष्ट सीमाएं अभिनव गुप्त के पुनर्मूल्यांकन की प्रेरणा देती है। निःसन्देह अभिनवगुप्त अप्रतिम पाण्डित्य के धनी एवं अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक आचार्य हैं किन्तु साहित्य के विवेचन पर उनकी सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं । लोचन और अभिनवभारती - दोनों ही साहित्यशास्त्रीय टीकाओं को अभिनव गुप्त ने अपनी धारणाओं, मान्यताओं के परिवेश में बांध कर दिया है । अभिनवगुप्त के पास अपनी एक चिन्तन दृष्टि थी । उन्होंने न केवल भरत के नाट्यशास्त्र को बल्कि ध्वन्यालोक को भी नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अतएव उनका व्याख्यान कभी कभी स्वतन्त्र चिन्तन का रूप ले लेता है और क्योंकि वे अलौकिक प्रतिभा एवं अलौकिक दृष्टि से परिपूर्ण आचार्य थे अत: उनकी मान्यताएं एक नया आयाम प्रस्तुत करती हैं । यही कारण है कि परवर्ती साहित्य-शास्त्र अभिनव से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ता है, आचार्य भरत एवं आनन्दवर्धन से कम । ध्वनि-सिद्धान्त में रसादि विवेचन के प्रसंग में परवर्ती आचार्यों ने पग-पग पर अभिनव की ही दुहाई दी है । जैसे दिलीप का वंश उनके पुत्र रघु के नाम से प्रसिद्ध हो गया, वैसे ही ध्वनि-सम्प्रदाय आनन्दवर्धन की अपेक्षा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त द्वारा प्रवर्तित सा बन गया । जैसे, वेदान्त शंकराचार्य का हो गया और बादरायण भुला दिए गए ।

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र १७७ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य अभिनव के उन्हीं स्वतन्त्र मतों की भी व्याख्या के अनन्तर जो स्वयं प्रमाण बन गए हैं, उन्मीलित करना है । और अभिनवगुप्त ने मुख्य रूप से जहाँ जहाँ ध्वनि-सिद्धान्त में अपने मत को निवेशित किया है अथवा ध्वन्यालोक में जहाँ जहाँ अपने मत को बलात् आरोपित किया है, उन स्थलों को ढूंढ कर पृथक् करना, उन पर विचार करना और ध्वनि-सिद्धान्त को विशुद्ध रूप में देखना - यही प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है ।

वस्तुतः आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त में परिष्कार कर देने से ध्वनि का स्वरूप ही बदल गया, अतः प्रस्तुत विषय की उपयोगिता यही है कि ध्वनि-सिद्धान्त का परिष्कार करके उसे पुनर्प्रतिपादित किया जाय । जिससे काव्यशास्त्र में ध्वनि का स्वरूप उसी रूप में अनुसन्धाताओं के समक्ष उपस्थित हो सके, जिस रूप में आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया था । यहाँ यह संकेतित करना अतिशयोक्ति न होगा कि आनन्दवर्धन का सिद्धान्त स्पष्ट एवं ऋजु है, किन्तु अभिनवगुप्त ने उसे कुटिल बना दिया, अतएव प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की इस दृष्टि से भी उपयोगिता बढ़ जाती है कि अब तक लोचन-टीका के कारण जिस कुहासा का अनुपम अनुसन्धाताओं को धोखा था वह दूर हो जाय ।

संक्षेपतः प्रस्तुत अध्ययन का यही प्रयास है कि आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को विशुद्ध रूप में अपनाया जाय तथा उसका पुनर्निर्धारण किया जाय ।

उपलब्ध कृतियों का आकलन

क : ध्वन्यालोक लोचन के संस्करण - सर्व प्रथम बम्बई में काव्यमाला सीरीज में ई० सन् १८९१ में ध्वन्यालोक के प्रथम तीन उद्योत अभिनवगुप्त के लोचन के साथ और चतुर्थ उद्योत मात्र ध्वन्यालोक(लोचन के बिना) मुद्रित हुए, जिसकी आधारभूत तीन पाण्डु लिपियाँ थीं । यह निर्णयसागर काव्यमाला सीरीज का संस्करण

---

१. इसका प्रकाशन, इसके सम्पादक महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ पाण्डुरंग परब और वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर थे। इनके अनुसार तीन आधारभूत प्रतियों में प्रथम प्रति जयपुर महाराज के आश्रित ज्योतिर्विद् श्यामराम शर्मा की पुस्तक का अशुद्ध प्रतिरूप थी। द्वितीय प्रति श्रीरामकृष्णभाण्डारकर के बम्बईस्थ राजकीय पुस्तकालय की पुस्तक थी, यह भी काश्मीरिक पुस्तक का प्रतिरूप थी । तृतीय प्रति मैसूर के महाराजा स्कूल के संस्कृताध्यापक आचार्य अनन्ताचार्य पण्डित के घर की बहुत प्राचीन लिपि ताडपत्र की प्रतिरूप थी ।

मूल की दृष्टि से प्राय: दोष पूर्ण है । सम्प्रति कई पाण्डुलिपियां मिल चुकी हैं- यथा महामहोपाध्याय पी०वी० काणे का कहना है कि भाण्डारकर संस्थान में पांच पाण्डुलिपियां देवनागरी अक्षरों में और दो शारदा लिपि में प्राप्त हैं । कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ ने ध्वन्यालोक का संस्करण मधुसूदन मिश्र लिखित 'अवधान' नामक नई टीका के साथ प्रकाशित किया । महामहोपाध्याय पी०वी० काणे के अनुसार इसका आधार काव्यमाला संस्करण है । डा० याकोबी ने ध्वन्यालोक का जर्मन भाषा में अनुवाद किया । उन्होंने स्थान स्थान पर शुद्ध पाठों की ओर भी संकेत किया है, जो परवर्ती संस्करणों में मान्य हुए । ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के लोचन के संयुक्त सम्पादन का श्रेय डा० एस० के० डे को है ।K.Krishnamoorthy की Anandvardhan's Dhvanyaloka 1956 में प्रकाशित हुई । तदनन्तर सम्पूर्ण ध्वन्यालोक लोचन,श्री पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा 'बाल-प्रिया' और 'दिव्यांजना' टिप्पणी के साथ १९४० में प्रकाशित हुई । काशी चौखम्बा से पं० बदरीनाथ झा की 'दीधिति' टीका के साथ केवल ध्वन्यालोक प्रकाश में आया ।ई० सन् १९४४ में ध्वन्यालोक -लोचन का प्रथम उद्योत उत्तुंगोदयराज की 'कौमुदी' व्याख्या और महामहोपाध्याय शास्त्री के 'उपलोचन' के साथ मद्रास से प्रकाशित हुआ ।

ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्यान -सर्वप्रथम आचार्य विश्वेश्वर ने १९५२ ईस्वी में प्रस्तुत किया ।१९५५ ई० में पूना ओरिऐण्टल सीरीज़ में डा० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अंग्रेजी का अनुवाद प्रस्तुत किया ।तत्पश्चात् श्री विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रथम और द्वितीय उद्योत का अंग्रेजी व्याख्यान क्रमश: १९५६ और १९५७ ई० में प्रस्तुत किया । १९५६ ई० में बाशाक्ता ने प्रथम उद्योत के लोचन पर 'रश्मि टीका' लिखी । आचार्य जगन्नाथ पाठक ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद १९६५ ई० में प्रस्तुत किया । डा० रामसागर त्रिपाठी ने ध्वन्यालोक -लोचन पर 'तारावती' हिन्दी टीका प्रस्तुत की है । और साथ ही ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद भी किया है । अनुवाद के साथ हिन्दी टीका का प्रतिपादन इस दिशा में आपका कार्य नवीन एवं सफल हुआ है । इसके अतिरिक्त श्री J.L. Masson तथाM.V.Patwardhan द्वारा The Dhvanyāloka And the Dhvanyālokalochan का अंग्रेजी अनुवाद(Harvard Oriental Series-(3vols) की पाण्डुलिपि के अनुसार) भण्डारकर

ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से प्रकाशित हो रहा है। डॉ० बच्चिका प्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक की संस्कृत टीका - 'दीपशिखा' तथा हिन्दी टीका - 'परिशीलन' का प्रकाशन विश्वविद्यालय-प्रकाशन वाराणसी से हो रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का आधारभूत संस्करण चौखम्बा का 'बालप्रिया' वाला संस्करण है।

ख : उपलब्ध आलोचनात्मक ग्रन्थों का आकलन :

आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शन एवं काव्य कला सम्बन्धी विविध तथ्यों का व्यवस्थित एवं सांगोपांग अध्ययन का प्रथम प्रयास डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का है। उन्होंने अभिनवगुप्त का विशेष अध्ययन Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study में और Indian Aesthetics में प्रस्तुत किया। उनके इस अध्ययन से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन को एक नया आयाम प्रदान किया। यद्यपि 'लोचन' और 'अभिनवभारती' सुसंपादित रूप में कुछ पहले से ही उपलब्ध थे, किन्तु भाषा और शब्दावली की दुरूहता के कारण, दार्शनिक भावों की जटिलता के कारण उसे सही अर्थ में ग्रहण करना कठिन था। डा० पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर उनके संदर्भ में काव्य कला सम्बन्धी मान्यताओं की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिससे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का गहन दार्शनिक और साहित्यिक मर्म उद्घाटित हुआ।

जिस समय 'अभिनवगुप्त' पर एक ओर डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय कार्य कर रहे थे, लगभग उसी समय इटली में R. Gnoli ने भी The Aesthetic experience According to Abhinavagupta नाम से अभिनवगुप्त, के आध्यात्मिक अनुभूति सम्बन्धी विचारों का अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्यापरक तुलनात्मक अध्ययन टिप्पणियों के साथ रोमन अक्षरों में मूल पाठ को प्रस्तुत किया। R.Gnoli ने बड़े ही व्यवस्थित एवं तर्क पूर्ण रीति से अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्त के दार्शनिक तथ्यों का विवेचन J.L.Masson और M.V. Patwardhan ने अपनी पुस्तक - Śantarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics और Aesthetic rapture Vol.I.II

में किया है। अभिनवभारती और लोचन से शान्त रस सम्बन्धित अंश को भी अपने ग्रन्थ Śantarasa and Abhinavgupta's Philosophy of Aesthetics में उन्होंने उद्धृत किया है।

उपर्युक्त दर्शन सम्बन्धित सभी ग्रन्थों से अभिनवगुप्त के शैव-दर्शन को पूर्ण तथा अवगत करने में बहुत सहायता मिली।

डा० नगेन्द्र ने - रस सिद्धान्त(१९६४) में रस विषयक विभिन्न तथ्यों पर विचार किया है। साथ ही उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में दोष भी दिखाए हैं। इस दिशा में डा० नगेन्द्र का यह प्रथम प्रयास है। भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक एवं भट्टनायक के पक्ष में उन्होंने अनेक तर्क उपस्थित किए हैं।[१] डा० नगेन्द्र ने आलोचना मात्र की है उन विशेष स्थलों का निर्देश नहीं किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त वैमत्य रखते हैं।

श्रद्धेय गुरुवर्य डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल का लेख - What Ānandvardhan Meant by Dhvani जो The Journal of the Gangānath Jhā Research Institute के Nov.1965-Feb.1966 के Vol XXII में प्रकाशित हुआ था, वह प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बहुत सहायक हुआ। उन्होंने उन प्रमुख स्थलों पर निर्देश किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त का वैमत्य हो जाता है।

डा० मुकुन्द माधव शर्मा ने अपनी पुस्तक The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics1968 में स्थान स्थान पर अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों का संकेत किया है। प्रस्तुत पुस्तक हमारे शोध कार्य में विशेष उपयोगी रही है। मैं इसके लिए उस ग्रन्थ तथा उसके विद्वान मनीषी लेखक के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूं।

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों की ओर संकेत किया है। डा० द्विवेदी का मुख्य लक्ष्य तो आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करना था। अत: ध्वन्यालोक के सिद्धान्त को उन्होंने सर्वथा शुद्ध रूप में, लोचन से सर्वथा अछूता रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। उन्हें जहां लोचन में स्वतंत्र मत मिले उसे उन्होंने फुटनोट में रख दिया है। डा० द्विवेदी ने प्रारम्भ में ही एक अपील की है।

१- रस सिद्धान्त पृ० १७७।

अनुरोध :

ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करें । इसके लिए वे लोचन पर निर्भर न रहें ।[१]

डा० द्विवेदी का यह अनुरोध हमें शोध कार्य में निरन्तर चेतावनी देता रहा है । यही निर्देश पूज्य गुरुवर्य डा० अम्बिकाप्रसाद शुक्ल जी ने भी हमें शोध कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व दिया था ।

किन्तु, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी जी जिन्होंने स्वयं अध्येताओं को 'लोचन' के प्रति सतर्क किया है वह एक स्थल पर स्वयं स्खलित हो गए, लिखते हैं ध्वनि के तीन भेद हैं- वस्तु, अलंकार एवं रस[२] इत्यादि । वस्तुत: यह भेद ध्वनि का नहीं वरन् प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ का है । इस तथ्य का विवेचन इस प्रबन्ध भाग में यथास्थान करेंगे ।

इन कृतियों के अतिरिक्त Dr.R.C.Dwivedi की पुस्तक Principles of literary Criticism in Sanskrit. 1969 K.K.Krishnamoorthy की Essays in Sanskrit criticism और Dhvanyaloka and its critics डा० निर्मला जैन का रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, गुरुवर्य डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय का ध्वनि सम्प्रदाय विरोधी सिद्धान्त और उनकी मान्यतायें इत्यादि ग्रन्थ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में बहुत सहायक हुए हैं ।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक में स्थल-स्थल पर अपने स्वतंत्र मतों को गुप्त ढंग से निवेशित किया है - इस तथ्य की ओर कतिपय विद्वानों ने संकेत मात्र कर दिया है । किन्तु अभी तक किसी ने उसका विश्लेषण करके यह नहीं सिद्ध किया है कि किस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मत को गौण करके अपने मत को प्रधान बना दिया है, वे कौन से कतिपय तथ्य हैं जो ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त द्वारा बलात् आरोपित होकर स्वयं प्रधान बन गए हैं । इस सम्बन्ध में उन्हीं तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

संक्षेप में, प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य-लोचन का मूल्यांकन है, इसमें अभिनवगुप्त की व्याख्या पद्धति का तथा ध्वनिकार के सिद्धान्तों के साथ अभिनवगुप्त

१- आनन्दवर्धन पृ० ८८ २- आनन्दवर्धन पृ० ४३८

के वैमत्य का समालोचनात्मक अध्ययन है । पूर्व सूरियों द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चल कर मुझे वस्तुत: अधिक प्रयास न करना पड़ा । महाकवि कालिदास के शब्दों में -

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति:

(रघुवंश) ।

------:o:------

द्वितीय अध्याय

सिद्धान्त - पक्ष

ध्वन्यालोक में विषय-योजना :-

ध्वनि-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आनन्दवर्धन संस्कृत काव्य शास्त्र के एक क्रान्तिकारी, तत्त्वदर्शी आचार्य थे। तत्कालीन, क्रान्तिकारी के प्रति स्वभावतः यह लोक उदासीन ही नहीं, अपितु द्वेष रखता है। ध्वनिकार को भी ऐसी स्थिति का सामना अवश्य करना पड़ा होगा। इस तथ्य की पुष्टि उन्हीं की उक्तियों तथा उनके समकालिक मनोरथ नामक कवि के एक श्लोक से होती है।

ध्वनि सिद्धान्त सहृदयों के मध्य केवल चर्चा का विषय बना हुआ था। उसके स्वरूप का सिद्धान्त रूप में, किसी ग्रन्थ में प्रतिपादन नहीं हो पाया था। साथ ही उसके स्थिर सिद्धान्तों के अभाव में ध्वनि के प्रति मतवैभिन्न्य सर्वथा स्वाभाविक था। इसी कारण ध्वनिकार ने सहृदयों के मनःप्रीति के लिए ध्वनि के स्वरूप का ग्रन्थ रूप में प्रतिपादन का निश्चय किया।

१- न च तेषु कथंचिदपि सहृदयहृदयानुभविकत्वाभिलक्षणीयम्। ध्वन्या० १३

२- यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति ।
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ॥
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥ ध्वन्या० २६-२७

३- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ ध्वन्या० १।१

१- ध्वनि के विरोधी मतों का प्रस्ताव और उनका समाधान :-

आनन्दवर्धन ने ध्वनिस्वरूप प्रतिपादन के प्रसंग में भूमिका के रूप में ध्वनि विरोधियों को निम्नलिखित वर्गों में कल्पित किया -

क - अभाववादी

ख - भाक्तवादी

ग - अनिर्वचनीयतावादी

क- अभाववादी -

पूर्ववर्ती अलंकार, रीति, गुण आदि के समर्थक सभी आचार्य इस वर्ग में कल्पित किए गए। ये ध्वनि के साक्षात् विरोधी कहे गए हैं। यद्यपि इन्होंने कहीं स्पष्टतः ध्वनि का विरोध नहीं किया है। किन्तु, ध्वनि का उल्लेख ही न करना - इन्हें ध्वनि का अभाववादी मानने में पर्याप्त है। यदि ध्वनि की सत्ता उनके विचार से होती तो किसी न किसी प्रसंग में उसका वे उल्लेख अवश्य करते। क्योंकि इन्होंने ध्वनि का उल्लेख नहीं किया अतः आनन्दवर्धन ने उनकी गणना अभाववाद के अन्तर्गत की है। और इन अभाववादियों के विचारों को तीन रूप में प्रस्तुत किया, जो परस्पर एक दूसरे से पृथक: स्वतन्त्र विचार गए हैं।

पहले अभाववादी वे जो यह मानते हैं कि - काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रासादि शब्दालंकार होते हैं तथा अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमादि अर्थालंकार होते हैं। वर्णों के विशिष्ट विन्यास से होने वाले चमत्कार को माधुर्य आदि गुणों से पुकारा जाता है। इस प्रकार गुण और अलंकार में ही सारी चारुता का अन्तर्भाव हो जाता है। रीतियां और वृत्तियां भी गुणालंकार में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। क्योंकि, उद्भट के द्वारा बतायी गई उपनागरिका आदि वृत्तियां अनुप्रास की जातिरूप होने के कारण अनुप्रास अलंकार से अभिन्न हैं तथा वामन के द्वारा बतायी गई रीतियां गुण-विशिष्ट पदरचना रूप होने के कारण गुणों से अतिरिक्त नहीं हैं। अतः इनसे अतिरिक्त ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव नहीं।[१]

१- तत्र केचिदाचक्षीरन्- शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम् । तत्र च शब्दगताश्चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये - माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनाग-रिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । (शेष अंश अगले पृष्ठ पर)

दूसरे अभाववादी कहते हैं - काव्य से सम्बन्धित ध्वनि नामक कोई तत्त्व नहीं है । क्योंकि कथित भिन्न मार्ग से परम्परा से व्यवहार करते चले आ रहे हैं, वही काव्य का प्रसिद्ध प्रस्थान है । इससे व्यतिरिक्त प्रस्थान मानने पर काव्यत्व की हानि होगी । सहृदयों को आह्लादित करने वाला शब्दार्थ स्वरूप ही काव्य का लक्षण है । । इससे अतिरिक्त ध्वनि प्रस्थान असम्भव है । केवल कुछ सहृदयों के द्वारा ध्वनि को काव्य माना भी जाय तो वह सभी विद्वानों को मनोग्राही नहीं होगा ।

अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनके अनुसार ध्वनि चमत्कारी तत्त्व नहीं है ।

तीसरे अभाववादियों का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव नहीं है । क्योंकि, यदि ध्वनि कोई कमनीय काव्य तत्त्व है तो निश्चय ही उसका गुणालंकार में ~~है ही किसी का नाम बदल कर ध्वनि~~ अन्तर्भाव हो जायगा । और, यदि इन गुणालंकार में से ही किसी का नाम बदल कर ध्वनि नाम दे दिया जाए, तो यह कोई विशेष बात नहीं ।

और, फिर वाग्विकल्प के तो अनन्त प्रकार सम्भव हैं, अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के विषय में सब कुछ नहीं कह दिया । यदि उनकी सूक्ष्म बुद्धि से कुछ छूट भी गया हो तो उसे भी ध्वनि नाम से पुकारा जा सकता है । किन्तु, उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता । अन्य आचार्यों ने हजारों अलंकारों के भेद बताए हैं और बताते हैं, किन्तु उनकी ऐसी महात्म्यता की स्थिति नहीं सुनाई पड़ती । अतः ध्वनि प्रवाद मात्र है । अतः इसका कोई विचारयोग्य तत्त्व

पिछले पृष्ठ का शेष अंश- रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति । (ध्वन्या० १६-२०) ।

१- अन्ये ब्रूयुः - नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते । ध्वन्या० २१ ।

प्रकाशित नहीं किया जा सकता ।[1]

उक्त अभाववादियों को हम निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं -

१- ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में अभाव,

२- ध्वनि में चमत्कार या काव्यत्व तत्व का अभाव, तथा

३- ध्वनि में काव्यात्मता का अभाव ।

ख- भाक्तवाद -

भक्ति या लक्षणा में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले भाक्तवादी हैं । यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व किसी भी आलंकारिक ने ध्वनि शब्द का नाम लेकर उसे लक्षणागम्य नहीं कहा तथापि उन्होंने शब्द के अभिधेयार्थ से अतिरिक्त अर्थान्तर की सत्ता स्वीकार की है । ऐसे किसी आचार्य का नाम आनन्दवर्धन ने नहीं लिया है , किन्तु अभिनवगुप्त ने भामह, भट्टोद्भट, वामन आदि का नाम लिया है । भामह विवरणकार उद्भट मुख्य अभिधाव्यापार से अतिरिक्त गुणवृत्ति[2] को स्वीकार करते हैं । आचार्य वामन वक्रोक्ति अलंकार में सादृश्य - निमित्ता लक्षणा की सत्ता मानते हैं । किन्तु इस लक्षणा के अनन्तर प्रतीत होने वाले प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति के लिए उन्होंने ध्वनि व्यवहार नहीं किया। इससे ऐसा लगता है कि भामह ने अभिधेय अर्थ से अतिरिक्त अन्य अर्थों को अनुरूप अर्थ मानते थे और लक्षणा में ही उसी का अन्तर्भाव कर लेते थे । इसीलिए

१- पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः - न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात् ।

किंच वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित्काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र हेतुं न विद्मः । सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेषा दशा श्रूयते । तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः । न त्वस्य परीक्षणं तत्त्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं- शक्यम् । ध्व० पृ० २८-२९ ।

२- शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति भट्टोद्भटः-लो०पृ०३२

आनन्दवर्धन कहते हैं- लक्षणावादियों ने ध्वन्यर्थ (अमुख्यार्थ) की सत्ता स्वीकार कर ध्वनिविद्या का उन्मीलन तो किया किन्तु ध्वनि सत्ता को उचित नहीं किया । ध्वनिकार की यह सम्भावना सर्वथा स्वाभाविक है कि भाक्तवादी भाक्त अर्थ में ही ध्वनि का अन्तर्भाव कर देते हैं ।[1]

ग - अनिर्वचनीयतावादी -

इसके समर्थकों का मत है कि ध्वनि एक अनिर्वचनीय तत्त्व है । अर्थात् ध्वनि[2] का अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु निर्वचन नहीं किया जा सकता । इन लोगों ने ध्वनि को स्वीकार तो किया किन्तु, उसका लक्षण माना- शब्द अर्थ का सकल[3] जातिविशेष के समान विशिष्ट ज्ञाता द्वारा संवेद्य किन्तु अनाख्येय चारुत्व ।

आनन्दवर्धन के शब्दों में ये आलोचक या तो सुकुमार[4] हैं और लक्षण-निर्माण का जो कठोर कर्म है उसे करने में असमर्थ[5] हैं या फिर इन्हें गहन एवं सूक्ष्म वस्तु का विश्लेषण करना नहीं आता ।

१- भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः । यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् - भाक्तमाहुस्तमन्ये इति । ध्व० पृ० २८-३२ ।

२- केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । ध्व० पृ० ३३ ।

३- यत्र शब्दानामर्थानां च प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहारः इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित् । ध्व० पृ० ५१७-१८ ।

४- लक्षणकरणशालीनबुद्धयः - ध्व०पृ० ३३ ।

५- अनाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादमूलैव । ध्व० पृ० ५१८ ।

ध्वनि विरोधी मतों का समाधान -

पूर्वोक्त आक्षेपों का समाधान आनन्दवर्धन ने निम्न प्रकार से किया है -

अभाववादी -

अभाववादी वाच्यवाचकभाव में ही काव्य का सारा चमत्कार सीमित मानते हैं, किन्तु ध्वनिवादी की स्थिति इससे भिन्न है। वह तो ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ का सर्वथा उपसर्जन मानता है। अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ अपने को तथा वाचक शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर प्रतीयमान अर्थ को व्यंजित करते हैं वही ध्वनि है।[1] इससे उपमादि अलंकारों का ध्वनि से स्पष्ट पार्थक्य हो जाता है, क्योंकि उपमादि अर्थालंकार वाच्यार्थ के तथा अनुप्रासादि शब्दालंकार वाचक शब्द के ही चारुत्व हेतु होते हैं। इनसे ध्वनि का विषय भिन्न है।

दूसरे अभाववादियों का मत था - 'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति इति' (ध्व०पृ० ७४)। आनन्दवर्धन इसका उत्तर देते हुए कहते हैं - यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि काव्य लक्षणकारों के लिए भी केवल गुणालंकार रूप प्रस्थान ही प्रसिद्ध नहीं है वरन् इससे अतिरिक्त ध्वनि प्रस्थान भी है। यही ध्वनि तत्व सहृदयों को आस्वादित करने वाला, काव्यतत्व है। इससे अतिरिक्त चित्रकाव्य है।[2]

तृतीय अभाववादियों का मत था - 'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः इति'। (ध्व०पृ० १००)

आनन्दवर्धन इसका भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह भी असमीचीन है। क्योंकि वाच्यवाचकभाव पर आश्रित गुणालंकारों में व्यंग्यव्यंजकभाव पर आश्रित ध्वनि का कैसे अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्वहेतु अलंकार

१- द्र० ध्व० १।१३

२- द्र० ध्व० पृ० ७४-१००

आदि इस ध्वनि के अंगभूत हैं और ध्वनि अंगी रूप है ।[1]

आनन्दवर्धन ने ध्व० १।३ में ऐसे पदों का प्रयोग किया है जो तीनों प्रकार के अभाववाद के उत्तर रूप हैं जैसा कि इन्होंने स्वयं वृत्ति में कहा है -

तत्र ध्वनेरभाववादिनो भक्तिवादीत्यादि निराकृतमिति - उपसर्जनीकृत-स्वार्थौ इति ।[2]

इस पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि जिन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती उन अलंकारों में भले ही ध्वनि का अन्तर्भाव न हो किन्तु समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अपह्नुति आदि जिन अलंकारों में प्रतीयमान का चमत्कार स्पष्ट रूप से झलकता रहता है उनमें तो ध्वनि का अवश्य ही अन्तर्भाव माना जा सकता है ।[3]

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में आनन्दवर्धन कहते हैं - इनमें वाच्यार्थ अपने को गौण नहीं करता इसलिए इन्हें ध्वनि नहीं कहते । व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ही ध्वनि होती है । समासोक्ति आदि अलंकारों में व्यंग्य की स्फुट प्रतीति होती अवश्य है किन्तु उन स्थलों में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को ही उपस्कृत करने लगता है । वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण उसकी अलंकारों में गणना होती है । अतः वाच्यार्थ को गौण करके व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के अभाव के ही कारण समासोक्ति आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । यदि व्यंग्यार्थ प्रधान हो और वाच्यार्थ गौण हो तो समासोक्ति आदि अलंकारों में ध्वनि का नहीं, वरन् ध्वनि में ही समासोक्ति आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जायेगा । अर्थात् तब वे ध्वनि के प्रकार हो जायेंगे । इस प्रकार अभाववादियों के मत का समाधान किया ।

भाक्तवाद का समाधान-

भक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव मानने वाले भाक्त-वादियों का समाधान करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- ध्व० पृ० १०७

२- ध्व० पृ० १०८

३- ध्व०पृ० १०८

ध्वनि- भक्ति के साथ एकत्व प्राप्त नहीं कर सकती । क्योंकि जहाँ वाच्यवाचक का प्रतिपादन व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के लिए हो वहाँ ध्वनि होती है । और, भक्ति तो उपचार मात्र है ।

यदि भक्ति ,ध्वनि का लक्षण हो तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आ जाते ।

<u>अतिव्याप्ति दोष</u> - ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति सम्भव है यह अतिव्याप्ति है । जहाँ व्यंग्यकृत महत्सौष्ठव नहीं होता वहाँ भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द व्यापार द्वारा व्यवहार करते हैं यथा -

'परिम्लानं पीनस्तन' इत्यादि में 'कृशांग्याः सन्तापं वदति बिसिनी-पत्रशयनम्' में प्रयुक्त 'वदति' पद उपचरित है । यह 'प्रकटयति' के अर्थ में प्रयुक्त है । इस प्रकार का प्रयोग कभी ध्वनि का विषय नहीं होता । क्योंकि जो चारुत्व दूसरी उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यंजकता को धारण करने वाला ही शब्द ध्वनि का विषय होता है ।

उपर्युक्त उदाहृत विषय में 'वदति' पद उपचरित वृत्ति से अतिरिक्त शक्ति से सम्पन्न होने के कारण चारुत्व की व्यंजना का हेतु नहीं है । क्योंकि उसके स्थान पर 'प्रकटयति' रख दिया जाए तो कोई चारुत्व नहीं जाता । कभी कभी शब्द अपने विषय से अन्यत्र विषय में भी शब्द रूढ़ हो जाते हैं, जैसे लावण्यादि प्रयुक्त शब्द , वे ध्वनि के विषय नहीं होते । यदि उस प्रकार के विषय में कहीं ध्वनि का व्यवहार सम्भव होता भी है तो वह उस शब्द के द्वारा नहीं होता वरन् प्रकारान्तर से होता है ।

उपचारवृत्ति व्यंजकत्व का लक्षण बताते हैं -'जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहाँ (उस फल के बोधन में) शब्द स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ नहीं होता है ।'

क्योंकि चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के होने पर यदि शब्द की असमर्थता रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता होगी । परन्तु ऐसा नहीं होता है । इसी कारण इस प्रकार कहा गया -

'वाच्यार्थ के आधार पर गुणवृत्ति व्यवस्थित है, व्यंग्य जिसका एकमात्र मुख्य है, उस 'ध्वनि' का वह लक्षण कैसे हो सकता है? इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है।'

अव्याप्ति -

अपने लक्ष्य में अंश न होना अव्याप्ति है। विवक्षितान्यपर-वाच्य रूप ध्वनि भेद और अन्य बहुत से प्रकार भक्ति से व्याप्त नहीं हैं, अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है। 'भक्ति' ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है किन्तु भक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करना सर्वथा असम्भव है।

आनन्दवर्धन ने भक्ति के लिए गुणवृत्ति का प्रयोग किया है और भक्ति को 'उपचार' भी कहा है। अतः आनन्दवर्धन के मत में भक्ति, गुणवृत्ति, उपचारवृत्ति, लक्षणावृत्ति सभी पर्यायवाची शब्द हैं। तृतीय उद्योत में भी आनन्दवर्धन ने व्यंजकत्व और गौणत्व में स्वरूपतः और विषयतः भेदोपपादन किया है। सम्भवतः ध्वनिविरोधी भाक्तवादियों के लिए यह तर्क उपस्थित किए गए हैं। वस्तुतः भाक्तवादियों(लक्षणावादियों) को तब तक परास्त नहीं किया जा सकता जब तक लक्षणाशक्ति तथा व्यंजनाशक्ति की परस्पर भिन्नरूपता तथा भिन्नविषयता का सूक्ष्म विवेचन न हो जाय। इसी प्रसंग को ध्वनिकार ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उठाते हैं और विस्तृत सूक्ष्म और तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करते हैं। इसका विवेचन हम शब्दव्यापार के प्रसंग में करेंगे।

अनिर्वचनीयतावाद का समाधान -

ध्वनि के स्वरूप को अनिर्वचनीय बताने वालों का यदि यह अभिप्राय है कि ध्वनि का वाणी द्वारा निर्वचन नहीं हो सकता तो उसका ध्वनि सिद्धान्त का इतना विस्तृत विवेचन हो जाने से ही स्वतः खण्डन हो जाता है। और यदि अवर्णनीयता से उनका अभिप्राय ध्वनि की उत्कृष्टता सिद्ध करना है तो उनका कथन उचित प्रतीत होता है।[1]

१- द्रष्टव्य ध्व० पृ० १६२-१६३।

आनन्दवर्धन ने इसके अनिर्वचनीयतावादियों को दो वर्गों में बांटा है -[1]

(१) सहृदय, (२) दार्शनिक ।

[illegible] यदि कोई अलक्षणीयतावादी कहे कि - जिस प्रकार रत्न की उत्कृष्ट वास्तविकता केवल विशेषज्ञ द्वारा ज्ञेय होती है और उसका शब्दों द्वारा वर्णन असम्भव है उसी प्रकार काव्य में शब्द विशेष तथा अर्थ विशेष का चारुत्व केवल सहृदयसंवेद्य होने के कारण अवर्णनीय है । ऐसे ही काव्य को ध्वनि कहा जाता है ।[2]

आनन्दवर्धन उपर्युक्त तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं - 'ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि ध्वनि काव्य के शब्द स्वरूपतः अक्लिष्ट एवं श्रुतिमधुर होते हैं , अर्थात् वे माधुर्य या ओज की अनुभूति के विपरीत नहीं पड़ते और सामर्थ्य एवं सम्पूर्ण रूप से व्यापक रहते हैं । इन शब्दों में जो सामर्थ्य अभिव्यंजकता रहती है वह भी स्पष्ट और प्रकाशित रहती है, जिससे प्रतीयमान अर्थ का भी प्रतिपादन करने की क्षमता रह सकती है ।'[3]

और, ध्वनि काव्य के अर्थों की विशेषता हुआ करती है - 'इनका स्पष्ट रूप से प्रतीत होना, प्रमुख प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में प्रधान बनकर तत्पर रहना तथा स्वयं के भीतर अर्थान्तर व्यंग्य अर्थों को छिपाए रहना ।'[4]

अतः आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनिकाव्य के घटक शब्द और अर्थ में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं रहता जिसका निर्वचन सहृदयों द्वारा भी न किया जा सके ।

दार्शनिकों के अनिर्वचनीयतावाद को आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित तीन रूपों में प्रस्तुत किया है -

---

१- द्र० डा० देवप्रकाश द्विवेदी - आनन्दवर्धन पृ० २२७ ।

२- द्र० ध्व० पृ० ५६७-५६८ ।

३- शब्दानां स्वरूपाश्रयः (विशेषः) अक्लिष्टत्वे सत्यप्रसिद्धप्रयोगः
वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः । ध्व० पृ० ५६८ ।

४- अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यंग्यपरत्वं व्यंग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः ।
ध्व० पृ० ५६८ ।

(क) सर्वशब्दागोचरत्ववाद

(ख) सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्ववाद तथा[1]

(ग) अनिर्देश्यत्ववाद ।

(क) सर्वशब्दागोचरत्ववाद: ये इतने अधिक भावुक हैं कि ध्वनि को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसका शब्दों द्वारा निर्वचन करना असम्भव मानते हैं । आनन्दवर्धन इनके विषय में कहते हैं - ऐसी अनिर्वचनीयता तो प्रत्येक पदार्थ में रहती है , केवल ध्वनि में नहीं । चाहे कुछ भी तर्क किया जाय फिर भी अनिर्वचनीय पदार्थ को भी कम से कम अनिर्वचनीय शब्द से तो कहा ही जा सकता है ।[2]

(ख) सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्ववाद : इनके अनुसार जैसे वस्तु का जो बोध होता है उसमें वस्तु के सामान्य रूप का आभास होता है ,विशिष्ट रूप का नहीं - इस नियम के अनुसार ध्वनि काव्य का सामान्य रूप नहीं, उसका विशिष्ट रूप है । अत: शब्दों द्वारा उसका निर्वचन असम्भव है । जिस प्रकार शब्द रत्न के सामान्य रूप का ज्ञान करा सकता है उसकी विशेषता (क्वालिटी का नहीं) ।

आनन्दवर्धन कहते हैं- उपर्युक्त तर्क असंगत है क्योंकि काव्य और रत्न दोनों के ही स्वरूप की व्याख्या लक्षणकारों ने की है । यह सत्य है कि ध्वनि तत्त्व सर्वसंवेद्य नहीं होता ठीक वैसे ही जैसे रत्नों का जात्यत्व (क्वालिटी) । अत: व्यंजकत्व को भले ही सामान्यजन न समझ पाएं किन्तु जो सहृदय होते हैं वे उसे सहज ही ग्रहण कर लेते हैं । इस प्रकार ध्वनि में यदि कोई अभाव सिद्ध होता है , तो वह केवल सर्वजनसंवेद्यत्व का अभाव है, अत: इसमें यदि अनिर्वचनीयता का अभाव स्वीकार करना हो तो केवल साधारण जनों द्वारा असम्भव निर्वचनीयता

१- हि० ध्व० पृ० ५२६ ।

२- अनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित् सम्भवति । अन्ततो नाख्येयशब्देन - तस्याभिधानसम्भवात् । ध्व० पृ० ५२८-५२९ ।

रूप ही प्रमाण स्वीकार कर सकते हैं । इससे तो ध्वनि में निर्वचनीयता का आत्यन्तिक अभाव सिद्ध नहीं होता । आलोचकगण स्वयं उसका निर्वचन कर ही देते हैं ।[1]

(ग) अनिर्वचनीयतावाद -[2]

कुछ लोग बौद्धों के क्षणभंगवाद से प्रभावित होकर ध्वनि को भी घट पट आदि सभी पदार्थों के समान अनिर्वचनीय मानते हैं । वे लोग प्रत्येक वस्तु की सत्ता को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं । प्रत्येक पदार्थ नित्य परिवर्तनशील है अतः उसका लक्षण नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार ध्वनि भी है । किन्तु क्षणभंगवादी बौद्धों ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण बनाये हैं । यदि उनकी उपयोगिता है तो ध्वनि लक्षण की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं । बौद्धों के इस सिद्धान्त का परीक्षण ध्वनिकार ने विनिश्चय नामक बौद्ध ग्रन्थ की धर्मोत्तमा नामक टीका में किया है ।[3] फलतः ध्वनि का निर्वचन और उसका लक्षण दोनों सर्वथा सम्भव हैं । अतः अनिर्वचनीयतावादियों का यह मत कि जिस काव्य में अनाख्येय अंश भासित हो उसे ध्वनि कहते हैं - यह ध्वनि का लक्षण करना उचित नहीं ।[4]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी तीनों पक्षों अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का उपस्थापन करके उनका समाधान किया ।

२- वाच्य से पृथक व्यंग्य-अर्थ की सत्ता एवं महत्ता

काव्य में प्रयुक्त होने वाले वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से व्यंग्यार्थ(प्रतीयमानार्थ) का अधिक महत्त्व है । व्यंग्यार्थ का अधिक महत्त्व होने पर भी, व्यंग्यार्थ

१- डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी - आनन्दवर्धन - पृ० २३० ।

२- अनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणाविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं । ध्वन्या० पृ० ५२६ ।

३- ध्वन्या० पृ० ५२६ ।

४- अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः ।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ।। ध्वन्या० पृ० ५३० ।

से प्रति महावान् का वाच्यार्थ के लिए उसी प्रकार यत्न करते हैं जिस प्रकार आलोकार्थी दीपशिखा के लिए । क्योंकि, वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ बोध का अनिवार्य साधन है । जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थप्रतीति-पूर्विका होती है । किन्तु वाच्यार्थप्रतीति-पूर्वकत्व होने पर भी व्यंग्य -अर्थ का प्राधान्य व्याहृत नहीं होता । तथा जिस प्रकार पदार्थ स्वसामर्थ्य द्वारा वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी व्यापार-निष्पत्ति की स्थिति में विभक्त रूप से भासित नहीं होता उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदयों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में व्यंग्य-अर्थ का झटिति अव-भासित हो जाता है,उसमें वाच्यार्थ पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होता ।

यहाँ एक तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि आनन्दवर्धन ने (ध्व० १।१० में) कहा है - 'यथा हि पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीति-पूर्विका व्यंग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः' । यहाँ केवल उपमामात्र के कारण साम्य की विवक्षा है । वस्तुतः वाच्य-व्यंग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं होता । उसमें घटप्रदीपन्याय ही घटित होता है । क्योंकि व्यंग्यार्थ-प्रतीति के समय वाच्यार्थ-प्रतीति उसी प्रकार लुप्त नहीं होती ,जिस प्रकार घटप्रकाशन के अनन्तर प्रदीप की सत्ता ।[1] किन्तु पदार्थ वाक्यार्थ न्याय में ऐसा नहीं होता ।

आनन्दवर्धन ने वाच्य और व्यंग्य इन दोनों प्रकार के अर्थों में से व्यंग्य-अर्थ या प्रतीयमान-अर्थ पर ही अपनी अन्वीक्षिका टिकायी है । उसी का विवेचन करना प्रस्तुत प्रबंध का प्रयोजन है ।

<u>प्रतीयमान-अर्थ -</u>

प्रतीयमान-अर्थ या व्यंग्य-अर्थ तीन प्रकार के हैं - वस्तु, अलंकार एवं रसादि । यह ध्वनि काव्य का आत्मभूत तत्त्व है । इसके उचित एवं उचित सन्निवेश से काव्य में चारुत्व आ जाता है । इसलिए सभी सहृदयों द्वारा

१- तस्मात्घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वत् व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः ।
यत्तु प्रथमोद्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायत्वमात्रात्साम्यविवक्षया ।
ध्व० पृ० ४२९ ।

रमणीय तत्त्व है ।[1] इसलिए

महाकवियों की भी वाणी उस व्यंग्य-अर्थ का निष्यन्दन करती हुई[2] एवं अलौकिक प्रतिभा विशेष का स्फुरण करती हुई अभिव्यक्त होती है । इन कवियों की वाणी में निहित व्यंग्य-अर्थ वाच्य के प्रसिद्ध अंगों से अतिरिक्त एक अर्थ वस्तु ही है । जो उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार ललना में लावण्य ।[3] यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है ।[4]

<u>वाच्य से व्यंग्य का पार्थक्य -</u>

अर्थ का वह जो प्रतीयमान रूप है वह वाच्य से भिन्न होता है ।

(क) अर्थ कहीं वाच्य रूप में विध्यात्मक होता है तो प्रतीयमान रूप में निषेधात्मक । उदाहरणार्थ -

'हे धार्मिक ! आप अब निश्चिन्त होकर घूमिए । उस कुत्ते को गोदावरी तट के लतागहन में निवास करने वाले उन्मत्त सिंह ने आज मार डाला।'[5]

यहाँ 'घूमिए' क्रियापद है , वाच्य रूप में भ्रमणक्रिया का विधान किया जा रहा है । अतः यहाँ जो वाच्यार्थ है उसका प्रारम्भिक रूप विध्यात्मक है । किन्तु , वाक्य जिस परिस्थिति में कहा गया है उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है

१- काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सारूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः(व्यंग्यार्थः) इत्यादि । ध्व०लो० ४१-४६

२- ध्व० पृ० १।६

३- यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु । ध्व० पृ० ४६

४- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । - - -
सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् ।
तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान् । ध्व०लो० ४६-५२

५- ध्व० पृ० ५२ ।

यहाँ - प्रणयनिवेदन रूप - दूसरा ही अर्थ निकल रहा है, यही प्रतीयमान अर्थ है।
(ख) कहीं अर्थ का वाच्य रूप निषेधात्मक होता है और प्रतीयमान रूप विध्यात्मक यथा-

'मेरी बूढ़ी सास यहाँ सोती है, और यहाँ मैं। दिन में सब कुछ देख लो। हे पथिक! कहीं तुम हमारे बिछौने पर न गिर पड़ना, तुम्हें रात को रतौंधी भी आती है।'[1]

यहाँ जो वाच्यार्थ निकल रहा है वह निषेधात्मक है। किन्तु यह कथन जिसके द्वारा कहा गया है और जिस परिस्थिति में कहा गया है उससे कुछ और ही रहस्य निकल रहा है। नायिका निषेध के छल से पथिक को असमंजस और निश्चिन्तता के साथ अपने पास आने का संकेत कर रही है। यह प्रतीयमान अर्थ विध्यात्मक है।
(ग) कहीं वाच्य के विधि रूप होने पर व्यंग्य न विधिरूप तथा न निषेधरूप होता है।

'जाओ, उच्छ्वास और रुदन अकेली मुझे ही भोगने पड़ें। उसके वियोग में वह व्यथा मेरे साथ दाक्षिण्य के कारण आ जाने से तुम्हें भी न उठाने पड़ें।'[2]

यहाँ किसी नायिका का अपने ऐसे प्रिय के प्रति कथन है जो दूसरी से छिप कर प्रेम करता है और उसके पास से लौट कर आया है। यहाँ 'जाओ' रूप विध्यात्मक पद है जो विविध भाव प्रतीत हो रहा है वह न विध्यात्मक है और न निषेधात्मक। वह है अन्य नायिकासक्ति रूप।

(२) इसी प्रकार वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य न विधिरूप और न निषेध रूप होता है। यथा -

'मान जा, प्रसन्न हो जा, छोड़ दो। अरी तू तो अपनी मुखकान्ति से अंधकार समूह को दूर कर रही है। अरी अभागे, तू तो दूसरी अभिसारिकाओं को भी विघ्न में डाल रही है।'[3]

१- ध्व० व्या० पृ० ७८ ।

२- ध्व० व्या० पृ० ७३ ।

३- ध्व० व्या०पृ० ७८ ।

यहाँ ऊँट चढ़ने की बात कथननिषेधात्मक है । किन्तु इससे जो दूसरा अर्थ निकल रहा है वह न निषेधात्मक है और न विध्यात्मक । वह है चाटु-कर्म ।

(घ) कहीं कहीं वाच्यार्थ से विभिन्न विषय का अवस्थापित प्रतीयमान अर्थ होता है । यथा -

'प्रिया के क्षतयुक्त अधर को देखकर भला किसे रोष नहीं होता, मना करने पर भी भौंरे सहित कमल सूंघने वाली, अब तू उसका दुष्परिणाम भुगत ।'[1]

यहाँ वाच्यार्थ तो अविनीतवती के प्रति है परन्तु उपस्थित व्यक्तियों में कौन है ऐसा जो इससे निकलने वाले अर्थ से अछूता रह गया हो । नायक से कहा गया कि इसकी सखी साध्वी है । इसका अधर अन्य किसी कारण नहीं, अपितु भ्रमरदंश से फटा है । उपपति से कहा जा रहा है कि इस बार तो तुम्हारी इस प्रिया को किसी प्रकार बचाए लेती हूं, भविष्य में यदि ऐसा होगा तो अच्छा नहीं । सौतों और पड़ोसियों से कहा गया कि मेरे रहते तुम्हारी दुराशाएं पूरी नहीं हो सकतीं । मेरी सखी अब भी अपने पति की प्यारी रहेगी। स्वयं नायिका से भी कहा जा रहा है कि तुम निश्चिन्त रहो । तुम्हारा पति सपत्नियों के बीच तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेगा । मैं हूं तो तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । इसमें जो बात जिसको लक्ष्य करके कही जा रही है उसकी प्रतीति उस व्यक्ति विशेष तक ही सीमित है ।

ऊपर अर्थ के दो स्वरूपों का विवेचन हुआ - वाच्य और प्रतीयमान । इनमें से वाच्य से पृथक् व्यंग्य या प्रतीयमान की सत्ता देखी । अब उस प्रतीयमान के महत्त्व का प्रतिपादन करेंगे ।

<u>प्रतीयमान का महत्त्व :</u> आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करते हुए यथोचित विस्तृतता से उसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है । प्रतीयमान अर्थ के प्रतिपादन से काव्य में जो वैशिष्ट्य आ जाता है वह वाच्यार्थ या

१- ध्व० व्या० पृ० ७४-७७ ।

२- डा० [illegible]

शब्दार्थ द्वारा नहीं जा सकता । उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी प्रत्येक कवि में नहीं होती । वह वस्तु तत्त्व (प्रतीयमान्) अति अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों की वाणी में ही स्फुरित होता है ।[1] यह 'अर्थ' केवल शब्द और अर्थ के नियमों के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जा सकता वरन् काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वाले सहृदय सामाजिकों को ही अभिव्यक्त होता है ।[2]

इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ के बोधन की क्षमता, कोषों और व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द में नहीं होती । उसके लिए विशेष शब्द ही उपयुक्त होते हैं । उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्दों का चयन कोई महाकवि कर सकता है, जो काव्यार्थ मर्मज्ञ हो । अतः महाकवि को उसका प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए ।[3]

आनन्दवर्धन ने महाकवियों की कोटि में कालिदास आदि दो चार या पांच सब महाकवियों की गणना की है ।[4] कवि की महत्ता उपर्युक्त प्रतीयमान अर्थ की सृष्टि और तदनुरूप पदावली के चतुर, मधुर और ललित सन्निवेश में है । अतः व्यंग्य-व्यंजकभाव को काव्य में सुन्दर ढंग से उपनिबन्धित करने से ही कवियों को महाकवित्व का लाभ होता है, न कि वाच्यवाचक के रचनामात्र से ।

तथापि, महाकवि व्यंग्य-व्यंजक को प्रधान रूप से प्रतिपादित करने के पूर्व वाच्य-वाचक का ही उपपादन करते हैं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य में परस्पर साध्य-साधकी सम्बन्ध रहता है । जिस प्रकार आलोकार्थी उपायभूत दीपशिखा के लिए यत्न करता है[5] उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति सहृदय जन वाच्य अर्थ के प्रति यत्न करते हैं । किन्तु उस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के समय वाच्यार्थ की प्रतीति उसी प्रकार व्यवहृत नहीं होती, जिस प्रकार घट की प्रतीति के समय

१- ध्व० उद्यो० १।६ पृ०८१ ।

२- ध्व० उद्यो० १।७ पृ० ८२ ।

३- ध्व० उद्यो० १।८ पृ० ८७ ।

४- ध्व० उद्यो० पृ० ८१ ।

५- ध्व० उद्यो० १।६ पृ० ८८ ।

प्रतीप की । किन्तु वह प्रतीति इतनी शीघ्र होती है कि वह पृथक् रूप से लक्षित नहीं होती । इसीलिए कहा गया - वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदय जनों की तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि में झट से ही अवभासित हो जाता है।[1]

इस व्यंग्य अर्थ का सबसे प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि व्यंग्य अर्थ का आश्रय लेकर प्रतिभा सम्पन्न कविजन नित्य नवीन काव्य रचना करते रहते हैं । प्राचीन कवियों द्वारा निबद्ध अर्थ का संस्पर्श होने पर भी यदि उस अर्थ को व्यंग्य द्वारा विभूषित कर दिया जाता है तो उसमें नवत्व आ जाता है ।

काव्यभेद -

उपर्युक्त व्यंग्यार्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर काव्य के दो भेद किए गए -[2]

१- ध्वनि काव्य

२- गुणीभूतव्यंग्य काव्य

जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है, वहाँ 'ध्वनि-काव्य' होता है तथा जहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक चारुत्व होता है वहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य-काव्य' होता है।

आनन्दवर्धन के अनुसार ये ही दो वास्तविक काव्य-प्रकार हैं । शेष व्यंग्य से रहित काव्य-रचनाएं काव्य नहीं, काव्य का चित्र या चित्रकाव्य हैं । क्योंकि, उनमें व्यंग्य नाममात्र होता है । उनमें वाच्य-वाचक का ही चमत्कार[3] रहता है । आनन्दवर्धन इस प्रकार के काव्य को काव्यानुकृतिमात्र कहते हैं ।

१- हि० ध्व० १।१२ पृ० १०४ ।

२- व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता । ध्व० पृ० ५६६।

३- रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्य-वाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यं । काव्यानुकारो ह्यसौ । ध्व० पृ० ५६६ ।

ध्वनि काव्य :-

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में दूसरी कारिका से बारहवीं कारिका तक व्यंग्य-अर्थ का परिचय देने के पश्चात् आनन्दवर्धन ने (ध्व० १।१३ में) ध्वनि स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है -

'जहाँ वाच्य-अर्थ तथा वाचक-शब्द अपने को गौण करके प्रतीयमान या व्यंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं, विद्वज्जन उस काव्यविशेष को 'ध्वनि' कहते हैं।'[1]

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की केवल यही एक परिभाषा दी है और अपने ग्रन्थ में उसका केवल एक 'काव्यविशेष' के अर्थ में ही उल्लेख किया है। इस तथ्य की पुष्टि उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से होती है --[2]

१- व्यंग्य प्राधान्ये हि ध्वनिः ।

२- काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः ।[3]

३- ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ।[4]

४- ननु ध्वनिः काव्यविशेषः इत्युक्तम् ।[5]

५- व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो[6] य प्रतिपादितस्य
प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । इत्यादि ।

इस प्रकार ध्वनि को विद्वत् पुरुषों में विशिष्ट रूप से विवेचित होगा, वह काव्यविशेष है जो 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के अनुसार सामान्य काव्य में आत्मा रूप अर्थात् केवल अंश रूप से स्थित रहता है। जैसे 'निःशेषच्युत चन्दनं स्तनतटं' इत्यादि काव्य में 'अधम' पद में पदध्वनि है जो सम्पूर्ण काव्य का अभिन्न अंश

१- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। ध्व० १।१३

२- ध्व०पृ० १८८

३- ध्व० पृ० १३९

४- ध्व० पृ० १५८

५- ध्व० पृ० ३००

६- ध्व० पृ० १६३

अथवा आत्मा रूप है, इसी तरह अन्य ध्वनि भेद भी काव्य के भीतर विद्यमान होकर काव्य को उद्दीप्त अथवा सजीव करते हैं।

'ध्वनि एक काव्यविशेष है' - इस तथ्य को इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं - जिस प्रकार 'देवोद्यान' में 'कल्पवृक्ष'[1] एक वृक्षविशेष है। इस 'वृक्षविशेष' के ही कारण उसे 'विबुधोद्यान' इस विशिष्ट संज्ञा से विभूषित किया जाता है। अन्यथा वह उद्यान केवल वृक्षों का समूह मात्र होता। इसी प्रकार काव्य रूपी उद्यान में 'ध्वनि' एक कल्पवृक्ष सदृश 'काव्यविशेष' है। और इस काव्यविशेष का प्राणभूत तत्त्व व्यंग्य अर्थ है। जो उस काव्य में प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है।

ध्वनिभेद-

ध्वनिकार ने ध्वनि के भेदों का निरूपण दो प्रकार से किया है - व्यंग्यरूपेण और व्यंजकरूपेण। व्यंग्यरूपेण में - वस्तु, अलंकार एवं रसादि के आधार पर निरूपण हुआ है। और व्यंजकरूपेण में - व्यंजक के अनन्तप्रकार हैं। जैसे प्रबन्ध, वाक्य, पद, पदांश आदि व्यंजक होते हैं। आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में व्यंजकरूपेण निरूपण किया है। व्यंग्यमुखेन तथा व्यंजकमुखेन भेद निरूपण करना मानो ध्वनि काव्य का ही भेद निरूपण करना है।

ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद हैं -

(१) अविवक्षित वाच्य

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य[2]

अविवक्षितवाच्य ध्वनि वह है जहाँ वाच्यार्थ सर्वथा अनुपयुक्त (अविवक्षित) अथवा अन्यपरायण रहता है। इसे लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि यहाँ पर यह प्रयोजनवती लक्षणा के साथ प्रयुक्त होती है। लक्षणा भी उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा रूप से प्रयुक्त होती है। इन्हीं दो भेदों के आधार

१- काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥ ध्वन्या० ४।१७

~~[illegible]~~

२- वाच्यध्वनिः स च अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । ध्व० १।१३ की वृत्ति ।

पर अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद होते हैं -

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

(२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

<u>अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य</u> - इसे कहते हैं जहां वाच्य अर्थ एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करता है। अतः आनन्दवर्धन ने इसे अर्थान्तरसंक्रमित कहा और इससे युक्त ध्वनि को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्य अर्थ का सर्वात्मना परित्याग हो जाता है। इसमें वाच्य अर्थ की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है तथा जो दूसरा अर्थ आता है वह लक्षणा नामक शब्दव्यापार से आता है। उसे वाच्य नहीं, लक्ष्य कहा जा सकता है। इसे ही अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहा गया है।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद हुए - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि। ये दोनों भेद कहीं एक पद से प्रकाशित होते हैं और कहीं अनेक पदों से। अनेक पदों से प्रकाशित होने पर इन्हें वाक्य से प्रकाशित कहा जा सकता है। इस प्रकार इनके भी दो प्रकार हैं -

(१) पदप्रकाश्य तथा

(२) वाक्यप्रकाश्य

<u>पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि</u>

यथा-

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना-
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

यहां रामोऽस्मि में राम पद का वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर राज्यनिर्वासित पितृमरणादि अनेक दुःखों को झेलने वाले (राम) इस अर्थ में परिणत हो जाता है।

<u>वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि</u>

यथा -

विषमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः॥(ध्वन्या० ३२६)

अर्थात् धन वही है, जब किसी के लिए मित्र बन जाता है, किसी के लिए शत्रु, किसी के लिए मित्र और शत्रु दोनों और किसी के लिए न मित्र न शत्रु ।

यहाँ मित्र और शत्रु का बारम्बार प्रयुक्त किए जा रहे हैं किन्तु उनका मुख्यार्थ यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है वरन् क्रमशः दुःख और सुख रूप संक्रमित वाच्य वाले मित्र और शत्रु शब्दों से व्यवहार है, इस प्रकार यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का उदाहरण है ।

पदप्रकाश्य अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि-

यथा- रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।।

यहाँ अन्ध तथा आदर्श दोनों में(अन्धत्व रूप) एक धर्मिनिष्ठत्व रूप अन्वय की सिद्धि न होने से अन्ध शब्द के वाच्यार्थ(दृष्टिहीन) का सर्वथा तिरस्कार कर दिया गया । तदनन्तर अन्धतुल्य अर्थ का बोध होता है, जिससे बिम्बप्रकाशना-भाव आदि अन्य अर्थ प्रतीत होते हैं । अतः यहाँ अन्ध पद अत्यन्त तिरस्कृत है ।

वाक्यप्रकाश्य अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

जब सारे संसार में रात्रि रहती है तब संयमी जागता है और जब सारा संसार जागता है तब संयमी के लिए रात्रि रहती है ।

यहाँ 'निशा' और 'जाग्रति' के क्रमशः वाच्यार्थ-प्रकाशाभाव और निद्राभाव का आत्यन्तिक तिरस्कार हो जाता है तथा क्रमशः तत्त्वपराङ्मुखता तथा तत्त्व-ज्ञानशील प्रतीत होते हैं । क्योंकि यहाँ दो बार प्रयुक्त निशा और जागर्ति पदों से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । अतः यह वाक्यप्रकाश्य अत्यन्तातिरस्कृतवाच्य ध्वनि का स्थल है ।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि का प्रतिपादन किया गया । इसमें चार भेद हुए -

१- पदप्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि ।

२- वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि ।

३- पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

४- वाक्यप्रकाश्य अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

<u>विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि :</u> उसे कहते हैं जिसमें वाच्य विवक्षित (वाच्य वाचक केवल रूप से अथवा अन्यपरक) होता हुआ भी व्यंग्यनिष्ठ होता है । इसे अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं । [redacted] इसके दो भेद हैं[1] । :-

(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य.

(२) अनुरणनोपम व्यंग्य(संलक्ष्यक्रमव्यंग्य)

<u>असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-</u>

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में रसादि अंगी रूप से स्थित होते हैं ।[2] रसादि रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के अनन्तर होती है,अतः वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति में क्रम तो रहता है किन्तु, अतिशीघ्रता के कारण शतपत्रदल-भेदन्याय से वह लक्षित नहीं होता । इसी कारण इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा है जाता है ।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का केवल एक भेद रसादि है । रसादि में रस,भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावशान्ति आदि का ग्रहण होता है । ध्वनि के आत्मभूत रसादि के अंगी रूप से भासित होने पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि होती है । अन्यथा रसादि अलंकार के अंग होने पर और अर्थान्तर के वाच्यार्थ होकर प्रधान होने पर रसादि अलंकार होते हैं ।[3] अतः ध्वनि का

१- असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
 विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।। ध्व० २।२

२- असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
 विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ।। ध्व० २।२ पृ० १७४

३- रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
 ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।। ध्व० २।३
 प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
 काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।। ध्व० २।५

और रसादि अलंकार का विषय असंलक्ष्यक्रम है। रसादि अलंकारों का विवेचन गुणीभूतव्यंग्य के प्रसंग में करेंगे।

<u>रसभेद-</u>

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रसों में से केवल शान्त तथा शृंगार रसों का ही विस्तृत विवेचन किया तथा अन्य रसों का संकेत कर छोड़ दिया। अतः यहाँ केवल शान्त एवं शृंगार रसों का विवेचन करेंगे।-

<u>शृंगार :</u>

आनन्दवर्धन ने शृंगार को सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो रूपों में विभक्त बतलाया है। सम्भोग के परस्पर प्रेमपूर्ण दर्शन, सुरत, विहार आदि अनेक प्रकार हैं। विप्रलम्भ के अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास नामक चार भेदों की गणना करके इसी प्रकार के अन्य भेदों को गतार्थ स्वीकार किया है।[1] रति को इसके स्थायी भाव के रूप में स्वीकारा[2] और माधुर्य को गुण रूप में। आनन्दवर्धन के मतानुसार यद्यपि 'माधुर्य' करुण में भी विद्यमान रहता है तथापि संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में एवं करुण में माधुर्य का[3] प्रकर्ष देखा जाता है। क्योंकि इनमें मन अधिक आर्द्रभाव प्राप्त करता है। शृंगार रस (विशेषतः विप्रलम्भ) इतना सुकुमार[4] होता है कि इसे किसी भी प्रकार की कठोरता सह्य नहीं होती। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष ध्वन्यात्मक शृंगार-

---

१- शृंगारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ - सम्भोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। ध्व० पृ० २२६

२- ध्व० ३।२८ की वृत्ति।

३- शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥ ध्व० २।७
शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥ २।८

४- विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः स्यात् ।ध्व०२।१५ की वृत्ति, पृ० २१७ और
ध्व० २।२८ ।

रस के लिए सर्वथा त्याज्य है ।[1] सर्व शृंगार के सभी प्रभेदों में एक प्रकार के अनुबन्ध रूप में प्रयुक्त अनुप्रास व्यंजक नहीं होता ।[2] उनके अनुसार शृंगार रस में शक्ति होने पर भी यमक का निबन्धन नहीं होना चाहिए ।[3]

ध्वनि में केवल उन्हीं अलंकारों को माना गया है,[4] जो बिना किसी यत्न के रसाक्षिप्त रूप में प्रयुक्त हों । जब रूपकादि अलंकारों का निबन्धन शृंगार में किया जाय तब उनकी विवक्षा रसपरत्वेन हो, कभी अंगी रूप से विवक्षा न हो । समय से ग्रहण हो और त्याग भी हो, बहुत दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो । यदि दूर तक निर्वाह हो गया हो तो उसे अंगरूप में ही रखना चाहिए । यही रूपक आदि अलंकारवर्ग के अंग होने का साधन है ।[5] इस प्रकार से ध्वनिनिबन्धनगत अलंकार रसाभिव्यक्ति का हेतु होता है ।[6] उपर्युक्त प्रकारों का अतिक्रमण और शक्ति की असावधानी से रसभंग हो जाता है। अतः रस-योजना में कवि को सर्वाधिक सावधान रहना चाहिए ।

शृंगार रस संसारी जनों के अनुभव का विषय होने के कारण, तथा सभी रसों की अपेक्षा अधिक कमनीय होने के कारण प्रधान है[8] और सकलजन-मनोहारी है । उसके अंगों का समावेश काव्य में अतिशय शोभादायक होता है।[9] यदि कवि इस रस से भावित होकर कविता करता है तो उसके काव्यजगत् का अणु-अणु रसमय हो उठता है ।[10] शृंगार-रस जैसे अंगों द्वारा उन्मुख किए जाने पर शिष्य लोग सुकुमार विनय के उपदेशों को ग्रहण कर लेते हैं ।[11] अतः उपदेश

१- ध्व० २।११ २- ध्व० २।१४ ३- ध्व० २।१५ ४- ध्व० २।१६

५- ध्व० २।१८,१९ ।

६,७- ध्वन्युक्तनिबन्धनगतोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभंगहेतुः सम्पद्यते । ध्व० पृ० २३३

८- शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः । ध्व० पृ० २२७ ध्व० ३।२९ की वृत्ति ।

९- शृंगारस्य समस्तजनमनोहराभिरामत्वात्तदंगसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्णाति । ध्व० पृ० २२६ ।

१०- ध्व० पृ० २२८ ।

११- शृंगाररसांगैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । ध्व० पृ० २२८, ध्व० ३।३० की वृत्ति ।

के लिए यह एक उत्तम माध्यम है ।

इसीलिए आनन्दवर्धन कहते हैं - यमकादि अलंकारों का जो रसादि विषय के व्यंजकत्व में लक्षण का प्रकार दिखाया है, उसका अनुसरण करता हुआ, और स्वयं अन्य लक्षण का उत्प्रेक्षण करता हुआ, प्रतिभाशाली कवि यदि अलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के अन्यतम अंगि रस ध्वन्यात्मभूत[1] शृंगार रस का उपनिबन्धन करता है तो उसे महान आत्मलाभ होता है ।

शान्त :

शान्त रस शान्त होते हुए भी विद्वानों को बहुत अशान्त करता रहा । अनेक आचार्यों में शान्त रस के विषय में मतभेद है । किन्तु आनन्दवर्धन ने शान्त रस को स्वीकार किया है ।[2] और उसका स्थायी भाव तृष्णाक्षयसुख ~~[illegible]~~ माना है । यह एक ऐसा सुख है जिसे[3] कामसुख और दिव्य महान् सुख भी उसकी सोलहवीं कला भी नहीं पाते । यदि इस शान्त रस का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता तो इतने से उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उसका अनुभव अलौकिक सामान्य महापुरुषों के चित्तवृत्तिविशेष में होता है । कुछ विद्वान वीररस में ही शान्त का अन्तर्भाव करके, शान्त का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते । किन्तु यह सर्वथा अनुचित है । वीर रस में शान्त रस का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वीर रस अभिमानमूलक होता है और शान्त रस में अहंकार का प्रशमन रहता है । दोनों परस्पर भिन्न हैं । जहाँ तक दयावीर का सम्बन्ध है उसमें चित्तवृत्ति विशेषों के सर्वथा अहंकार रहित होने के कारण, वह शान्त रस का ही एक प्रभेद हो सकता है । न कि वीर में ही शान्त का अन्तर्भाव । वीर और शान्त के सर्वथा भिन्न रहते भी यदि शान्त का अन्तर्भाव वीर में करना अभीष्ट हो तो वीर[4] और रौद्र में भी इसी प्रकार की अव्यवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा ।

१- ध्वन्या० २।१६ की वृत्ति पृ० २३३-२३४ २- ध्वन्या० पृ० ३८०
३- ध्वन्यालो० ३८० । ४- ध्वन्यालो० ३८१ । ५-
६- ध्वन्या० पृ० ३८३-३८४ ।

महाभारत के इसी शान्त रस को किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि इसमें शास्त्रीय दृष्टि से मोक्ष रूप एक अन्तिम पुरुषार्थ विवक्षित है और काव्यदृष्टि से[1] तृष्णा-क्षय सुख का परिपोष रूप शान्त रस अंगी रूपेण विवक्षित है । इस निगूढ़ एवं रमणीयार्थ का प्रतिपादन स्वयं कविवेधा कृष्णद्वैपायन[2] (व्यास) ने महाभारत के अन्त में हरिवंशवर्णन की समाप्ति करते हुए किया है ।[3] संसार का वर्णन तो पूर्वपक्ष के रूप में वर्णित हुआ है , मुख्यत: उसका उद्देश्य संसारातीत तत्व का निरूपण है । इसमें देवताओं, तीर्थों और तप आदि के अतिशय प्रभाव का जो वर्णन परब्रह्म की प्राप्ति का ही उपाय है । क्योंकि देवताओं को परब्रह्म का ही एक अंश बताया गया है । पाण्डवों की कथा के वर्णन का तात्पर्य भी लोगों के मन में वैराग्य उत्पन्न करना है । यही 'वैराग्य' मोक्ष का मूल है । भगवत्प्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्ति होने के कारण, मुख्यरूप से श्रीमद्भगवद्गीता में भगवत्प्राप्ति का उपाय बताया गया है । भगवान् की जो प्राप्ति है वही परमेश्वरा परब्रह्म की ही प्राप्ति है । और वासुदेव नाम से जिन भगवान् का इसमें चरित्र वर्णित है , वह भी परब्रह्म ही है, क्योंकि गीता में उन्हें अपरिमित शक्ति का स्थान एवं परात्पर ब्रह्म रूप में प्रस्तुत किया गया है । वह केवल मथुरा में प्रादुर्भूत कृष्ण ही नहीं, परन्तु परब्रह्म स्वरूप विवक्षित हैं । इसीलिए उन्हें व्यास ने सनातन भी कहा है । सनातन वह अभिधा है जिससे भगवान् के सभी रूपों का बोध मिलता है । इसीलिए रामायण आदि में भगवान् की अन्य मूर्तियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अत: यह निश्चित है कि महाभारत में भगवान् से भिन्न प्रत्येक पदार्थ को अनित्य सिद्ध कर पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष और रस के रूप में शान्त की प्रतिष्ठा की गई है ।

१- ध्व० ४।५ की वृत्ति पृ० ५३३ ।

२- ध्व० पृ० ५३२ ।

३- पू० ध्व० पृ० ५३२-५३३ ।

वस्तुतः इस तत्त्व तक साधारण अध्येता प्रयास से नहीं पहुंच पाता क्योंकि इस शान्तरस तत्त्व का वाच्य रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि यह शान्तरस अर्थ इस ग्रन्थ से अनभिधेय रूप से प्रकाशित होकर विशेष शोभा धारण करता[1] है । इसीलिए उस महाकवि ने इस तत्त्व को व्यंग्य रूप में निहित किया है ।

अतः निष्कर्ष यह कि शान्त रस भी एक रस है और उसका स्थायीभाव तृष्णाक्षयसुख है ।

रसप्रकाशक – आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस के व्यंजक रूप में वर्ण, पदादि, वाक्य, संघटना तथा प्रबन्ध को स्वीकार किया है । पदादि में आदि पद का अर्थ आनन्दवर्धन के अनुसार पदावयव, पदैकदेश अथवा पदांश है । इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार रसों के प्रकाशक ६ होते हैं :-

१- वर्ण
२- पदादि
३- पदावयव
४- वाक्य
५- संघटना तथा
६- प्रबन्ध[2]

१- वर्ण प्रकाश्य रस – कुछ वर्ण, विशेष रसों के लिए बाधक होते हैं । इन वर्णों के प्रयुक्त हो जाने पर रस पोषित नहीं होता जैसे श, ष, रेफ के साथ संयोग तथा 'ढ' श्रृंगार रस के विरोधी हैं, किन्तु ये ही वर्ण बीभत्स रस के लिए उपयोगी होते हैं ।[3]

१- ध्व० पृ० ४३३ ।
२- यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ।। ध्व० ३।२
३- शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा ।
विरोधिनः स्युः श्रृंगारे तेन वर्णा रसच्युतः ।।
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा ।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ।। ध्व० ३।३-४

आनन्दवर्धन ने इसका उदाहरण नहीं दिया है केवल इतना कहा है कि 'श्लोक-द्वय से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा वर्णों का द्योतकत्व ज्ञात हो जायेगा'।[1] इसके बाद पद द्वारा रस द्योतन का इन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किया है।

२- <u>पदप्रकाश्य रस</u> - 'तापसवत्सराज' नाटक में वासवदत्ता के वन जाने का समाचार सुनकर वत्सराज कहता है -

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥[2]

यहाँ 'ते' पद से नायक के हृदय की मदनमय रति, श्रृंगार रस की स्फुरणता से व्यक्त कर रही है।

३- <u>पदावयवप्रकाश्य रस</u>-

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य
बाष्पं मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्र त्रिभागः[3]

यहाँ 'त्रिभागः' पद में रसादि व्यंजकता है।[4]

४- <u>वाक्यप्रकाश्य रस</u> - वाक्य दो प्रकार से रस को प्रकाशित करता है -

(१) शुद्ध जहाँ तु अलंकार रहित और[5]
(२) संकीर्ण जहाँ तु अलंकारयुक्त

इनमें से प्रथम का उदाहरण रामाभ्युदय का है :-

१- ध्व० पृ० १०३
२- ध्व०पृ० १०४
३- ध्व० पृ० १०५
४- ध्व०पृ० १०५-१०७
५- ध्व० पृ० १०७

कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानां कैश्चिदकिशोरैर्
कलमपि मया यस्य प्रीत्या कृपापि तवाम्भसा
नव कमल-श्यामा: यस्तु प्रियो नवीं प्रिया
कठिनहृदयो पीडयन्नेव प्रिये च तव प्रियः ॥

यहाँ पूरा वाक्य ही राम और सीता के परस्पर अनुराग को परिपुष्ट करता हुआ, इस प्रकार से उत्कृष्ट रसतत्त्व को प्रकाशित करता है।[१]

दूसरे अलंकारान्तरसंकीर्ण का उदाहरण :-

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः
नयन-नलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥

यहाँ आरम्भ में 'स्मररूपी नवीन नदीपूर' इस अंश में और 'नयन-नलिनी-नाल' तथा 'गुरुसेतु' में रूपकालंकार है। तथा वे अपूर्ण मनोरथ हैं। अतः वे दूर से ही रस पान कर रहे हैं, - इस प्रकार यहाँ रसपान के प्रति अपूर्णमनोरथत्व हेतु है। अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। नलिनी नाल से रसपान चक्रवाक मिथुन करता है, जब वह रात्रिकाल में बिछुड़ जाता है। अतः यहाँ पर प्रिय और प्रिया के व्यवहार पर चक्रवाक और चक्रवाकी के व्यवहार का आरोप होने से यहाँ समासोक्ति अलंकार भी है। इस प्रकार यह पूरा पद्य अलंकार-युक्त है। ये सभी अलंकार यहाँ नायकनायिका के परस्पर व्यक्त रतिनामक स्थायी भाव का परिपोष करते और विप्रलम्भ-शृंगार की अनुभूति कराते हैं। यह वाक्यप्रकाश्य रस का विवेचन हुआ।

अभिनवगुप्त ने यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित किया है कि वर्ण, पद और वाक्य रस प्रकाशक नहीं हो सकते, क्योंकि रस वाक्यार्थ से ही प्रकाशित होता है और विभावादि सामग्री बिना वाक्यार्थ प्राप्त नहीं होती।

१- ध्वन्या० पृ० ३८८ ।

इसी प्रकार जहाँ वाक्य को प्रकाशक माना जाता है वहाँ पदादि की प्रकाशकता भी रहती है क्योंकि वाक्य बिना पद के नहीं बनता तथापि वहाँ पद में कोई व्यंजकता नहीं रहती । वहाँ कोई एक पद व्यंजक नहीं होता ,अपितु प्रायः सभी पद व्यंजक होते हैं इसलिए वैसा संघटनाविशेष के कारण वाक्य को व्यंजक या प्रकाशक कह दिया जाता है ।

५- <u>संघटनाप्रकाश्य रस</u> :

संघटना तीन प्रकार की कही गई है :-

१- असमासा
२- मध्यम समासा[1]
३- दीर्घ समासा[2]

संघटना के नियामक गुण हैं । गुणों के आधार पर ही यह निर्णय किया जाता है कि कहाँ कैसा समास अपेक्षित है । गुणों के ही आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि किस संघटना में कठोर वर्ण हों और किसमें कोमल । यदि माधुर्य की अभिव्यक्ति अपेक्षित है तो संघटना में चार वर्गों के पहले वर्ण मधुर और कोमल होंगे । ओज के लिए उसके वर्ण परुष होंगे । प्रसाद गुण में वर्णों की स्थिति दोनों प्रकार की हो सकती है । अतः संघटना के नियामक गुण ही हैं, और संघटना से रस की अभिव्यक्ति होती है । अतः संघटना[3] रस के व्यंजक होते हैं और संघटना के व्यंजकत्व हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य होता है ।

६- <u>प्रबन्धप्रकाश्य रस</u> -

रामायण और महाभारत इसके प्रसिद्ध प्रमाण हैं । प्रबन्ध के व्यंजक होने में निम्नलिखित तथ्य होने चाहिए -

विभाव, भाव, अनुभाव, संचारी के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक वृत्त अथवा उत्प्रेक्षित(कल्पित) कथाशरीर का निर्माण । इतिवृत्त में प्रतिकूल रस की स्थिति को छोड़ कर , कल्पना से बीच में अभीष्ट रस द्वारा उचित कथा का उन्नयन,सन्धि और सन्ध्यंग का योजन रसाभिव्यक्ति के अनुरूप होना चाहिए, न कि

१- ध्वन्या० ३।५ 　　 २- ध्वन्या० ३।६ की वृत्ति

३- ध्वन्यालो० ३/६

केवल शास्त्र की मर्यादा को अतिक्रमणपूर्वक सम्पन्न करने की इच्छा से ।अवसर पर रस का उद्दीपन और प्रशमन, तथा बीच में आरम्भ होकर विश्रान्त होते हुए अंगी रस का अनुसंधान, शक्ति होने पर भी अलंकारों का योजना अनुरूपता से करना चाहिए । अर्थात् काव्य निर्माण करते समय कवि को सर्वथा रस के अधीन होना चाहिए । और कथाशरीर इस प्रकार कल्पित करना चाहिए कि सब कुछ रसमय मालूम पड़े ।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में उक्त कुछ व्यंजकों के अतिरिक्त सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्ति, कृत्, तद्धित, समास और शब्द, निपात ,उपसर्ग, काल आदि भी व्यंजक होते हैं ।

जैसे -

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस:
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण:
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै: किमेभिर्भुजै: ॥

इस श्लोक में ~~केवल~~ उपर्युक्त सभी का व्यंजकत्व है । यहां 'मे यदरय:' से सुप् सम्बन्ध और वचन का अभिव्यंजकत्व है । 'तत्राप्यसौ तापस:' यहाँ तद्धित और निपात का व्यंजकत्व है । 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण:' यहाँ तिङ् और कारकशक्तियों का । 'धिग्धिक्छक्रजितं' इत्यादि श्लोकार्ध में कृत्,तद्धित,समास और उपसर्ग का व्यंजकत्व है ।

इस प्रकार से प्रचुर: व्यंजकत्व के घटित होने से काव्य की सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलित होती है । कहीं कहीं व्यंग्य को प्रकाशित करने वाले एक पद के रहने पर भी काव्य में बन्धच्छाया होती है । अत: प्रतिभाविहीन

१- ध्व० पृ० उद्योत ३।१०-१४ कारिका
२- कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् ।ध्व० पृ० ३३६
३- कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा ।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ।। ध्व० पृ० ३३४
४- सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभि:
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रम: क्वचित् ।। ध्व० ३।१६
५- ध्व० पृ० ३४८-३४९ ।

महात्माओं के इस प्रकार के चमत्कार अनेकशः देखे जाते हैं ।

ऊपर एक ही श्लोक में सब (सुप् आदि) का व्यंजकत्व प्रदर्शित किया गया । इसी प्रकार सब का पृथक्-पृथक् उदाहरण श्लोकों द्वारा भी व्यंजकत्व आनन्दवर्धन ने प्रदर्शित किया है । यहाँ उन सब उदाहरणों को नहीं दिया गया है ।

यहाँ तक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का निरूपण हुआ है । अब उसके दूसरे भेद अनुरणनोपमव्यंग्य (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) का आनन्दवर्धन के अनुसार विवेचन करेंगे ।

<u>अनुरणनोपमव्यंग्य ध्वनि</u> : इसमें वाच्य और व्यंग्य का क्रम उसी प्रकार लक्षित होता है जिस प्रकार घण्टा-रणन से अनुरणन का । इसी कारण ध्वनिकार इसे अनुस्वानसन्निभ कहते हैं । आनन्दवर्धन ने इस ध्वनि वर्ग को दो भागों में विभक्त किया है । :-

१- शब्दशक्तिमूलक[1]

२- अर्थशक्तिमूलक

<u>शब्दशक्तिमूलक अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि</u> : जहाँ शब्द अनुक्त (अवाच्यत्-अभिहित) अलंकार आक्षेप सामर्थ्य से ही शब्द शक्ति द्वारा प्रकाशित होता है, वह ~~[illegible]~~ शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि है ।[2] इसमें व्यंग्य-अर्थ के दो प्रकार के होते हैं - वस्तु और अलंकार । आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर्गत केवल अलंकार-व्यंग्य ही मानते हैं, वस्तु-व्यंग्य नहीं । उनके[3] अनुसार जहाँ वस्तु-द्वय का प्रकाशन होता है - वहाँ केवल शब्द श्लेष होता है ।

१- क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ ध्व० २।२०

२- आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ ध्व० २।२१

३- यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेष
ध्व० पृ० २३५

यहाँ प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार शब्दशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य को नहीं मानते ? उनके परवर्ती ध्वनिवादी आचार्य इसे स्वीकार करते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दशक्तिमूलक अनुस्वानोपम व्यंग्य में न केवल वस्तु अपितु अलंकार भी प्रकाशित होता है, किन्तु श्लेष में वस्त्वन्तरमात्र प्रकाशित होता है । 'येनध्वस्त मनोभवेन' में श्लेष इसी कारण है कि वहाँ दूसरा प्रकाश्यमान अर्थ केवल 'वस्तु-रूप' है । यदि, इसके साथ वहाँ अलंकार भी होता, तो वही ध्वनि का उदाहरण बन जाता ।

किन्तु, फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल में वस्तु-व्यंग्य को स्वीकार करते हैं तो उसका उदाहरण क्यों नहीं देते ? दूसरा तथ्य यह है कि 'आक्षिप्त एवालंकार:' में प्रयुक्त 'एव' पद केवल अलंकार-व्यंग्य की ओर संकेत करता है और इसी की वृत्ति में कहते हैं -'यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रम्' इत्यादि में स्पष्टतः 'न वस्तुमात्रम्' कह दिया है । यदि इन्हें अलंकार के साथ वस्तु-व्यंग्य भी अभीष्ट था तो 'यस्मादलंकारो' के बाद 'च' या 'अपि' जुड़ जाते ।

वस्तुतः आनन्दवर्धन अलंकार-व्यंग्य को इसलिए स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि इसमें किसी प्रकार की आपत्ति का अवसर नहीं है किन्तु वस्तु-व्यंग्य मान लेने पर, श्लेष विषयक अनेक विप्रतिपत्तियों की सम्भावना होने के कारण ही वस्तु-व्यंग्य को दबे स्वर में इस प्रकार कहते हैं -'यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं'-- इत्यादि । और इसके बाद श्लेष और शब्दशक्तिमूलक का भेद भी बताते हैं - जहाँ शब्द शक्ति से साक्षात् अलंकारान्तर वाच्य रूप से प्रतीत होता है, वह सब 'श्लेष' का विषय है। और जहाँ शब्द-शक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त एवं वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य ही अलंकारान्तर से प्रकाशित होता है, वह 'ध्वनि' का विषय है ।

यह सत्य है कि आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः यह नहीं कहा है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में वस्तु और अलंकार दोनों व्यंग्य होते हैं । हमारे विचार से आनन्दवर्धन केवल अलंकार पक्ष में ही हैं । किन्तु उनके परवर्ती आचार्य मम्मट ----------

विश्वनाथ, जगन्नाथ ने शब्दशक्तिमूला में वस्तु व्यंग्य को भी माना है।

शब्दशक्तिमूला ध्वनि में व्यंजक रूप से स्वीकार किया जाने वाला शब्द दो रूपों में व्यंजक होता है। १- पदरूप २- वाक्यरूप। इन दोनों प्रकार के व्यंजक शब्दों से जो अर्थ व्यंग्यार्थ रूप से युक्त है वह एकमात्र अलंकाररूप होता है। अतः इस ध्वनि के दो भेद बनते हैं -

१- पदप्रकाश्यालंकाररूपव्यंग्य[1] तथा

२- वाक्यप्रकाश्यालंकारव्यंग्य

१- <u>पदप्रकाश्यालंकारव्यंग्य</u> - इसका उदाहरण आनन्दवर्धन इस प्रकार देते हैं-

प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि ।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किं न जडः कृतोऽहम् ॥

यह एक ऐसे व्यक्ति का उद्गार है जो उदार है, किन्तु गरीबी के कारण दूसरों की इच्छा पूरी करने में असमर्थ है। अतः प्रस्तुत कथन में 'जडः' पद वक्ता ने अपने लिए प्रयुक्त किया है, किन्तु उसका सम्बन्ध कूप और तालाब के साथ भी प्रतीत होता है।
वक्ता कूप की निम्नता एवं शीतलता भी व्यक्त करना चाह रहा है। वक्ता के कथन से यह प्रतीत होता है कि उदार चेतन व्यक्ति की अपेक्षा अचेतन कूप श्रेष्ठ है, जो शीतल भी है और परोपकार में समर्थ भी।

सामान्यतः उदार व्यक्ति को प्रसन्न जलाशय का उपमान बताया जाता है। जब उपमान की अपेक्षा उपमेय उत्कृष्ट होता है तब व्यतिरेक नामक अलंकार माना जाता है। अतः यहाँ व्यतिरेकालंकार व्यक्त हो रहा है और यहाँ शीतलता रूपी जो अर्थ व्यक्त हो रहा है वह 'जडः' पद से। इस पद के हटाते ही यह अर्थ भी हट जाता है। अतः यह पदप्रकाश्यशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपा-लंकार ध्वनि का रूप है।

१- क्रियाविभक्त्यभिधेयस्यानुरणनरूपव्यंग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे, पदप्रकाशता (ध्व०पृ० २६६) ---- तस्यैव वाक्यप्रकाशता इत्यादि (ध्व०पृ०२६७)

२- वाक्यप्रकाश्य अलंकाररूप व्यंग्य -

इसका उदाहरण आनन्दवर्धन ने बाणभट्ट के हर्षचरित से प्रस्तुत किया है। राज्यवर्धन की हत्या हो जाने पर सेनापति सिंहनाद हर्षवर्धन के पास जाता है और कहता है :-

वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः ।

यहाँ महाप्रलय, धरणीधारण और शेष तीनों शब्द अनेकार्थक हैं। इस उदाहरण से जो प्रथम अर्थ निकल रहा है उससे महाप्रलय के समय शेषनाग द्वारा पृथ्वीपिण्ड को स्थिर बनाए रखने की बात भी निकलती है। किन्तु प्राकरणिक अर्थ है कि प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन के अभाव में प्रजापालन के लिए हर्षवर्धन का शेष रहना। यहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने पर यहाँ साम्य होने से उपमालंकार है। यहाँ रूपक अलंकार भी हो सकता है क्योंकि वह भी साम्यमूलक ही होता है और यहाँ शेषनाग का हर्षवर्धन पर आरोप प्रतीत होता है। यहाँ शब्द पर्यायासह होने के कारण यह शब्दशक्तिमूलक है और वाक्यप्रकाश्य है। इसमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति क्रम से होती है अतः अनुरणनोपम भी है अतः यह वाक्यप्रकाश्यशब्दशक्तिमूलानुरणनोपम-लंकारव्यंग्य का उदाहरण हुआ।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य अनुरणनरूपव्यंग्य के दो प्रकार- शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक हैं वह भी किन्हीं प्रबन्धों में द्योतित होते हैं - यथा - 'मधुमथन विजय' में पाञ्चजन्य की उक्तियों में। अथवा जैसे आनन्दवर्धन के 'विषमबाणलीला' में कामदेव के सहचर के समागम के प्रसंग में। और जैसे 'महाभारत' में गृध्रगोमायुसंवाद आदि प्रसंग में।

अभी यहाँ प्रबन्धप्रकाश्य, शब्दशक्तिमूल अनुस्वानोपम व्यंग्य के साथ ही अर्थशक्तिमूल अनुस्वानोपम व्यंग्य का भी उल्लेख कर दिया है। किन्तु फिर भी अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानोपम व्यंग्य के प्रसंग में प्रबन्धप्रकाश्य का पृथक् विवेचन करेंगे।

द्र० ध्व० ३।२१ और उसकी वृत्ति ।

<u>अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि</u> - जहाँ वाच्य अर्थ शब्द व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होती है।[1]

यह व्यंग्यार्थ की दृष्टि से दो भागों में विभक्त हो जाता है -

१- वस्तुव्यंग्य

२- अलंकारव्यंग्य

<u>१- वस्तु व्यंग्य</u> - व्यंजक की दृष्टि से इसके दो भेद हैं -

१- कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-निष्पन्न शरीर।

२- स्वतःसम्भवी[2]

व्यंजक दृष्टि से विभक्त कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न और स्वतः सम्भवी, पद और वाक्य प्रकाश्य भी होते हैं। इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं --

१- पदप्रकाश्य-प्रौढोक्तिमात्रसिद्धार्थमूलक वस्तुव्यंग्य

२- वाक्यप्रकाश्य-प्रौढोक्तिमात्रसिद्धार्थमूलक वस्तुव्यंग्य

३- पदप्रकाश्य-स्वतः संभव्यर्थमूलक वस्तु व्यंग्य तथा

४- वाक्यप्रकाश्य स्वतः संभव्यर्थमूलक वस्तुव्यंग्य[3]

इसमें एक भेद प्रबन्ध से भी भासित होता है, अतः इसके पाँच भेद हो जाते हैं[4]

<u>२- अलंकारव्यंग्य</u> - अलंकार व्यंग्य में केवल दो व्यंजक होते हैं।[5] :-

---

१- अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः॥ ध्व० २।२२

२- प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधः प्रोक्तो वस्तुनो न्यस्य दीपकः॥ ध्व० २।२४
अर्थशक्तेरलंकारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।
अनुस्वानोपमव्यंग्यः स प्रकारो परो ध्वनेः। ध्व० २।२५

३- पद और वाक्यप्रकाशता के लिए ध्वन्यालोक ३।१ की वृत्ति द्रष्टव्य है।

४- अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः। ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित्॥ ध्व० ३/१५.

५- केवलेन व्यंग्यार्थानामपि, अलंकाराणां द्वयी गतिः - कदाचिद्वस्तुमात्रेण-
व्यज्यन्ते कदाचिदलंकारेण।

१-वस्तु और २-अलंकार। अतः इसके केवल दो भेद बनते हैं -

(१) अलंकारद्वारालंकारव्यंग्य

(२) वस्तुद्वारालंकारव्यंग्य

अतः अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि में - वस्तुव्यंग्य के अन्तर्गत - ५ भेद और अलंकारव्यंग्य के अन्तर्गत २ भेद मिलाकर कुल ७ भेद होते हैं। इन सातों के उदाहरण भी आनन्दवर्धन ने दिए हैं -

१- कविकृतस्य प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थशक्त्युद्भववस्तुव्यंग्य -

यथा हरिविजय में -

चूअंकुरावअंसं छणप्पसर-महग्घमणहरसुरामोअं ।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छीमुहं ।।

यहाँ कुसुमशर (कामदेव) ने मधुलक्ष्मी के असमर्पित मुख को ग्रहण किया। इसमें बिना समर्पित किए ही इस अवस्था का अभिलाष करने वाला 'असमर्पित' पद अर्थशक्ति से कामदेव के बलात्कार-रूपी वस्तु को व्यक्त कर रहा है। यह अभिव्यक्ति जिस अर्थ से हो रही है वह कविकल्पित या उसकी प्रौढ़ उक्ति से निष्पन्न है।

यहाँ एक सम्भव आक्षेप है कि उपर्युक्त भेद को तो केवल वस्तुव्यंग्य के अन्तर्गत रख आए हैं और इसके उदाहरण में मधुमासलक्ष्मी को एक सुन्दरी के रूप में और कुसुमशर काम को रसिक युवक के रूप में चित्रित करने पर यहाँ समासोक्ति अलंकार माना जा सकता है। अतः यहाँ व्यंग्य अर्थ अलंकार रूप है।

फिर भी, इसका समाधान यह हो सकता है कि यहाँ अलंकार बिना प्रयत्न के स्वतः आ गया है। अतः कोई दोष नहीं। और इस पूरे श्लोक से जो अर्थ प्रतीत होता है उसमें 'असमर्पित' पद अधिक प्रमुख है अतः इसे उपर्युक्त ध्वनि भेद के उदाहरणार्थ रख सकते हैं।

२- पात्रकृतप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थशक्त्युद्भववस्तुव्यंग्य -

यथा -

१- ध्वन्या० २।२४ ।

'सज्जेदि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स सरे ॥

इसमें सुरभिमास बाणों को तैयार कर रहा है, किन्तु कामदेव को अर्पित नहीं कर रहा है - यह कविप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न है और यह वसन्तागम के अतिरिक्त कामोन्मादरूप वस्तु को व्यक्त कर रहा है। इसकी[1] प्रतीति में प्रत्येक पद वांछित है, अतः यह वाक्यप्रकाश्य का उदाहरण है।

आनन्दवर्धन ने इसी भेद में एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है -

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥ (ध्वन्या० २६६-२६८)

यह किसी अभिकाम्य युवक की उक्ति है। इसमें कथन है तुम्हारे जैसी चीज़ पाना बड़े भारी भाग्य की बात है, स्वयं तुम्हें पा लेना तो बहुत दूर है - यह वस्तुरूप प्रतीति वाक्यार्थ से व्यक्त हो रही है। यहाँ वाक्यार्थ से जो अभिधेय अर्थ प्रकट हो रहा है वह अतिशयोक्ति रूप है। और यहाँ प्रतीप अलंकार भी है क्योंकि बिम्बाफल अधर की उपमा माना जाता है किन्तु, यहाँ अधर को उपमान माना गया है और बिम्बफल को उपमेय। इसी व्यतिरेक से यहाँ प्रतीप अलंकार है। यह सब कविकल्पनाप्रसूत है।

इस ध्वनि भेद में जो पहला उदाहरण दिया था उसका वक्ता स्वयं कवि था अतः वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ था। इस दूसरे उदाहरण का वक्ता कवि द्वारा उपनिबद्ध कोई व्यक्ति है। अतः यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थ है। इसके आधार पर प्रौढोक्तिसिद्धार्थ से व्यंग्य व्यंग्य अर्थ की चर्वणा में कोई अतिशय नहीं आता। अतः आनन्दवर्धन ने इन दोनों को भेद नहीं माना है।[2]

३- पदप्रकाश्यस्वतःसम्भव्यलंकृतिव्यापितवस्तुव्यंग्य-

यथा-

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुण्हा ॥

१- ध्वन्या० २६८ ।

२- ध्वन्या० २।२४ की वृत्ति ।

यहाँ 'गृहिणीव्याजमनुगी' पद है जो वस्तु रूप व्यंग्यवस्तु की सुखक्रीड़ा में बाधित और व्यंग्य का औचित्य प्रतीत हो रहा है - यह स्वतः सम्भवी है । अतः यह पदप्रकाश्यस्वतःसम्भववस्तु व्यंग्य का उदाहरण है ।

४- वाक्यप्रकाश्यस्वतःसम्भववस्तुव्यंग्य -

सिहिपिच्छकण्णऊरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताहलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं ॥

अर्थात् मोरपंखों के कर्णफूल पहने व्याध की पत्नी मुक्ताफल के बने गहनों वाली सौतों के बीच गर्वीली होकर घूमती है ।

यहाँ वाक्यार्थ से मोर-पंखों के कर्णफूल वाली गर्वाभिमानिनी किसी व्याध पत्नी का अतिशय सौभाग्य प्रकाशित हो रहा है । वह व्याधपुत्र नववधू के साथ एकान्त सम्भोग में रत रहने के कारण केवल मोर मारने में ही समर्थ रह गया है । इसके अतिरिक्त, चिरपरिणीत मुक्ताफल के बने [illegible] गहनों वाली सौतों का दौर्भाग्यातिशय सूचित होता है । उस समय व्याध हाथियों का वध करने में [illegible] समर्थ रहता था और गजमुक्ताओं से उन्हें सुसज्जित करता था , यह वस्तु व्यंग्य है । यह अर्थ स्वतः सम्भवी है क्योंकि इसकी सिद्धि किसी कविकल्पना की आवश्यकता नहीं रखती । अतः यह वाक्यप्रकाश्यस्वतःसम्भववस्तुव्यंग्य का उदाहरण है ।

५- प्रबन्ध प्रकाश्यस्वतःसम्भव्यर्थशक्तिमूलकवस्तु व्यंग्य-

'महाभारत' के शान्तिपर्व के १५३ वें अध्याय में - मृतबालक को देखकर दिन में मांसभक्षण में समर्थ गिद्ध, उस बालक के सम्बन्धियों को बालक को छोड़कर घर लौट जाने की प्रेरणा करता हुआ कह रहा है -

~~[illegible]~~
अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

इसके विपरीत रात्रि में प्रेत उगने और गिद्ध आदि के विघ्नों से रहित निश्चिंत होकर भक्षण करने में शृगाल यह चाहता है कि ये लोग कुमारिक शव यहाँ छोड़ें, कुमारिक के शव द्वारा मुझे खाने को मिल जायेगा । अतः यह मृत बालक के सम्बन्धियों को फुसलाता हुआ कहता है -

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशंकिताः ॥[1]

इस प्रकार यहाँ गृध्र और शृगाल की उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ज्ञान और वैराग्य का उपदेश दे रहे हैं और दोनों मृत बालक के संबंधियों के बड़े हितैषी हैं किन्तु, उनका रहस्य तब ज्ञात होता जब ध्यान करते हैं - वे अपने स्वार्थवश ऐसा कह रहे हैं, वस्तुतः वे दोनों इस भक्षण से अपनी क्षुधा की तृप्ति करना चाहते हैं ।

इस प्रकार यह पूरा प्रकरण वाच्य रूप में शास्त्रीय ज्ञान प्रस्तुत करता है, किन्तु इससे वस्तुव्यंग्य ही रहा है - दोनों स्वार्थियों का स्वार्थ । गृध्र और शृगाल की उक्तियाँ प्रबन्ध से प्रकाशित और स्वतःसिद्ध हैं । अतः महाभारत का यह पूरा प्रकरण प्रबन्धप्रकाश्यस्वतःसम्भवीवस्तुव्यंग्यवस्तु व्यंग्य का स्थल है ।

६- अलंकारप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य -

रूपक

यथा -

प्राप्तावीरेण कल्पान्तपुरापि भवि तं मन्यसेऽहं विलम्ब्या-
न्निद्रामध्यस्य कुमारिकलकलतो नैव सम्भावयामि ।
वेतुं वन्नाति कुमः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वत्प्रयातै विचकामिति कथय ममाति कम्पः पयोधेः॥

१- पर्व पृ० ३१८१ की पुष्टि ।

अर्थात् जब इसे इसकी प्राप्ति हो गई है तब फिर यह क्यों मुझमें मन्थन करेगा ? बाडवाग्नि-रहित मन वाले इसकी निद्रा की भी सम्भावना नहीं की जा सकती है, क्या समस्त दीपमालाओं से युक्त यह पुनः सेतु बनायेगा ? इस प्रकार तुम्हारे आगमन पर विकल्पों की धारणा करता हुआ समुद्र का मन्थ प्रतीत हो रहा है ।

यहां वाच्य है सन्देह और उत्प्रेक्षा का संकर । इससे व्यक्त हो रहा है और पुरुषोत्तम पर विष्णु का आरोप और यह आरोप है रूपक अलंकार है। इस प्रकार यहां अलंकार से अलंकार की व्यंग्य हो रहा है ।

(२) आनन्दवर्धन ने रूपकालंकार व्यंग्य का एक और स्वरचित उदाहरण दिया है -

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥[1]

हे चंचल और आयत नेत्रों वाली सुन्दरि, तुम्हारे मुख के मुस्कान की लावण्य कान्ति से दिशाएं भर उठीं । इतने पर भी इस समुद्र में मनागपि क्षोभ(ज्वार) नहीं आया, निश्चय ही यह 'जडराशि' है ।[2]

यहां पर जलराशि में श्लेष है, संस्कृत में 'ड' और 'ल' श्रुतियों में अभेद माना जाता है । अतः 'जलराशि' शब्द का अर्थ होगा जड़ता की राशि । जिसमें तनिक भी सौन्दर्यबोध नहीं है । सर्वथा जड़ है । यह वाच्य अर्थ है । इससे व्यंग्य हो रहा है - मुख पर चन्द्रमा का आरोप यही रूपकालंकार है । अतः यह भी अलंकार से अलंकार व्यंग्य का उदाहरण है ।

३- उपमा-

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।[3]
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥

१- ध्व० पृ० २४९

२- ध्वन्या० २४१

३- ध्वन्या० २४२ ।

वीरों की दृष्टि प्रिया के कुंकुमारुण स्तनों पर उतनी नहीं रुकती जितनी सिन्दूर से भरे गजकुम्भों पर रुकती है ।

यहाँ प्रिया की अपेक्षा युद्ध कार्य में आकर्षकता का आधिक्य वाच्य है । यह व्यतिरेक अलंकार है । और स्तनकुम्भ और गजकुम्भ की तुलना प्रतीत हो रही है । यहाँ ~~तुलना हुई~~ उपमा की व्यंग्य है । अतः यहाँ भी अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य का रूप देखा जा सकता है ।

आनन्दवर्धन ने इसी प्रकार आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, श्लेष और यथासंख्य की प्रतीयमानता बतलाई है । और प्रत्येक के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं ।

७ <u>वस्तुप्रकाश्य अलंकार</u> व्यङ्ग्य -

यथा-

जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥

अर्थात् वन में निष्पत्र और कुब्ज वृक्ष भले ही बनना पड़े किन्तु मनुष्यलोक में त्यागी होते हुए भी दरिद्र न बनूं ।

यहाँ जो वाच्य अर्थ निकल रहा है उसमें कोई अलंकार नहीं है[1] । किन्तु वाच्यार्थ से यह प्रतीत हो रहा है कि वक्ता, मनुष्य होकर दरिद्र बनने की अपेक्षा दरिद्र वृक्ष बनना अधिक श्रेष्ठ समझता है । अतः यहाँ अलंकार रहित वाच्यार्थ से व्यतिरेक अलंकार व्यंजित हो रहा है । क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ में कोई अलंकार नहीं है अतः इसे वस्तुमात्र मानना होगा । अतः यहाँ वस्तुप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य है ।

इस 'अनुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि' में एक तथ्य विशेष रूप से अवधेय है कि उनमें से ही अलंकार व्यंग्य माने जा सकते हैं जिनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चारुत्वोत्कर्ष हो ।[2] यह चारुत्व मात्रा जब तो निश्चय ही अधिक रहेगी

१- अत्र वाच्यालंकारो न कश्चित् - लो० पृ० २००- यह अभिनवगुप्त का मत है ।
२- अलंकारान्तरव्यंग्यभावे ध्वन्यंगता भवेत् ।

जब वे अलंकार केवल वस्तु से व्यक्त होंगे, जैसे अभी ऊपर कहे गए 'वस्तुरूपालंकार-अलंकार' में।[1] क्योंकि इनमें काव्यत्व की निष्पत्ति भी अलंकार के आधार पर होगी। केवल वस्तु अपने आप में काव्य नहीं बन सकती। किन्तु अलंकार से अलंकार व्यंग्य के रूप में 'अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यंग्य' का अवसर[2] तभी होगा जब चारुत्वोत्कर्ष प्रधान रूप से प्रतीयमान[3] अलंकार में होगा। अन्यथा वह ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि अलंकारान्तर की प्रतीति में जहाँ वाच्य[4] का तत्परत्व भासित नहीं होता वह ध्वनि का विषय नहीं माना गया है। उदाहरणार्थ-

> चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
> हंसैः शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी॥[5]

अर्थात् चन्द्रकिरणों से रात्रि, कमल पुष्पों से कमलिनी, पुष्पगुच्छ से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गौरवान्वित की जाती है।

यहाँ पर निशा, नलिनी, लता, शारदशोभा, तथा काव्यकथा- इन प्रस्तुत पदार्थों का 'क्रियते गुर्वी' इस एक ही धर्म से अन्वय हो रहा है। अतः यहाँ वाच्य अलंकार- दीपक है। और जैसे चन्द्रकिरणों से रात्रि गौरवान्वित होती है उसी प्रकार कमलपुष्पों से कमलिनी। इस प्रकार रात्रि, लता, काव्यकथा आदि में समानता की प्रतीति भी हो रही है। यह समानता ही उपमा-अलंकार है। जो गम्यमान है, किन्तु उपमा-अलंकार के गम्यमान(व्यंग्य) होते हुए भी यहाँ वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ के प्रति चारुत्वोत्कर्ष नहीं है। वाच्यार्थ ही स्वयं प्रधान बन गया है। अतः यह ध्वनि का स्थल नहीं है। किसी भी अलंकार के व्यंग्य होते हुए भी यदि वह अप्रधान हो जाता है तो वह 'अलंकार'- ध्वनि काव्य की कोटि में नहीं आ सकता।

१- ध्व० ३।३६ और उसकी वृत्ति।

२- एवंविधेनालंकारविशेषरूपेण वाच्येनालंकारान्तरस्य व्यंग्यालंकारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः। ध्व० पृ० २८०-२८२

३- ध्व० २।२९, ४- ध्व० २।२८ ५- ध्व० पृ० २६०

यदि व्यंग्य अलंकार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान रूप से चारुत्वोत्कर्षक होता है तो वह ध्वनि काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। ध्वनि का कितना माहात्म्य है! जो अलंकार काव्य के शरीर - शब्द अर्थ के उपकरण मात्र होते हैं वे ही ध्वनि काव्यकोटि में आते ही काव्यात्मा बन जाते हैं।[1]

ये हुए अनुरणनोपम अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेद।

यहाँ तक ध्वनि भेदों का विवेचन हुआ अब गुणीभूत व्यंग्य काव्य का विवेचन करें।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य -

जब प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान रहता है और उससे वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष होता है तो वहाँ काव्य का अन्य प्रकार - गुणीभूतव्यंग्य होता है।[2]

यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य ध्वनिनिष्यन्दरूप है। क्योंकि इसमें भी प्रतीयमान का संस्पर्श रहता है। जिस काव्य को प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श का सौभाग्य नहीं मिलता, वह सहृदयों का चमत्कारि नहीं होता।[3] अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य में भी व्यंग्यार्थ रहता है किन्तु गौण रूप से।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के मध्य केवल चमत्कार परिणाम का ही अन्तर है, आकार का नहीं। इसलिए दोनों के भेदों में प्रायः समानता है।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेद :-

आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है :-

१- तिरस्कृतवाच्य

२- अतिरस्कृत वाच्य

१- शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥ ध्वन्या० २।२८

२- ध्वन्या० ३।३४ की वृत्ति

३- ध्वन्यालो० [illegible] ।

(१) <u>तिरस्कृतवाच्य :-</u>

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः।

इस पद्य में लावण्यसिन्धु किसी अद्भुत सुन्दरी को कहा जा रहा है, उत्पल उसके लोचनों को, चन्द्रमा उसके मुख को, द्विरदकुम्भ उसके स्तनों को, कदलीकाण्ड ऊरुओं को तथा मृणालदण्ड बाहुओं को। किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि सुन्दरी या उसके अंगों के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। परिणामतः लावण्यसिन्धु आदि पदों से निकलने वाले वाच्य-अर्थ का परित्याग करने पर सुन्दरी विषयक अर्थों की प्रतीति होती है। इस परिवर्तन से जो अर्थ प्रतीयमान अर्थ के रूप में निकल रहा है वह है - 'आकाशगंगा रूपी सिन्धु की अपेक्षा नायिका रूपी सिन्धु की उत्कृष्टता'। इसके साथ ही आकाशगंगा और नायिका रूपी सिन्धु के बीच व्यतिरेक भी है। क्योंकि आकाशगंगा में यदि चन्द्रमा रहता है तो प्रफुल्ल कमल नहीं, कमल चन्द्र को देखकर बन्द हो जाते हैं। किन्तु इस सुन्दरी रूपी सिन्धु में दोनों साथ साथ दिखाई दे रहे हैं। व्यतिरेक-अलंकार की प्रतीति यहाँ अतिशयोक्ति-अलंकार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ के रूप में ही हो रही है। व्यतिरेक रूपी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति 'केयमत्र' पद से हो रही है। और इससे जो चमत्कार निकल रहा है वह वाच्य-सिद्धि का ही अंग है। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ के ज्ञान से जो आनन्दबोध हो रहा है, वह अतिशयोक्ति से होने वाले वाच्यार्थ के ज्ञान से न कम है और न अधिक। इस प्रकार इस उक्ति में वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का चमत्कार मात्रा में समान है। व्यंग्य का चमत्कार, मात्रा में वाच्य के चमत्कार से अधिक नहीं है। अतः यह स्थल 'गुणीभूतव्यंग्यता' का है। और क्योंकि इसमें वाच्य अर्थ में परिवर्तन होता है अतः यह तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यंग्य का स्थल है।

(२) <u>अतिरस्कृत वाच्य :-</u> इसमें वाच्य अर्थ में परिवर्तन नहीं होता।

इसके दो भेद हैं :-

१- व्यङ्ग्य

(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य - इसके अन्तर्गत आनन्दवर्धन ने केवल रसादिअलंकार का ही प्रतिपादन किया है। आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' पद का अर्थ पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न रूप में किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसवत् शब्द का अर्थ किया था 'रस से युक्त'। किन्तु आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' शब्द का अर्थ 'रसतुल्य' किया। 'रसवत्' पद में प्राचीन आचार्यों ने मतुप् प्रत्यय माना था। आनन्दवर्धन ने तुल्यार्थक वति प्रत्यय माना। तुल्यार्थक वतिप्रत्यय से रसवत् शब्द की निष्पत्ति मानकर आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवत् के विषय में अपना नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा यद्यपि रस सदा प्रधान ही रहता है, किन्तु जब वह अप्रधान हो जाता है तब वह रस न कहलाकर रसादिअलंकार कहलाता है। क्योंकि वह दूसरे की शोभा बढ़ाता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः वह रस रस ही नहीं रहता। वह तो स्थायी भाव या संचारी भाव ही रहता है। केवल सामान्य भावों की अपेक्षा उस भाव की स्थिति कुछ अधिक पुष्ट रहती है। इसीलिए उसे रसादिअलंकार कह दिया जाता है। उदाहरणार्थ कोई कवि अपने आश्रयदाता से कहता है :-

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिरात् दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता, केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

इस पद में राजा की स्तुति प्रधान है। स्तुति में कवि राजा की चाटुकारिता कर रहा है, जिसमें शत्रुनारियों की करुणास्थिति अंग बन रही है, और अंगी है चाटुरूप प्रेयोऽलंकार। करुणास्थिति प्रेयोऽलंकार को पुष्ट कर रही है। करुण रस का स्थायी भाव- 'शोक' है। यहाँ शोक की स्थिति, सामान्य शोक की अपेक्षा अधिक प्रकृष्ट हो गई है, अतः उसे रस के समान या रसवत् कहा जा सकता है।

कभी-कभी अप्रधान रस के साथ अलंकार भी स्थित रहते हैं। यथा -

१- आनन्दवर्धन : पृ० २०३,२०४ ।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं ।
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

यहाँ त्रिपुर शत्रु (शिव जी) का प्रभावातिशय वाच्यार्थ (अंगी) है । और ज्वलनी के निकट बाण कामी के प्रति ईर्ष्या से चकित विप्रलम्भ तथा करुण अंग हैं । इन दोनों के साथ यहाँ श्लेषोपमानुप्राणित अलंकार भी है, क्योंकि अग्नि के सभी विशेषण कामी में लागू होते हैं और 'कामी के समान' इस प्रकार उपमा-प्रतिपादक शब्द भी यहाँ कथित हैं । इस प्रकार यहाँ श्लेषोपमानुप्राणित विप्रलम्भ और करुण शिव के प्रभावातिशय के प्रति अंग हैं । इन्हें यहाँ अलंकार या रसवदलंकार कहा जायगा ।[1]

रसवदलंकारखण्डन कतिपय आचार्यों का मत है कि रसवदलंकार वहीं होगा जहाँ चेतन वस्तु का वृत्तान्त होगा । यदि अचेतन वस्तु का वृत्तान्त हो तो उसे प्रधान नहीं होना चाहिए । रसात्मकता सर्वदा चेतनवस्तुवृत्तान्त में ही होनी चाहिए। यह तर्क कहाँ तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं ,जिनमें अचेतन की प्रधानता रहती है और रसवत्ता में कमी नहीं आती । यथा- विक्रमोर्वशीय में -

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

यह उक्ति , उर्वशी से वियुक्त पुरूरवा की है, जो अचेतन नदी को लक्ष्य करके कही गई है । इसमें अचेतन नदी की ही प्रधानता है ।

१- (१) ध्वन्या० पृ० २३६
(२) ध्वन्यालोक : पृ० २०६ ।

इसी प्रकार एक और उदाहरण है -

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

यह उक्ति भी उर्वशी के प्रति पुरूरवा की है । लता अचेतन वस्तु है और लता के रूप में उर्वशी का चित्रण किया गया है, इसी के कारण इसमें चारुत्व है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि रसवदलंकार में अचेतन वस्तुवृत्तान्त की प्रधानता रहने पर भी रसवत्ता में कमी नहीं आती ।

यहाँ तक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के गुणीभूतव्यंग्यत्व का प्रतिपादन किया गया । आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत केवल रसादिअलंकार के ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।

(ख) <u>अनुरणनोपमव्यंग्य</u> :

अनुरणनोपमव्यंग्य दो रूपों में गुणीभूत होता है -

(१) वस्तुरूप
(२) अलंकार रूप

(१) <u>वस्तु रूप गुणीभूतव्यंग्य</u> -

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा न तथापि समागमः ॥

यहाँ अंगी है वाच्यार्थ - सन्ध्या और दिवस की स्थिति तथा अंग है व्यंग्यार्थ-नायक और नायिका की स्थिति यहाँ समासोक्ति अलंकार है । समासोक्ति में अप्रस्तुत का वृत्तान्त इसी प्रकार अप्रधान और प्रस्तुतरूपी प्रधान की शोभा को बढ़ाने वाला होता है । यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त - समासोक्ति नामक अलंकार का उपादान है, स्वयं अलंकार नहीं, अतः वस्तु रूप है । इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत-वृत्तान्त व्यंग्य है किन्तु अप्रधान या गुणीभूत होकर ।

(२) अलंकार रूप गुणीभूतव्यंग्य -

आनन्दवर्धन ने इस वर्ग के लिए ऐसे ही उदाहरण दिए हैं जिनमें अलंकार भी व्यंग्य अलंकार से ही शोभित है । ऐसे स्थलों को उन्होंने तीन भागों में बांटा है -

(१) - वे स्थल जिनमें व्यंग्य रूप में कोई सामान्य अलंकार प्रतीत होता है, जैसे रूपक आदि में उपमा या सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति ।[1]

(२) - वे स्थल जिनमें कोई विशिष्ट अलंकार व्यंग्य होता है, जैसे व्याजस्तुति में प्रेयोऽलंकार[2] तथा

(३) - वे स्थल जिनमें परस्पर व्यंग्यता रहती है, जैसे दीपक में उपमा व्यंग्य रहती है और उपमा अर्थात् मालोपमा में दीपक ।

वस्तुतः वाच्यालंकारों[3] को अलंकार व्यंग्यांश के संस्पर्श का सौभाग्य मिलने पर भी, वाच्यार्थ का प्राधान्य हो जाने के कारण इन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य की कोटि में रखा जाता है ।

काकु से आक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य

काकु से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, व्यंग्यार्थ के गुणीभूत होने के कारण ही इसकी गणना भी गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत होती है । यथा- वेणीसंहार का सूत्रधार कहता है - 'कुरुराजपुत्र स्वस्थ हों,' इसे सुनकर भीमसेन क्रुद्ध होकर कहता है - 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता । इसके साथ यह भी व्यंजित हो रहा है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने पर्याप्त अत्याचार किए हैं । यह सभी व्यंग्यार्थ काकु स्वर से व्यंजित हो रहे हैं और यहां सभी व्यंग्यार्थ गुणीभूत हैं अतः काकु से आक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य का स्थल है ।

१- वही पृ० ४७७-७८ । २- ध्वन्या० ४७८ ।

३- वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ध्व० ३।३६ ।

काकुमात्र से अर्थ विशेष की प्रतीति नहीं होती । बल्कि शब्द शक्ति के सन्निवेश की सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु के सहयोग से अर्थविशेष की प्रतीति होती है और वह (व्यंग्य) अर्थ काकुविशेष की सहायता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी अर्थसामर्थ्यलभ्य होने के कारण व्यंग्य रूप है । किन्तु, व्यंग्यविशिष्टरूप युक्त होने पर भी वाच्याभिलाषी होने के कारण इसे गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत रखा गया है ।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने एक स्थल पर बताया है कि व्यंग्य अर्थ भिन्न-भिन्न स्थितियों में गुणीभूत होता है -

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ।।
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।[1]
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।

इसका विश्लेषण करने पर इसमें व्यंग्यार्थ का चार रूपों में गुणीभूत-व्यंग्यत्व बताया गया है -

१- वाच्यमात्र का अनुयायी होने से व्यंग्य का अप्राधान्य
२- व्यंग्यार्थ की प्रतिभा मात्र या क्लिष्टप्रतीति(काकुमात्र)
३- वाच्यार्थ का अनुगामी होने से, वाच्य व्यंग्य का समप्राधान्य
४- व्यंग्यार्थ का अस्फुट प्राधान्य

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्यत्व का प्रतिपादन ध्वन्यालोक में एक स्थल पर नहीं किया है वह स्थल-स्थल पर बिखरा हुआ है ।[2] परवर्ती आचार्य मम्मटादि ने इसे संगृहीत करके आठ रूपों वाला बताया है ।

१- ध्व० पृष्ठ -
२- अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
काव्यप्रकाश ५।४५ पृ० १६६

व्यंग्यों का प्राधान्याप्राधान्यविवेक:

वाच्य और व्यंग्यों के प्राधान्य और अप्राधान्य का विवेक एक दुष्कर कार्य है क्योंकि इसमें बहुत सूक्ष्म दृष्टि और गम्भीर प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। अन्यथा यह स्पष्ट करना कठिन हो जाता है कि कहाँ ध्वनि है, कहाँ गुणीभूतव्यंग्य और कहाँ अलंकार - इस विवेक के बिना व्यंग्यार्थ की बात तो दूर प्रसिद्ध अलंकारों के विषय में भी व्यामोह हो जाता है।[1]

यथा -

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतः चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

यहाँ कतिपय समालोचकों को व्याजस्तुति का भ्रम हो जाता है। वस्तुतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। यह धर्मकीर्ति का पद्य है और एक ऐसे व्यक्ति के प्रति कहा गया है जो अतीव गुणी था, किन्तु उसे सम्मान देने वाला कोई नहीं था। सम्भवतः यह पद्य धर्मकीर्ति ने स्वयं के लिए लिखा है, क्योंकि धर्मकीर्ति ने इसी भाव के अन्य पद्य भी लिखे हैं।[2] यहाँ व्याजोक्ति नहीं है क्योंकि यह किसी अनुराग युक्त व्यक्ति की उक्ति नहीं है। यह उक्ति किसी विरक्त पुरुष की भी नहीं है। क्योंकि सामान्यतः विरक्त का मन स्त्री की ओर नहीं जाता। अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा ही है। इसमें व्यंग्यार्थ प्रधान है, वाच्यार्थ अप्रधान। और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार।

यदि यहाँ व्याजस्तुति होती तो वाच्यार्थ प्रधान होता और व्यंग्यार्थ अप्रधान।

१- वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः, येन ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोरलंकाराणां चासंकीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालंकारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते। ध्व० ३८६-३८७।

२- ध्व० पृ० ३८२।

निश्चय ही व्यंग्यार्थ के प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय एक कठिन कार्य है । क्योंकि यही व्यंग्यार्थ ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का निर्णायक तत्त्व है ।

ध्वनि सम्मिश्रण -

ऊपर व्यंग्य-अर्थ की प्रधान और अप्रधान रूप से विविध स्थितियों का वर्णन किया गया है, यही व्यंग्यार्थ कभी - कभी अन्य तत्त्वों से भी मिश्रित रहता है । जो निम्न प्रकार है -

१- ध्वनि रूप

२- गुणीभूतव्यंग्य रूप

३- वाच्यालंकार रूप

४- संसृष्टालंकार रूप

ये मिश्रण भी दो प्रकार से होता है -

१- संकर रूप

२- संसृष्टि रूप

संकर में मिश्रित वस्तुओं का भेद प्रतीत नहीं होता, जब कि संसृष्टि में उसकी प्रतीति होती है । संकरात्मक मिश्रण का उदाहरण है दूध पानी का मिश्रण, जब कि संसृष्टि रूप मिश्रण का उदाहरण है तिलतण्डुल का मिश्रण । संकर तीन प्रकार का होता है - अनुग्राह्यानुग्राहकभाव रूप, सन्देह रूप तथा एकवाचकानुप्रवेशरूप ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार तत्त्व - ध्वनिरूप, गुणीभूतव्यंग्यरूप, वाच्यालंकाररूप तथा संसृष्टालंकाररूप का मिश्रण[१] संकररूप तथा संसृष्टिरूप से होने पर यह अनेक प्रभेदों वाला हो जाता है ।

चित्रकाव्य -

जहाँ प्रतीयमान का संस्पर्श नहीं होता वहां चित्रकाव्य होता है । चित्रकाव्य शब्द और अर्थ के भेद से दो कोटियों में विभक्त हो जाता है -

---

१- सगुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ।। ध्व० ३।४३

१- शब्दचित्र

२- वाच्यचित्र

शब्दचित्र, दुष्कर यमक आदि हैं । और व्यंग्यार्थ के संस्पर्श से रहित, प्राधान्य अर्थात् वाक्यार्थ रूप से स्थित एवं रस आदि तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षादि वाच्यचित्र हैं ।

अत: रस भाव आदि तथा व्यंग्यार्थ की विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्धन है, वह चित्र का विषय माना गया है ।[1]

निष्कर्षत: आनन्दवर्धन ने काव्य का एक ही रूप माना - ध्वनि काव्य । व्यंग्य अर्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर काव्य के दो प्रकार निरूपित किए - ध्वनि काव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य । इन दो के अतिरिक्त चित्रकाव्य को इन्होंने वस्तुत: काव्य माना ही नहीं ।[2] उसे काव्यानुकृति अथवा काव्य का चित्र-मात्र कह कर अलग कर दिया ।

'गुणीभूतव्यंग्यकाव्य' भी व्यंग्य अर्थ की गौणता की दृष्टि से किया गया एक प्रकार है , अन्यथा पर्यवसायी रसभावादि की दृष्टि से तो वह गुणीभूतव्यंग्य भी ध्वनि ही कहलाएगा -

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्[3] ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन: ॥

गुणीभूतव्यंग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते ।

इसलिए गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनि का निष्यन्दरूप कहा है अर्थात् उसके भी मूल में ध्वनि ही रहता है -

एवं ध्वनिनिष्यन्दरूपो[4] द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीय: सहृदयै: ।

१- ध्वन्यालो० [illegible] ।

२- प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे, ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ ध्वन्या० ३।४२

३- ध्वन्या० ३।४०   ४- ध्वन्या० पृ० ४७४

इस प्रकार वस्तुतः काव्य का एक ही स्वरूप है - ध्वनि ।

शब्द व्यापार

आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के शब्द व्यापार माने हैं[1] -

१- वाचकत्व

२- गुणवृत्ति

३- व्यंजकत्व

१- <u>वाचकत्व</u> - यह शब्द का मुख्य व्यापार है । इसमें शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता है । अभिधा व्यापार से शब्द के प्रसिद्ध या मुख्यार्थ का बोध होता है । और जो शब्द इस मुख्य शब्द शक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता हो उसे वाचक कहा जाता है । आनन्दवर्धन ने वाचकत्व को शब्दविशेष का नियत आत्मा कहा है, क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर वाचकत्व का शब्द के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है ।[2]

२- <u>गुणवृत्ति</u> - आनन्दवर्धन गुणवृत्ति और भक्ति को एक ही मानते हैं ।[3] 'गुणवृत्ति' पद में ही इसका स्वरूप निहित है । संस्कृत में गुण के कई अर्थ हैं किन्तु यहाँ 'गुण' पद का अर्थ 'अमुख्य' है और 'वृत्ति' का अर्थ 'व्यापार' ।

आनन्दवर्धन कहते हैं[4] - गुणवृत्ति शब्द का अमुख्यव्यापार है, और यह वाचकत्व पर आश्रित रहता है ।

१- त्रयो हि शब्द व्यापाराः प्रकाराः - वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यंजकत्वं च, ध्व०पृ०४२६

२- वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् - ध्व०पृ० ४३६

३- आनन्दवर्धन ने भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया है उसी के उपसंहार के समय गुणवृत्ति के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं -
वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ।। ध्व० १।१८

४- (१) अमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धाः - ध्व० पृ० ४२४
(२) वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता । ध्व० पृ० १।१८
(३) यतु गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते । ध्व० पृ० ४२४

भेद: आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति[1] के दो भेद हैं -

१- अभेदोपचार रूपा तथा

२- लक्षणारूपा[2]

(१) अभेदोपचाररूपा - इसे आनन्दवर्धन ने उपचार[3] भी कहा है। प्रचलित शब्द का, अन्य किसी अर्थ के साथ पहुंचना। आनन्दवर्धन ने इसे तीन प्रकार का कहा है -

(१) वाच्यधर्माश्रित[4]

(२) व्यंग्यधर्माश्रित[5]

(३) निरूढाश्रय

(१) वाच्यधर्माश्रित - वाच्यधर्माश्रित में उपचार या अभेद का कारण धर्म होता है और वह धर्म शब्दतः कथित रहता है। ध्वन्यालोक में इसका उदाहरण है -

(१) तीक्ष्णता के कारण बालक अग्नि[7] है।

(२) आह्लादकता के कारण मुख चन्द्र[8] है।

(२) व्यंग्यधर्माश्रित - व्यंग्यधर्माश्रित में उपचार या अभेद का कारण अपने वाचक शब्द से कथित नहीं रहता। ध्वन्यालोक में इसका[9] उदाहरण है -

'प्रियजन मुखकमल' नहीं होता।

१- (१) गुणवृत्तिस्तु उपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति - ध्व०पृ० ४२३
   (२) गुणवृत्ति: ———— अभेदोपचाररूपा - ध्व० पृ० ४३३

२- यापि लक्षणरूपा गुणवृत्ति: - ध्व०पृ० ४३३

३- (१) उपचारमात्रं भक्ति: - ध्व०पृ० १४१
   (२) उपचारितशब्द - ध्व०पृ० १४६

४-५ गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यंग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति यथा 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवक:', 'आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखम्' इत्यादौ यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। ध्व० पृ० ४३३

६- ध्व० पृ० १।२६

७-८ पृ० टिप्पणी वहीं पर - ४-५।

(३) निरूढाश्रय-

निरूढ अभेदोपचार ऐसे स्थलों में होता है, जिसमें कारण न तो वाच्य रहता है और न व्यंग्य । ऐसे स्थलों को आनन्दवर्धन ने निरूढा लक्षणा का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'लावण्य' आदि शब्दों को ।[1] लावण्य का वास्तविक अर्थ है - नमकीनपन ।[2] किन्तु अब लावण्य शब्द अंगों में झलकते हुए भाव के अर्थ में रूढ हो गया है ।

(२) लक्षणा रूपक गुणवृत्ति -

लक्षणारूप गुणवृत्ति वहाँ होती है जहाँ सादृश्य सम्बन्ध नहीं रहता । यह लक्षणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से चारुरूप व्यंग्य की प्रतीति[3] के बिना भी सम्पन्न होती है । जैसे - मंचा: क्रोशन्तीत्यादौ विषये ।

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति के भेद निम्नप्रकार से हैं -

गुणवृत्ति
- अभेदोपचाररूपा
  - सकारणा
    - वाच्यकारणा
      - वाच्यसमाश्रिता (१)
    - व्यंग्यकारणा
      - व्यंग्यसमाश्रिता (२)
  - अकारणा
    - रूढिरूप (३)
  - (१, २, ३) सादृश्याश्रिता (गौणी)
- लक्षणरूपा
  - सादृश्यरहिता (शुद्धा)

१- रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा: स्वविषयादपि ।
लावण्याद्या: प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वने: ।। ध्व० १।१६

२- मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते

३- यापि लक्षणरूप गुणवृत्ति: साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूप-व्यंग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा- मंचा: क्रोशन्तीत्यादौ विषये - ध्व० पृ० १३३ ।

व्यंजकत्व -

जिस प्रकार 'वाच्यार्थ' का प्रकाशन 'अभिधा-व्यापार' से होता है और 'लक्ष्यार्थ'[1] का प्रकाशन 'गुणवृत्ति' से उसी प्रकार 'व्यंग्यार्थ' का प्रकाशन 'व्यंजकत्व' व्यापार से होता है। अतः व्यंग्य का प्रकाशन ही व्यंजकत्व है। यह शब्द और अर्थ का धर्म है। शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्यवाचकभाव नामक सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा करता हुआ ही व्यंजकत्व रूप व्यापार दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है। वाचकत्व शब्द विशेष नियत आत्मा है किन्तु व्यंजकत्व औपाधिक होने के कारण अनियत है। क्योंकि प्रकरण आदि[2] के अधीन से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा उसकी प्रतीति नहीं होती।

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के आधार पर अपने इस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है[3]। और, वैयाकरणों के व्यंजकत्व के साम्य के आधार पर ही अपने सिद्धान्त को 'ध्वनि संज्ञा' दी। क्योंकि वैयाकरणिक श्रूयमाण वर्णों में जो अक्रमक और नित्य स्फोट के व्यंजक होते हैं, उन्हें ध्वनि व्यवहार करते हैं। उनके मत का अनुसरण करने[4] वाले काव्य तत्त्वार्थदर्शियों ने 'वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मक काव्य' को 'व्यंजकत्व' के साम्य के आधार पर ही 'ध्वनि' कहा।

यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि ध्वनि के केवल तीन विरोधी हैं - अभाववादी, भाक्तवादी एवं अनिर्वचनीयतावादी। अनुमानादि ध्वनि के विरोधी नहीं वह तो व्यंजकत्व के विरोधी हैं। इसलिए आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में व्यंजकत्व की स्थापना के प्रसंग में, उसका वाचकत्व, गुणवृत्ति और अनुमान से भिन्न विषयत्व बताया है। क्योंकि व्यंग्य अर्थ प्रतिपादन में अभिधादि शब्दव्यापार एवं अनुमानादि प्रमाणान्तर सर्वथा असमर्थ होते हैं। अतः व्यंग्यार्थ का प्रकाशन

१- व्यंग्यप्रकाशनं हि व्यंजकत्वम् - ध्व० पृ० ४४०   २- द्र०ध्व०लो० ४३९-४४०

३- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति - ध्व० पृ० १४१

४- आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में 'व्यंजकत्व' पद का ही प्रयोग किया है। कहीं भूल कर भी 'व्यंजना-व्यापार' नहीं कहा है। परवर्ती आचार्य अभिनव आदि ने 'व्यंजना' नाम बताया।

करने में व्यंजकत्व ही सक्षम है।

वाचकत्व और व्यंजकत्व -

व्यंजकत्व(व्यंजना व्यापार) विरोधी कतिपय[1] आचार्य वाचकत्व(अभिधा व्यापार) से ही सभी अर्थों को निकालना चाहते हैं। उनके अनुसार -

(१) वाच्य से अतिरिक्त उस अन्य अर्थ को व्यंग्यार्थ रूप न कह कर, वाच्य रूप ही मानना उचित है, क्योंकि उस अर्थ के प्रकाशन में वाक्य का अभिधा व्यापार ही है। उसके लिए व्यंजकत्व रूप अन्य व्यापार की कल्पना अनावश्यक है। क्योंकि वाक्य जिस प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है, उतनी सम्पूर्ण है, इसलिए उसे मुख्यार्थ मान कर वाचकत्व(अभिधा व्यापार) का ही विषय मानना युक्ति संगत है[2]।

(२) और, उस अन्य (व्यंग्य) अर्थ को वाच्यार्थ मान लेने पर, मध्य में होने वाली वाच्यान्तर प्रतीति उसी प्रकार उपायमात्र है जिस प्रकार पदार्थप्रतीति, वाक्यार्थप्रतीति का उपाय मात्र होती है। अर्थात् वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत अन्य अर्थ के बोधन में प्रथम अर्थ, उपाय मात्र होता है[3]।

व्यंजकत्व विरोधियों को उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

जहां शब्द अपने अर्थ का अभिधान करता हुआ अर्थान्तर का अवगमन करता है वहां शब्द का स्वार्थाभिधायित्व(वाचकत्व) और अर्थान्तरावगमकत्व(व्यंजकत्व) में अभेद नहीं है क्योंकि वाचकत्व और व्यंजकत्व विषयतः एवं स्वरूपतः भिन्न हैं।[4]

वाच्य अर्थ और व्यंग्यार्थ का रूप पर व्यवहार सुस्पष्ट ही है। वाच्य अर्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है, किन्तु व्यंग्य अर्थ अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त

१- तदेवं व्यंजकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात् - ध्व० पृ० ४१३
कतिपयेति। मीमांसकादि: - लो० पृ० ४१३
लोचनकार के अनुसार व्यंजकत्व विरोधी मीमांसकादि हैं।

२- ध्व०पृ० ४१३-४१५

३- ध्व०पृ० ४१५

४- तत्रायौ हि व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव - ध्व०पृ०४१६

होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी है। यदि व्यंग्यार्थ को भी शब्द का साक्षात् सम्बन्धी माना जायगा, तब उसमें क्रमान्वितत्व का व्यवहार ही नहीं होगा। अतः इन दोनों का विषय भेद स्पष्ट है।[1]

इन दोनों में स्वरूप भेद भी है क्योंकि जो अभिधानशक्ति है वही व्यंजनशक्ति नहीं। जैसे अवाचक गीत शब्द से भी रसादि रूप अर्थ का अवगमन होता है और वाचकत्व रहित चेष्टा आदि आंगिक क्रियाओं से भी अर्थविशेष का प्रकाशन(व्यंजन) देखा जाता है जैसे 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादि श्लोक में कवि ने अर्थ प्रकाशन के हेतु चेष्टा विशेष को ही दिखाया है।

इस प्रकार शब्द के स्वार्थाभिधायित्व(वाचकत्व) और अर्थान्तरावगमहेतुत्व (व्यंजकत्व) में स्वरूपतः और विषयतः भेद स्पष्ट होने के कारण, अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थान्तर को वाच्य कहना उचित नहीं।

मीमांसकों के वाच्य और व्यंग्य में पदार्थवाक्यार्थ न्याय का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं हो सकता।[2] क्योंकि वाक्यार्थप्रतीति के समय पदार्थ और वाक्यार्थ में पदार्थ प्रतीति पृथक् रूप से नहीं होती किन्तु वाच्य और व्यंग्य में ऐसा नहीं है।

जो मीमांसक वाच्यार्थ को पदार्थ स्थानीय तथा व्यंग्यार्थ को वाक्यार्थ-स्थानीय मान कर व्यंग्यार्थ को तात्पर्यशक्ति का ही विषय समझते हैं[1], वह ठीक नहीं, क्योंकि वाच्य तथा व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं होता।[2] पदार्थ-वाक्यार्थ में घटबुद्ध्युपादानकारण न्याय तथा वाच्य व्यंग्य में घटप्रदीप न्याय ही मानना चाहिए।[3] जिस प्रकार घटबुद्धि की वेला में उसके उपादान कारण की पृथक् प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार वाक्यार्थबुद्धि की वेला में उसके उपादान रूप पदार्थों की पृथक् प्रतीति नहीं होती। यदि पदार्थों की पृथक् प्रतीति होगी तो वाक्यार्थबुद्धि ही नहीं हो सकती क्योंकि वाक्यार्थ में तो अर्थ की एकता

१- ध्व०लो० ४१७

२- न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यंग्ययोः; ध्वन्या० पृ० ४१९

३- द्र० ध्वन्या० पृ० ४२०-४२१ ।

भासित होती है। अवयवों के विभक्त रहने पर अखण्ड अवयवी की प्रतीति संभव नहीं होती। किन्तु वाच्य और व्यंग्य में यह नियम लागू नहीं होता। क्योंकि व्यंग्य प्रतीति के समय वाच्य बुद्धि दूर नहीं होती, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ के साथ अविनाभाव रूप से भासित होता रहता है। इसलिए इन दोनों में घटप्रदीपन्याय है, क्योंकि जैसे घट को प्रकाशित कर दीपक स्वयं भी भासित होता रहता है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को प्रकाशित कर वाच्यार्थ स्वयं भी भासता रहता है, अर्थात् वाच्य और व्यंग्य अथवा घट और प्रदीप में प्रकाश्य तथा प्रकाशक दोनों की साथ-साथ प्रतीति होती है। यह दूसरा तथ्य है कि प्रकाशक की सत्ता, प्रकाश्य की सत्ता के नियमतः से पूर्व भाविनी होती है। इस पूर्वभावित्व को दृष्टि में रख कर ही ध्वनिकार अपने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में व्यंग्यार्थ के प्रति वाच्यार्थ की केवल उपायरूपता (कारणता)[1] सिद्ध करने के लिए पदार्थ-वाक्यार्थन्याय को उपस्थित करते हैं।

मीमांसक यह शंका कर सकता है कि यदि वाच्यव्यंग्य में घटप्रदीपन्याय माना जायगा तो एक काल में वाक्य से अनेक की प्रतीति होने पर, वाक्य की वाक्यता ही विघटित हो जायगी। क्योंकि वाक्य में तो ऐकार्थ्य ही होना चाहिए।

इस शंका का समाधान करते हुए ध्वनिकार कहते हैं - वाक्य से अनेक की प्रतीति कोई दोष नहीं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य गुणप्रधानभाव से रहते हैं। कहीं पर व्यंग्य-अप्रधान तथा वाच्य अर्थ अप्रधान रूप से रहता है और कहीं वाच्यार्थ के प्रधान होने पर व्यंग्यार्थ अप्रधान हो जाता है। व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर और वाच्यार्थ के गौण होने पर ध्वनि काव्य होता है और व्यंग्यार्थ के अप्रधान और वाच्य के प्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य।

१- यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ ध्व० १।१०

२- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं- पृ० ३०६-३०७।

इससे यह सिद्ध है कि - काव्य का व्यंग्य में तात्पर्य होने पर व्यंग्य का अभिधेयत्व नहीं, अपितु व्यंग्यत्व ही होता है ।[1]

मीमांसक जो समस्त वाक्य को तात्पर्य विषयीभूत होने के कारण वाच्य रूप ही मानते हैं, वह गुणीभूतव्यंग्य के स्थल में भासित होने वाले व्यंग्यार्थ को वाच्य कैसे कहेंगे ? क्योंकि वहां पर तो वाक्य वाच्यार्थपरक होता है, व्यंग्यार्थपरक नहीं । व्यंग्यार्थ तो भासित होकर पुनः वाच्य का ही अनुगमन करने लगता है । अतः जब मीमांसक को गुणीभूतव्यंग्य के स्थल में व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार ही करनी पड़ती है, तब ध्वनि काव्य में, जहां उसका प्राधान्य है, वहां उसके स्वरूप का अपह्नव क्यों करते हैं ?[2]

व्यंजकत्व का वाचकत्व से भिन्न होने का कारण यह है कि वाचकत्व एकमात्र शब्द के आश्रित रहता है, किन्तु व्यंजकत्व शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहता है ।[3]

वाचकत्व शब्द का नियत आत्मा है क्योंकि उत्पत्तिकाल से लेकर उसका उस शब्द के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रहता है । जैसे - गवादि वाचक शब्द का गवादि अर्थ के साथ व्युत्पत्तिकाल से लेकर आज तक एक अटूट सम्बन्ध रहा है । जब भी 'गौ' शब्द का उच्चारण होगा 'गवादि पिण्ड' की नियतरूप से प्रतीति होगी । इसके विपरीत व्यंजकत्व शब्द का अनियत आत्मा है । शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा रखता हुआ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है ।[4]

इसमें उपाधि है - प्रकरण वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य । किसी विशिष्ट बोद्धव्य को दृष्टि में रख कर प्रयोग किया गया वाक्य उस बोद्धव्य के सान्निध्य के कारण अपने अर्थ से भिन्न एक अर्थान्तर(व्यंग्य) की प्रतीति कराता है और यदि वह बोद्धव्य न रहे तो स्वार्थमात्र में पर्यवसित हो जाता है । जैसे -

---

१- द्र० ध्वन्या० १२१-१२२

२- द्र० ध्वन्या० १२२

३- इतश्च वाचकत्वाद् व्यंजकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रय-मर्थाश्रयं च - ध्वन्या० पृ० १२३ ।

४- ध्व. पृ. ४३६.

'कस्य वा न भवति रोषः' इत्यादि वाक्य में जो व्यंग्यार्थ निकला है उसका प्रयोजक है केवल अन्यासक्त्यादि रूप उपाधि[1] । यदि कोई दूसरा व्यक्ति सुननेवाला न रहे तो इसमें कोई व्यंजकता नहीं । अतः व्यंजकत्व औपाधिक होने के कारण अनियत है । क्योंकि प्रकरण आदि के संयोग से उसकी प्रतीति होती है अन्यथा उसकी प्रतीति नहीं होती ।

यहाँ पर मीमांसक शंका करता है कि - यदि व्यंजकत्व का शब्द से अनियत सम्बन्ध है, तो उसके स्वरूप की परीक्षा से क्या लाभ ? इसका समाधान करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं - व्यंजकत्व का अनियतत्व कोई दोष नहीं । क्योंकि व्यंजकत्व का शब्द रूप के साथ अनियत सम्बन्ध है, न कि व्यंग्यार्थ के साथ । व्यंग्यार्थ के साथ तो उसका उसी प्रकार नियत सम्बन्ध है, जिस प्रकार कि अभिधा का वाचक शब्द के साथ । इस दृष्टि से व्यंजकत्व में लिंगत्व न्याय भी संगत होता है । जिस प्रकार लिंगत्व अनुमान के अधीन होने के कारण अपने विषय अग्नि आदि में अव्यभिचारि(नियत) रूप से ही प्रतीत होता है, धूम को लिंग तो कभी माना जायगा जब अग्नि का अनुमान करना होगा किन्तु उस लिंगभूत धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध तो सदैव देखा जायगा । इसी प्रकार शब्द में व्यंजकत्व का आरोप करना तो इच्छाधीन है किन्तु व्यंजकत्व होने पर तो व्यंग्यार्थ की नियत रूप से प्रतीति होगी ही । इसलिए शब्द में अनियत से रहने के कारण व्यंजकत्व को वाचकत्व से नितान्त भिन्न समझना चाहिए । यदि व्यंजकत्व भी वाचकत्व का रूप होता तो उसका भी वाचकत्व की तरह शब्द के साथ नियत सम्बन्ध होता[2] ।

और मीमांसक शब्द के साथ अर्थ का नित्य (औत्पत्तिक) सम्बन्ध मानते हैं और इसके साथ-साथ वैदिक वाक्यों को लौकिक वाक्यों से भिन्न भी मानते हैं । उनके अनुसार वैदिक वाक्यों में अपौरुषेयता का कारण स्वतः प्रमाण होता है । लौकिक वाक्य पुरुषाभिसंधि होते हैं, इसलिए पुरुषाभिप्राय ही उनकी वाचकता में प्रमाण है । इसमें पुरुष दोषों के कारण मिथ्यार्थकता भी सम्भव है ।

१-२ ध्वन्या० ३०८-३०९ ।

शब्द में व्यंजकत्व रूप औपाधिक धर्म को स्वीकार करने पर ही लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में परस्पर भेद का उपपादन हो सकता है। औत्पत्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों प्रकार के वाक्यों में वाच्यार्थ बोधकता समान रूप ही होती है। अन्तर मात्र इतना है कि लौकिक वाक्य में 'अर्थ' वक्ता के अभिप्रायानुसार होता है और वह वक्तृतात्पर्य व्यंजक भी होता है। वक्ता को कभी शीतकारी चन्द्र में विरही के लिए सन्तापकारित्व दिखाना भी अभिप्रेत हो सकता है। सन्तापकारित्व का चन्द्र के साथ तो वाच्य-वाचक रूप सम्बन्ध असम्भव है। [redacted] उसमें केवल औपाधिक सम्बन्ध ही हो सकता है। प्राय: सभी पौरुषेय(लौकिक) वाक्य पुरुषाभिप्राय के प्रकाशक होते हैं अत: व्यंजकत्व रूप औपाधिकधर्म से युक्त होते हैं। यही औपाधिक धर्म उसे अपौरुषेय(वैदिक) वाक्यों से व्यावर्तित करता है। वैदिक वाक्य किसी पुरुष द्वारा निर्मित[१] न होने के कारण उसमें वक्तृतात्पर्य-रूप उपाधि का प्रश्न ही नहीं उठता[१]। उसमें तो वाक्य का वाच्यार्थ के साथ सीधा नित्य सम्बन्ध रहता है।

अत: निष्कर्ष यह है कि लौकिक वाक्य में वक्ता का अभिप्राय अन्तर्निहित रहता है और वह अभिप्राय सदैव व्यंग्य रूप ही रहता है। इसीलिए मीमांसक को भी वैदिक वाक्य से लौकिक वाक्य में भेद उत्पन्न करने वाले धर्म व्यंजकत्व को स्वीकार करना ही चाहिए।

<u>वैयाकरण और व्यंजना</u> - आनन्दवर्धन को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों से प्राप्त हुई है। इसलिए व्यंजनाशक्ति के समर्थन के लिए उनसे मीमांसकों की तरह विरोध करने का प्रश्न नहीं उठता। वैयाकरणिक तो स्फोट की प्रतीति के लिए ध्वनियों के व्यंजकत्व को मानते हैं[२]।

अत: यह निश्चित है कि वाचकत्व और व्यंजकत्व स्वरूपत: और विषयत: भिन्न हैं।

१- ध्व० ध्या० पृ० ५५०-५५२।

२- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं। पृ० ३०६-३१०

३- (१) तस्मात् वाचकत्वव्यंजकत्वयोर्भिन्नः ... व्यंजकत्वलक्षणः शब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते - ध्व० पृ० ५५३

(२) परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनि व्यवहार - ध्व० पृ० ५५३

<u>गुणवृत्ति और व्यंजकत्व</u> - गुणवृत्ति से भी व्यंजकत्व का स्वरूपत: और विषयत: भेद है ।[1]

इन दोनों का पारस्परिक स्वरूप भेद यह है कि गुणवृत्ति शब्द का अमुख्य व्यापार है किन्तु व्यंजकत्व शब्द का मुख्य व्यापार है । मुख्य व्यापार इसलिए है क्योंकि व्यंग्य के जो तीन प्रकार - वस्तु, अलंकार और रसादि हैं, उनका किंचिन्मात्र भी अमुख्य व्यापार नहीं होता ।

अमुख्य रूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गुणवृत्ति कहते हैं । किन्तु व्यंजकत्व में शब्द का अमुख्यत्व या स्खलद्गतित्व नहीं होता क्योंकि यदि वाचकत्वाश्रित से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन होने पर यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता होगी । किन्तु ऐसा होता नहीं है । अर्थात् व्यंजकत्व के प्रसंग में शब्द का मुख्य व्यापार ही होता है ।

एक अन्य भेद यह भी है कि जब गुणवृत्ति में अर्थ अर्थान्तर को उपलक्षित करता है तब उपलक्षणीय अर्थ के रूप में ही वह परिणत हो जाता है । यथा-गंगायां घोष: इत्यादि में । परन्तु व्यंजकत्व मार्ग में जब अर्थ अर्थान्तर को [illegible] द्योतित करता है तब प्रदीप की भांति 'स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ भी वह अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है । यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादि में ।[2]

गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में विषय भेद भी है । क्योंकि वस्तु अलंकार और रसादि ये तीनों व्यंजकत्व के विषय हैं । गुणवृत्ति में इन तीनों का व्यवहार नहीं होता । गुणवृत्ति में केवल प्रसिद्धि और अनुरोध से गौण शब्दों का प्रयोग होता है । और जो भी गुणवृत्ति का विषय होता वह भी व्यंजकत्व के सम्बन्ध से होता ।[3] अत: गुणवृत्ति से व्यंजकत्व अत्यन्त विलक्षण है ।

यह निश्चित हुआ कि वाचकत्व और गुणवृत्ति के आश्रित रहता हुआ भी व्यंजकत्व दोनों से विलक्षण है, व्यंजकत्व कहीं पर वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है, जैसे - विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में, और कहीं पर

१- गुणवृत्तिरुपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति । किन्तु ततोऽपि व्यंजकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते । ध्व० पृ० ४२१

२- द्र० ध्वन्या० ४२३-४२४ ३- द्र० ध्वन्या० ४२५-४२७

गुणवृत्ति के आश्रय से, जैसे - अविवक्षितवाच्य ध्वनि में। और इन दोनों- वाचकत्व और गुणवृत्ति के आश्रयत्व के प्रतिपादनार्थ ही ध्वनि के अवैक्य के भेद उपन्यस्त किए गए। इन पर आश्रित होने के कारण व्यंजकत्व से उनका ऐक्य नहीं कहा जा सकता।

अतः किसी भी तर्क द्वारा व्यंजकत्व को वाचकत्व और अथवा गुणवृत्ति दोनों में से किसी में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता।

<u>व्यंजकत्व और अनुमान -</u>

कुछ तार्किक व्यंजकत्व को अनुमान में ही अन्तर्भुक्त करते हुए कहते हैं -

शब्दों का अपरकत्व जो व्यंजकत्व है वह लिंगत्व ही है, क्योंकि व्यंग्य की प्रतीति लिंगी की प्रतीति ही है, इस प्रकार उनका लिंगलिंगिभाव ही है, इससे अतिरिक्त व्यंग्यव्यंजक भाव नहीं और जो व्यंजकत्ववादी वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यंजकत्व का प्रतिपादन करता है वह वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप ही है।[1]

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं - वाचकत्व और गुणवृत्ति से अतिरिक्त व्यंजकत्व रूप शब्द व्यापार है। वह व्यंजकत्व लिंगत्व हो अथवा कुछ और इससे कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इतना अवश्य है कि वह व्यंजकत्व प्रसिद्ध शाब्द प्रकार से सर्वथा विलक्षण होते हुए भी शब्द-व्यापार का ही विषय है। यदि पूर्वपक्षी को अनुमान का शब्दव्यापारत्व मान्य है तो पूर्वपक्षी और सिद्धान्तपक्षी में कोई विवाद ही नहीं। और फिर पूर्वपक्षी के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं कि - व्यंजकत्व लिंगत्व ही है और अतः व्यंग्य की प्रतीति लिंगी की प्रतीति ही है।[2]

पूर्वपक्षी का मत है कि - वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप होने के कारण शब्द लिंग रूप ही होते हैं।

इस पर आनन्दवर्धन कहते हैं - शब्दों का विषय दो प्रकार संभव है :-

१- अनुमेय

२- प्रतिपाद्य

१- ध्व० न्या० पृ० ४४८ २- ध्व० न्या० पृ० ४४८-४४९

१- अनुमेय विवक्षा रूप है । विवक्षा दो प्रकार की है -

(१) शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा

(२) शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा

किसी के मुख से शब्द निकलता है तो सुनने वाला यह अनुमान करता है कि अवश्य ही इस व्यक्ति के मन में कोई बात प्रकट करने की इच्छा है । तभी वक्ता इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है और इन शब्दों द्वारा वह अर्थ प्रकट करना चाह रहा है । वक्ता की इच्छा का ज्ञान वक्ता के मुख से उच्चारित शब्द के ही आधार पर होता है । अतः शब्द से वक्ता की शब्दप्रयोगेच्छा तथा अर्थप्रकाशेच्छा का अनुमान होता है । अतः शब्दों के यह दोनों ही विषय अनुमेय हैं ।

२- और ,प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विषयीकृत अर्थ 'प्रतिपाद्य' है। वह भी दो प्रकार का है -

(१) वाच्य

(२) व्यंग्य

प्रयोक्ता कभी स्वशब्द द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है और कभी स्वशब्द के अनभिधेय रूप से किसी प्रयोजन की अपेक्षा करता है । यह वाच्य और व्यंग्य रूप शब्दों का 'प्रतिपाद्य' लिंगी रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपितु कृत्रिम अथवा अकृत्रिम सम्बन्धान्तर से प्रकाशित होता है । शब्दों से केवल उस अर्थ का 'विवक्षाविषयत्व' लिंगी रूप से प्रतीत होता है, 'स्वरूप' नहीं ।

यदि पूर्वपक्षी के अनुसार अर्थ के स्वरूप को भी अनुमेय ही मान लिया जाय और शब्दों का व्यापार लिंग लिंगी भाव से ही तो कभी भी अर्थ के विषय में सत्यत्व तथा मिथ्यात्व का विवाद ही न हो, क्योंकि धूम के द्वारा अनुमेय अग्नि का ज्ञान कभी भी मिथ्या ज्ञान नहीं होता ।

यदि कोई कहे कि वाच्य अर्थ का तो शब्द से सीधा सम्बन्ध होता है किन्तु व्यंग्य का नहीं, क्योंकि व्यंग्य अर्थ भी तो वाच्यार्थ से ही आक्षिप्त होता है, इसलिए वाच्य के समान वह भी शब्द का ही सम्बन्धी है । अन्तर केवल इतना है कि वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है और व्यंग्यार्थ असाक्षात् अर्थात् परम्परया सम्बन्धी है । यहाँ साक्षात् और असाक्षात् भाव-सम्बन्ध का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं । और व्यंजकत्व का वाच्यवाचक भावाश्रयत्व होता ही है । अतः यह सिद्ध है कि वक्ता के अभिप्राय रूप व्यंग्य में लिंग रूप से शब्दों का

व्यापार होता है। और उसके द्वारा विषयीकृत अर्थ में प्रतिपाद्य रूप से। अतः जो अनुमान शब्द सुनने से होता है, उसको व्यंजकत्व से भिन्न मानना होगा।

पूर्वपक्षी के यह प्रश्न करने पर कि - अभिप्राय रूप(विवक्षित) और अनभिप्राय(अविवक्षित) रूप इस प्रतिभास में वाचकत्व से ही व्यापार होगा अथवा सम्बन्धान्तर से?

सिद्धान्तवादी कहता है - वाचकत्व से तो नहीं होगा जैसा कि पहले स्पष्ट कर चुके हैं। सम्बन्धान्तर से 'व्यंजकत्व' ही है। और व्यंजकत्व, लिंगत्व रूप नहीं है। जैसे - प्रदीप घट का अनुमापक नहीं बन सकता क्योंकि घट का तो प्रत्यक्ष हो ही रहा है और प्रदीप द्वारा प्रकाशित घट का ज्ञान अनुमानिक है - ऐसा कोई भी प्रज्ञावान् नहीं मान सकता क्योंकि वह तो अनुभव सिद्ध ज्ञान है। इसलिए शब्दों का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की भांति ही लिंगी रूप से सम्बन्ध नहीं रखता। जो लिंगी रूप से उनका सम्बन्धी है, वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता, अपि तु उपाधि रूप होता है। और प्रतिपाद्य विषय व्यंग्य रूप से प्रतीत होता है।

और काव्य के विषय में व्यंग्य की प्रतीति का सत्यासत्य निरूपण अनुपयोगी है। इसलिए वहां प्रमाणान्तर से व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी। इसलिए लिंगी की प्रतीति ही सर्वत्र व्यंग्य की प्रतीति है, यह नहीं कह सकते। अतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता।

यदि तर्कशास्त्री व्यंजकत्व को अपने अनुमान में अन्तर्भुक्त करेगा तो उसे अपने अनुमान में दो परिवर्तन करने होंगे -

१- एक तो यह कि उसे शब्दव्याप्ति स्वीकार करना होगा। और

२- दूसरा यह कि उसे प्रामाणत्व से शून्य मानना होगा।

इस प्रकार व्यंजकत्व को अनुमान रूप मानते ही अनुमान का अपना स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाएगा। फलतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता।

इसलिए आनन्दवर्धन ने कहा है - गुणवृत्ति, वाचकत्व आदि शब्द प्रकारों से व्यंजकत्व नियमतः ही विलक्षण है। यह एक अतिरिक्त शब्द व्यापार है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ का स्वरूप स्पष्ट करके, विद्वानों[1] के मध्य जो ध्वनि तत्व विमति का विषय बना था उसे प्रतिष्ठित कर दिया ।

ऊपर ध्वनि काव्य और उसके भेद प्रभेदों का विवेचन करते हुए शब्द व्यापारों का विवेचन किया गया । अब गुण, अलंकार, संघटना(रीति), वृत्ति, दोष का विवेचन करेंगे । जो काव्यांग कहे गए हैं । जिनका अन्य आचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया ।

ध्वनि व्यवस्था में इनके उचित स्थान एवं मूल्य का आनन्दवर्धन की दृष्टि से निरूपण किया जाएगा ।

गुण

आनन्दवर्धन ने भामह के ही समान तीन गुणों - माधुर्य, ओजस् और प्रसाद को स्वीकार किया है । किन्तु आनन्दवर्धन ने गुण के स्वरूप का विवेचन भिन्न रूप से किया है । आनन्दवर्धन ने गुणों को रसधर्म माना है । गुण के विषय में आनन्दवर्धन कहते हैं -

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः । (ध्व० २।६)

जो उस रसादि रूप प्रधान व्यंग्यार्थ का अवलम्बन करते हैं वे गुण कहलाते हैं । और उसका उदाहरण देते हैं - 'शौर्यादिवत्' अर्थात् जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं, किन्तु फिर भी शरीर से पृथक् रह कर केवल आत्मा शौर्य नहीं दिखा पाती, वह शरीर में रह कर ही शौर्यादि प्रकट करने में समर्थ होती है । इसी प्रकार गुण, 'काव्यात्मा[2]' रस के धर्म होते हुए भी शब्दार्थ-रूपी काव्यशरीर के आश्रित भी रहते हैं ।[3]

१- विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ।। ध्व०३।३३ पृष्ठ [illegible]

२- काव्यस्यात्मा स एवार्थः । (ध्व० १।५) यहाँ स एवार्थ-रसध्वनि के लिए आया है।

३- [illegible] शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् ध्व० पृ० [illegible]

माधुर्य[1]

स्वरूप : चित्त की आर्द्रता का नाम 'माधुर्य' है।[2] माधुर्य गुण श्रृंगारमय काव्य का आश्रय लेकर प्रतिष्ठित होता है। श्रृंगार-रस अन्य रसों की अपेक्षा अत्यधिक आह्लादक होने के कारण मधुर होता है। क्योंकि माधुर्य गुण में चित्त अधिक आर्द्रभाव को प्राप्त करता है। अतः माधुर्य[3] का प्रकर्ष विशेष रूप से विप्रलम्भ श्रृंगार और करुण रस में पाया जाता है।

इसका उदाहरण आनन्दवर्धन ने गुण विवेचन के प्रसंग में नहीं दिया है। किन्तु रसध्वनि के प्रसंग से इसका उदाहरण दिया जा सकता है।

यथा - स्वयं आनन्दवर्धन का 'लावण्यकान्ति[4] इत्यादि' पद्य इसका उदाहरण हो सकता है। त्रिपुरविजय का रसवदलंकार के संदर्भ में उद्धृत '[illegible][5] इत्यादि' पद्य विप्रलम्भश्रृंगार का उत्तम उदाहरण है।

ओजस्

स्वरूप - काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण लक्षित होते हैं। अतः शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले दीप्ति के व्यंजक ओजस् गुण होते हैं।[6]

काव्य की जिस शब्दयोजना और अर्थयोजना में यह दीप्ति नामक तत्त्व दिखाई देता है उसे भी 'ओजो' गुण से युक्त कह दिया जाता है। और अर्थयोजना में प्रत्येक शब्द का अर्थ सुस्पष्ट होता है और उसमें लम्बे समास नहीं

१- तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः । ध्व०२।७ की वृत्ति

२- माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ध्व० २।८

३- शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ध्व० २।७-८
गुणानां हि माधुर्यप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव । ध्व०२।८ की वृत्ति

४ - लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥ ध्व.पृ.२६१.

५- [redacted] ध्व० पृ० २०६

६- [redacted] रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ध्व० २।९

होवे।[1]

शब्दौजस में अर्थौजस के विपरीत समास बहुलता और दीर्घता निहित रहती है।[2]

शब्दौजस का उदाहरण - यथा क्रुद्ध भीम की यह उक्ति -

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

यहाँ शब्दौजस दीर्घसमासता एवं कर्णोस्फालन है जिससे चित्त में दीप्ति का अनुभव होने लगता है। अतः यहाँ ओजस् गुण है।

अर्थौजस का उदाहरण-

जैसे - पिता द्रोण के शिरच्छेद के समाचार को सुनकर क्रुद्ध अश्वत्थामा की यह उक्ति -

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

यहाँ अर्थौज सर्वथा स्फुट रूप से हो रहा है। क्योंकि अर्थौजस स्पष्ट निहित और असमासता है अतः यहाँ ओजस् गुण है।

प्रसाद[3]

स्वरूप - शब्द और अर्थ की स्वच्छता ही 'प्रसाद गुण' है।[4] यह सभी रसों और सभी प्रकार की रचनाओं में समान रूप से रहता है। एवं मुख्य रूप से व्यंग्य की अपेक्षा से ही व्यवस्थित होता है।

१- उत्कर्षकारणत्वेनार्थोऽर्थसौन्दर्यविदीप्तिसाधकः प्रसन्नवाचकाभिधेयः। ध्वन्यनु० २११
२- उत्कर्षकारणः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्। ध्व० पृ० २०९
३-४(१) समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ ध्व० २।१०
प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः
सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।
(२) ध्व० पृ० २११। ध्व० पृ० २११

इसका उदाहरण -

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि है जिसमें क्रोध में सर्वत्र स्फुटता एवं स्वच्छता है।

निष्कर्ष -

आनन्दवर्धन के गुण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन गुण को प्रधान रूप से रसधर्म स्वीकार करते हैं और गौण रूप से शब्द अर्थ के धर्म मानते हैं। रस केवल गुणों की व्यवस्था करते हैं क्योंकि माधुर्यादि गुणों की व्यवस्था बिना रस के सम्भव नहीं है। अतः गुण रसधर्म भी हैं और शब्दार्थ धर्म भी।

संक्षेप में आनन्दवर्धन के अनुसार गुण का परिचय इस प्रकार है -

१- गुण रसधर्म के साथ गौण रूप से या परम्परया शब्दार्थ धर्म भी हैं।

२- गुण तीन हैं - माधुर्य, ओजस् और प्रसाद।

३- प्रसाद गुण व्यापक है, माधुर्य तथा ओजस् एकदेशीय, क्योंकि इनमें से माधुर्य केवल शृंगार तथा करुण में रहता है और ओजस् रौद्र आदि दीप्त रसों में ही।

अलंकार

आनन्दवर्धन के समय तक चार प्रमुख आचार्य - दण्डी, भामह, उद्भट तथा वामन हो चुके थे। इन आचार्यों ने अलंकार सम्बन्धी विस्तृत विवेचन किया था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में ही कह दिया कि काव्य के वाच्यभाग का पूर्ववर्ती आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है अतः उसका पिष्ट-पेषण नहीं करेंगे, केवल उपयोगानुसार उसका अनुकथन मात्र करेंगे।

अतः आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित अलंकारों का ही उल्लेख किया है -

१- अतिशयोक्ति	२- अनुप्रास
३- अपह्नुति	४- अप्रस्तुत प्रशंसा
५- अर्थान्तरन्यास	६- आक्षेप

१- गुणास्तु व्यंग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दार्थयोरेव । ध्व० पृ०१२१

७- उत्प्रेक्षा — ८- उपमा
९- चित्र — १०- तुल्ययोगिता
११- दीपक — १२- पर्यायोक्त
१३- निदर्शना — १४- प्रेयस्
१५- यथासंख्य — १६- यमक
१७- रूपक — १८- वक्रोक्ति
१९- विरोध — २०- विशेषोक्ति
२१- व्यतिरेक — २२- व्याजस्तुति
२३- श्लेष — २४- संसृष्टि
२५- संकर — २६ समासोक्ति
२७- सन्देह — २८- स्वभावोक्ति

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्राय: इन्हीं अलंकारों का उल्लेख किया है, जिनमें व्यंग्यांश का स्पर्श रहता है ।

ध्वनि काव्य में अलंकार-योजना :- यह पहले ही कहा जा चुका है कि ध्वनि-काव्य के अन्तर्गत वे ही अलंकार आते हैं जिनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चारुत्व की मात्रा अधिक हो । दूसरे शब्दों में जो स्वयं व्यंजक अथवा व्यंग्यरूप है। रसदृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो विपरीत भी सिद्ध होते हैं । उदाहरणार्थ - दुष्कर यमक, दुष्कर चित्रबन्ध तथा अंगश्लेष । शृंगार और उसमें भी विप्रलम्भ शृंगार यदि प्रधान रस हो और उसमें यदि अनुप्रास-योजना की जाए तो उसके बहुत से भेद, शृंगार के अनेक भेदों से विरुद्ध सिद्ध होंगे, क्योंकि अनुप्रास का लक्षण है -'एक समान वर्णों का विन्यास', यह बन्ध किसी भी प्रकार के वर्णों का हो सकता है । यदि कठोर वर्णों का बन्ध होगा तो शृंगार की अभिव्यक्ति मिलने के स्थान पर प्रतिरोध पैदा होगा । यदि शृंगार अंगी न होकर अंग हो तब उसमें कोई भी अनुप्रास अपनाया जा सकता है । यमक के

१- शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ।। ध्वन्या० २।१४ और उसकी वृत्ति ।

पूर्वोक्त अनेक भेद, दुष्कर चित्र, यमक-श्लेष की योजना शृंगार रस के अंगी रहने पर शक्ति भी उचित नहीं होती। विप्रलम्भ शृंगार में और भी अधिक दूर रहना[1] चाहिए, इसमें तो यमक आदि का विनिवेश कदापि नहीं होना चाहिए। ध्वनिकाव्य में और विशेष रूप से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत वही अलंकार मान्य है जिसकी योजना करते समय कवि को रसभूमिका से हटना न पड़े, उसके लिए अतिरिक्त प्रयत्न न करना पड़े।[2] उदाहरणार्थ -

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे । न तु वयम् ।।[3]

इस पद्य की योजना में कवि को अपनी रसभूमिका से लेशमात्र भी हटना नहीं पड़ रहा है, अतः ये अलंकार, अलंकार हैं।

यमक आदि[4] में ऐसा नहीं होता। स्वयं कवि को रसभूमिका से पृथक् होना ही पड़ता है। अन्य अलंकारों की स्थिति वैसी नहीं होती। अन्य अलंकार आश्चर्यकारी एवं दुर्घट तब प्रतीत होते हैं जब सामाजिक उस पर ध्यान देता है। कवि के लिए वे उतने ही सरल और स्वाभाविक होते हैं। जब प्रतिभासम्पन्न कवि का चित्त रससमाहित होता है तब ये अलंकार स्वतः आ जाते हैं। जैसे - कादम्बरी में वह स्थल जब चन्द्रापीड कादम्बरी को देखता है। और जैसे - सेतुबन्ध महाकाव्य में - मायानिर्मित राम के सिर को देख कर देवी सीता विह्वल होती हैं, तब यह चमत्कार देखते ही बनता है। यह उचित भी है। क्योंकि रसाक्षेपविशेष से ही व्यक्त होते हैं और यमक आदि अलंकार बाह्य से

१- ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।। ध्व० २।१५ और वृत्ति

२- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।। ध्व० २।१६ और वृत्ति

३- ध्व०पृ० २२१

४- ध्व० पृ० २२१-२२२

के ही धर्म हैं । यमक आदि अलंकार शब्दगत होते हैं, रस के लिए शब्द बाह्य अंग है और अर्थ अंतरंग । रूपक आदि अर्थालंकार हैं अत: वे अर्थ के साथ , रस के अंतरंग धर्म बन सकते हैं तथा रस में अर्थ के ही समान अनिवार्य रूप से ही उपस्थित हो सकते हैं । उनका रस में उपस्थित न होना ही अस्वाभाविक है । यमक आदि की स्थिति शब्द के ही समान बाह्य है, क्योंकि वे शब्दधर्म हैं । जहां कहीं वे रस में दिखाई भी देते हैं वहां सहृदय व्यक्ति उनकी अनुभूति से ही अधिक चमत्कार प्रतीत होता है, अत: वे ही प्रधान हो जाते हैं और रस को दबा देते हैं । वे तो केवल रसाभास के अंग बन सकते हैं ,क्योंकि वे कवि के अतिरिक्त यत्न से निष्पन्न होते हैं, उसी यत्न से नहीं जिससे रस निष्पन्न होता है ।[1] रूपक आदि अलंकारों की अलंकारता तभी अबाधित है जब ध्वनिकाव्य में जहां शृंगार व्यंग्य हो रहा हो उनकी[2] योजना विवेक के साथ समीक्षा करके की गई हो । वह समीक्षा निम्नलिखित है:-

१- रूपक आदि अलंकार सदैव रसादि के साथ संबंध से ही उपनिबन्धित किए जाएं। यथा- 'चलापांगां दृष्टिं' इत्यादि में[3] स्वभावोक्ति अलंकार है और वह वस्तुत: अभिलाषशृंगार में अंग बन रहा है ।

२- वे अलंकार स्वयं प्रधान न बन जाएं । यथा - 'चक्राभिघात:' इत्यादि पद्य में पर्यायोक्त अलंकार ही प्रधान बन गया है, विप्रलम्भ रस अप्रधान । अर्थात् यहां रसादि के तात्पर्य होने पर भी, पर्यायोक्त अलंकार की ही प्राधान्येन विवक्षा है।[4]

३- अंगरूप से उपस्थित करते समय भी , उसका अवसर पर ही ग्रहण हो । यथा- उपमाश्लेष के लिए उदाहृत 'उद्दामोत्कलिका' पद्य में उपमाश्लेष को कवि ने तृतीयचरण में उपस्थित किया, जो भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ के लिए[4] मार्गशोधक बन गया और पताकास्थानक के समान भावी घटना का सूचक भी ।

४- और उसका अवसर पर त्याग भी हो । यथा- श्लेषव्यतिरेक के लिए उदाहृत 'रक्तस्त्वं' पद्य में[5] पूरे पद्य में विद्यमान श्लेष को चतुर्थ चरण में व्यतिरेक के लिए छोड़ दिया है ।

१- ध्वन्या० पृ० २२२ और आनन्दवर्धन की पृ० ४७८-४८०

२- ध्वन्या० २।१९ पृ० २२२   ३-५ ध्वन्या० पृ० २२८-२४१

५- अवसरोचित ग्राह्य अलंकार का वहीं तक निर्वाह किया जाय, जहाँ तक उसकी आवश्यकता हो । आवश्यकता न होने पर उसका त्याग कर दिया जाए । यथा- 'कोपात् कोमल' इत्यादि पद्य में कवि ने प्रथम चरण में जिस रूपक को 'बाहुलतिका' इस प्रकार उपस्थित किया[1] है, उसे शेष तीन चरणों में भी उसी का प्रयत्न किया हो ऐसा नहीं ।

६- निर्वाह हो जाने पर अंगभूत के रूप में ही रखना चाहिए । यथा- 'श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे' इत्यादि में कवि ने उपमालंकार को आरम्भ से तृतीय चरण तक निबाहा और अन्त में व्यतिरेक[2] का भी पुट दे दिया, किन्तु इतने पर भी प्रधानता विप्रलम्भ शृंगार की ही है ।

जो कवि अलंकारों का उपर्युक्त रीति से निबन्धन करते हैं, उनके द्वारा निबद्ध की रसाभिव्यक्ति होती[3] है । यदि इसका अतिक्रमण होता है तो रसभंग हो जाता है । फिर भी बहुत से कवि हैं जो प्रबन्ध योजना में रस निबन्धन से पृथक होकर केवल अलंकार योजना में निरत दिखाई देते हैं । ऐसे कवियों का आनन्दवर्धन नामोल्लेख नहीं करते । केवल इतना कहते हैं -'इन महात्माओं में दोष प्रकट करना ही दोष दिखाना है । अतः इस दिशा में अधिक विस्तार से जाना उचित नहीं'[4] ।

इन दोषों से बचने के लिए रूपक आदि अलंकारों की रसव्यंजकता का जो सिद्धान्त अभी ऊपर कहा गया है उसके आधार पर जो अपने[5] प्रबन्धकाव्य का निर्माण करता है, उसे महान् आत्म लाभ होता है ।

इस प्रकार 'अलंकारों की रसानुकूल योजना' सम्बन्धी आनन्दवर्धन के विचारों को संक्षेप में ऊपर किए गए विश्लेषण के रूप में देखा जा सकता है ।

१- ध्वन्या० पृ० २३२

२- ध्वन्या० पृ० २३३

३- ध्वन्या० पृ० २४२

४- ध्वन्या० पृ० २३३-३४

५- ध्वन्या० पृ० २३३-३४

संघटना का स्वरूप और ध्वनिकाव्य में उसका महत्व -

वामन की रीति को ही आनन्दवर्धन ने 'संघटना' संज्ञा दी है। किन्तु वामन से कुछ भिन्न रूप में उसे स्वीकार किया है। वामन ने 'रीति' को तीन प्रकार का माना है - वैदर्भी, गौडी और पांचाली। ओजस् और कान्ति गुण वाली रचना 'गौडी' है। माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त रचना 'पांचाली', और समस्त गुणों से युक्त रचना 'वैदर्भी' है। आनन्दवर्धन की भी 'संघटना' तीन प्रकार की है और वह गुणों पर आश्रित रहती हुई, रसों की व्यंजक है। वह अपने नियन्त्रण और नियमन के लिए गुणों की अपेक्षा रखती है। यदि 'माधुर्य' गुण होगा तो संघटना मृदु और 'समासरहित' या 'अल्पसमासा' होगी। इसके विपरीत यदि ओजस् गुण होगा तो 'परुष' तथा 'दीर्घसमासा' संघटना होगी। 'प्रसाद' गुण में दोनों स्थितियां रह सकती हैं - मृदु और परुष। इस प्रकार संघटना तीन प्रकार की होती है। -

१- असमासा

२- मध्यम समासा

३- दीर्घ समासा

आनन्दवर्धन ने संघटना और गुणों के सम्बन्ध पर तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं[2] :-

१- गुण और संघटना का ऐक्य(अभेद), और भेद मानने पर दो पक्ष संभव हैं-

२- गुणों के आश्रित संघटना, अथवा

३- संघटना के आश्रित गुण।

१- (१) असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥ ध्व० ३।५

(२) गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा रसान्। ध्व० ३।६

२- अत्र च विकल्प्यं गुणानां संघटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।

संघटना की भाँति गुणों की अनियतता का प्रसंग - यदि गुण और संघटना एक तत्त्व हैं अथवा संघटना के आश्रित गुण हैं, तब संघटना की भाँति गुणों की अनियतता का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि गुण विषयक नियम व्यवस्थित हैं - यथा - माधुर्य, प्रसाद का प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र, अद्भुत आदि हैं। किन्तु संघटना में यह नियम विघटित हो जाता है। यथा - शृंगार में दीर्घसमासा और रौद्र आदि में असमासा संघटना भी देखी जाती है। शृंगार में दीर्घसमासा, जैसे -

(१) मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका अथवा

(२) अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते ।[2]
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ।।

तथा रौद्र आदि में असमासा, जैसे -

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां' इत्यादि में। अतः गुण संघटना स्वरूप नहीं है और संघटना के आश्रित भी नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि संघटनाश्रित गुण नहीं है तो गुण किसके आश्रित है? इस पर कहते हैं - गुणों का रसाश्रयत्व और शब्दाश्रयत्व तो गुण विवेचन के प्रसंग में कहा ही जा चुका है।

गुणों के शब्दाश्रयत्व पर आक्षेप : यदि पूर्वपक्षी कहे कि - जब गुण शब्दाश्रित है तब वे संघटना स्वरूप या संघटनाश्रित भी हो जायेंगे। क्योंकि गुण जो रसाश्रित होते हैं, वे (गुण) असंघटित शब्दों के आश्रित नहीं हो सकते। क्योंकि गुण के जो आश्रय हैं वे रस क्रम विभावानुभाव द्वारा संघटित हो कर ही अर्थविशेष का प्रतिपादन करते हैं।

इस पर सिद्धान्तवादी कहता है कि - ऐसा नहीं है क्योंकि रसादि का

१- ध्व० व्या० पृ० ३१२   २- ध्व० व्या० पृ० ३१२

३- ध्व० व्यालो० ३११

असंघटित वर्ण और पद से व्यंग्यत्व प्रतिपादित हो चुका है । अथवा रस आदि को वाच्यव्यंग्य मान लेने पर कोई नियत संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती । अतः अनियत संघटना वाले शब्द ही व्यंग्यविशेष से अनुगत होकर गुण के आश्रय हैं।

अनियत संघटना वाले शब्दों के आश्रयत्व पर आक्षेप -

इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि माधुर्य के विषय में इस प्रकार कह सकते हैं किन्तु ओजस् का अनियत संघटना वाले शब्दों का आश्रयत्व कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि असमासा संघटना कभी भी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी कहता है कि असमासा संघटना भी ओजस् का आश्रय बनती है । इसका उदाहरण ओजो गुण के अभिव्यंजकता के प्रसंग में - 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि दिया जा चुका है । उसमें सहृदयों को कोई अचारुत्व भी नहीं लगता । इस कारण गुणों के नियत संघटना से रहित शब्दाश्रयत्व में कोई हानि नहीं ।

अतः गुण अन्य हैं और संघटना अन्य है । और संघटनाश्रित गुण नहीं है ।[1] वरन् संघटना गुणाश्रित होती हुई रसों की व्यंजक है । वह अपने नियमन और निश्चय के लिए गुणों की अपेक्षा रखती है । इसी आधार पर संघटना तीन प्रकार की कही गई है -

१- असमासा २- मध्यमसमासा ३- दीर्घसमासा

संघटना के नियामक : संघटना के नियामक गुण नहीं होते , वस्तुतः संघटना के नियामक वक्ता, वाच्य और विषय होते हैं, जैसा वक्ता होगा[2] , जैसा वाच्यार्थ होगा तथा जैसा विषय होगा , वैसी ही संघटना भी होगी ।

वक्ता - इनमें से वक्ता दो ही सकते हैं - (१) कवि (२) कविनिबद्धपात्र

१- हि० ध्व० पृ० ३२१-३२४

२- तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।। ध्व० ३।६-७

यह दोनों अलग वृत्त और मिश्र दोनों ही सकते हैं। इनमें जीरत कवि या उसके द्वारा निबद्ध पात्र की भाषा में किसी भी प्रकार की संघटना हो सकती है। इसमें स्वतंत्रता है। किन्तु जहाँ तक वृत्त संघटना का सम्बन्ध है, वह रसौचित्य पर निर्भर है। रस नायकाश्रित तथा प्रतिनायकाश्रित होते हैं। नायक और प्रतिनायक कथानायक स्वभाव से धीरोदात्त आदि (धीरललित और धीरप्रशान्त) हो सकता है। तदनुसार[1] उनकी भाषा और वाक्यसंरचना भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है।

वाच्य -

काव्य में प्रयुक्त वाच्यार्थ अनेक प्रकार का होता है - कहीं वह रस का अंग होता है, कहीं रसाभाव से युक्त, कहीं अभिनेय होता है, कहीं अनभिनेय, कहीं वह उत्तम प्रकृति के पात्रों के द्वारा प्रतिपादित होता है, कहीं उससे भिन्न मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों द्वारा।

जब कवि या कविनिबद्ध पात्र, रस भाव रहित होते हैं, तब संघटना में स्वच्छन्दता रहती है। किन्तु जब कवि या कविनिबद्धपात्र रस भावादि से युक्त होंगे और ध्वन्यात्मभूत रसव्यंग्य प्रधान होगा तब संघटना निश्चित ही असमासा और मध्यमसमासा होगी। करुण और विप्रलम्भ शृंगार में असमासा संघटना होगी। क्योंकि दीर्घसमासा संघटना प्रधान-रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करती है। विशेष रूप से नाट्य में। करुण और विप्रलम्भ शृंगार अत्यन्त सुकुमार होते हैं, अतः इनमें दीर्घ समास से होने वाली अर्थ की अस्वच्छता और उससे होने वाली विलम्ब से रसप्रतीति तनिक भी सह्य नहीं। यदि रौद्र रस हो और नायक धीरोद्धत हो मध्यमसमासा संघटना प्रयुक्त होती है। और कहीं-कहीं दीर्घसमासा भी। किन्तु दीर्घसमासा संघटना केवल वहाँ प्रयुक्त होती है जहाँ रसोचित वक्तव्य वस्तु दीर्घसमासा संघटना के बिना[2] व्यक्त नहीं होती हो और जहाँ उससे रसप्रतीति में व्यवधान न होता हो।

सभी[3] संघटनाओं में एवं सभी रसों में समान रूप से प्रसाद गुण[4] अवश्य व्याप्त रहना चाहिए। प्रसाद का अर्थ है - शब्द और अर्थ की स्वच्छता। इस प्रसाद गुण के अभाव

१- ध्वन्या० ३।६ की वृत्ति   २- ध्वन्या० पृ० ३२०-३२१

३- समासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसंघटनासाधारणश्चेत्युक्तम् - ध्वन्या० पृ० ३२६। ४- ध्वन्या० २।१० की वृत्ति पृ० २२३।

में, असमासा संघटना भी करुण और विप्रलम्भ शृंगार को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती । इसके विपरीत प्रसाद गुण के रहने पर मध्यमसमासा संघटना भी करुण और विप्रलम्भ शृंगार को व्यक्त करने में समर्थ होती है । अतः प्रसाद गुण का सभी संघटनाओं में रहना आवश्यक है । रौद्र रस में भी जहां असमासा संघटना होती है अथवा कठोर वर्णों का अभाव रहता है, वहां प्रसाद गुण से अभिप्रेत रस की अभिव्यक्ति हो जाती है[1] । अतः अभिप्रेत रस की अभिव्यक्ति हो जाने पर अनौचित्य नहीं होता । गुण के अभाव में केवल संघटना रसाभिव्यक्ति में असमर्थ रहती है । अतः यह निश्चित है कि रसव्यंजक संघटना गुणाश्रित ही है ।

<u>विषय</u> :

विषयाश्रित औचित्य भी संघटना का नियमन करता है[2] । यह काव्य प्रभेदों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है । काव्य के प्रभेद - संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि के आधार पर भी संघटना का चयन किया जाता है । इनमें से प्रबन्ध की भांति मुक्तकों में भी कवि लोग सुदृढ़ रचना करते हैं । जैसे - अमरुकशतक में । सन्दानितक आदि में पदों की रचना में विकटता अपेक्षित रहती है, अतः इनमें मध्यमसमासा और दीर्घसमासा दोनों ही रचनाएं हो सकती हैं । जहां ये संदानितक आदि प्रबन्ध में आते हैं वहां ये स्वयं प्रधान रहते हैं, अतः इनमें संघटना की योजना प्रबन्ध स्थिति के अनुरूप ही होनी चाहिए । पर्यायबन्ध में भी असमासा और मध्यमसमासा संघटना होनी चाहिए, कभी कभी अर्थ के औचित्यानुसार दीर्घसमासा संघटना भी हो सकती है, किन्तु उसमें परुषा और ग्राम्या वृत्ति को छोड़ देना चाहिए । परिकथा में स्वेच्छया कोई भी संघटना हो सकती है, क्योंकि उसमें इतिवृत्त मात्र रहता है, रसनिबन्धन का उसमें कोई विशेष महत्व नहीं होता है । प्राकृत में निबद्ध खण्डकथा और सकलकथा में कुलक आदि के निबन्धन से बाहुल्य के कारण इनमें दीर्घसमासा संघटना होने पर कोई विरोध नहीं । इनमें रस के अनुसार उचित वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए । सर्गबन्ध में यदि रस में तात्पर्य हो, तब संघटना

१- ध्वन्या० ३।६ की वृत्ति ।

२- काव्य प्रभेदों का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में दिया है । द्रष्टव्य ध्व० लो० पृ० ३२३-३२८ ।

की योजना रस के अनुरूप होनी चाहिए । अन्यथा संघटना में स्वतन्त्रता है । अभिनेयार्थ में सर्वथा रस के निबन्धन में अभिनिवेश करना चाहिए । यह पद्य प्रबन्ध काव्य का विवेचन हुआ ।

गद्य-प्रबन्ध-काव्य - आख्यायिका और कथा हैं । पद्य से इनका अन्तर केवल छन्द की छोड़ है । इनमें संघटना नियामक तत्व पूर्वोल्लिखित पद्य-काव्य के समान ही माने गए हैं । अर्थात् वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य संघटना के नियामक हैं । जैसे पहले कहा जा चुका है, वक्ता के रसभावरहित होने पर रसानुरूप संघटना होनी चाहिए । किन्तु आख्यायिका और कथा इन दोनों में परस्पर विषय के कारण भिन्नता है । यदि विषय पर ध्यान न दिया जाय तो दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता । आख्यायिका में मध्यमसमासा और दीर्घसमासा संघटनाएं होती हैं । क्योंकि यह विकट बन्ध के कारण विशेष शोभा प्राप्त करता है और इसी उत्कर्ष आता है । कथा में भी विकट बन्ध प्रचुरता में अवश्य रहता है किन्तु इसमें संघटना का चयन रस पर ही निर्भर होना चाहिए ।

अन्त में आनन्दवर्धन कहते हैं कि सर्वत्र (गद्य और पद्य में) रसौचित्य रचना शोभा देती है अतः गद्य और पद्य दोनों में संघटना रसानुरूप चुनी जाती है किन्तु, इसमें विषयगत औचित्यानुसार कुछ भेद हो जाता है । जैसा आख्यायिका एवं गद्यबन्ध में दीर्घसमासा रचना विप्रलम्भ शृंगार और करुण में शोभा नहीं देती । इसी प्रकार नाटक आदि में असमासा संघटना होनी चाहिए । किन्तु रौद्र वीर आदि वर्णन में समास युक्त संघटना होनी चाहिए । अतः विषयानुसार संघटना की मात्रा घटती बढ़ती है । जैसे आख्यायिका में अत्यन्त असमासा संघटना और नाटक में अति-दीर्घ समासा संघटना[1] नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार संघटना के नियमों का अनुसरण करना चाहिए ।

ध्वनि काव्य में वृत्ति तत्त्व -

आनन्दवर्धन ने 'व्यवहार' को वृत्ति कहा है ।[2] यह दो प्रकार की होती है - १- शब्दवृत्ति और २- अर्थवृत्ति[3] ।

१- द्र० ध्व० ३।७-८ की वृत्ति ।

२- व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । ध्व० ३।३३ की वृत्ति ।

३- शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ध्व० ३।४७

शब्दवृत्ति -

रस के अनुगुण से व्यवस्थित जो औचित्यवान् वाच्याश्रित व्यवहार है[1] वह उपनागरिका आदि वृत्तियां हैं । उद्भट ने तीन प्रकार की काव्य वृत्तियाँ मानी हैं - परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या । इन्हें ही आनन्दवर्धन ने शब्दवृत्ति कहा । और इसे रसादि से सम्मिश्रित मानते हुए, काव्य का अपूर्वशोभाधायक माना ।

अर्थवृत्ति -

भरत ने चार प्रकार की नाट्य वृत्तियां मानी - भारती, कैशिकी, आरभटी और सात्वती । इन्हें ही आनन्दवर्धन ने अर्थवृत्ति कहा । तथा शब्द वृत्ति के समान अर्थवृत्ति के लिए भी कहा - रस के अनुगुण से, जो औचित्यवान् वाच्याश्रित व्यवहार है वह कैशिकी आदि वृत्तियां हैं । इससे नाट्य में अपूर्व शोभा आती है ।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है - [illegible] आदि तो शरीरभूत हैं किन्तु रसादि इन दोनों(शब्द अर्थ) वृत्तियों के जीवितभूत हैं । अतः वृत्तियां रसादि के तात्पर्य से सम्मिश्रित होकर काव्य और नाट्य में अपूर्व शोभा ला देती है ।

दोष -

यद्यपि काव्य में दोष का विवेचन करना ध्वनिकार का अभीप्सित विषय नहीं था इसलिए इन्होंने दोष के यथावत् प्रसंग को उपस्थित न कर उसके उसी अंश का स्पर्श किया जिससे उनका प्रयोजन पूरा होता था । इन्हें ध्वनि की स्थापना करनी थी अतः इन्होंने गुणों के ही समान दोषों के विषय में भी कहा कि जैसे गुणों की व्यवस्था रस पर निर्भर है, वैसे ही दोषों की दोषता और अदोषता की व्यवस्था भी रस पर ही निर्भर है । इसीलिए वे कहते हैं -

दोष काव्य के शरीर में रहते हैं[2], किन्तु उनसे हानि या लाभ जिसका होता है वह शरीर नहीं है, वह रस है ।

१- रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा: स्थिता: ।। ३।३३

२- ध्व० व्या० २।११

इसलिए ध्वनि प्रसंग मत अभिव्यक्त व्यंग्य-रसादि के बीच में सम्भावित विरोधों का विवेचन, जिसे परवर्ती आचार्यों ने 'रसदोष' नाम से विवेचित किया है, उन्होंने बड़े मन एवं संयम के साथ यहां रखा है।

कारिकाएं

रसों का विरोध अविरोध विचार -

व्यंग्यार्थ के त्रिविध भेदों - वस्तु, अलंकार और रसादि में रसादि व्यंग्य का विशेष महत्व है। उसी काव्य में विशेष चारुत्व आता है। अतः ध्वनिकार का मत है कि महाकवियों को अपनी काव्यशिल्प में उसी लिए विशेषतः सचेत रहना चाहिए। अन्यथा काव्य में रसविरोधी तत्वों के आ जाने से नीरसत्व का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। इस विभ्राति के साथ विरोधी तत्वों के प्रति किंचित् भी असावधान रहने पर एक भी श्लोक रसमय सम्पन्न न हो सकेगा। क्योंकि रस अत्यन्त सुकोमल तत्व होता है थोड़ा भी विरोधी झटका नहीं सह सकता। यह अवधान केवल प्रबन्ध काव्य में ही नहीं, मुक्तक काव्य में और भी अपेक्षित है।[1] क्योंकि वे रस की पुटिकाएं माने गए हैं।

अतः रस के लिए निम्नलिखित विरोधियों के परिहार की आवश्यकता है।[2]

१- विरोधी रस की सामग्री का उपादान

२- रस से सम्बद्ध भी इतर वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन

३- रस का असमय में विच्छेद

४- रस का असमय में प्रकाशन

५- पूर्णतः पुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन

६- वृत्तिगत अनौचित्य

१- विरोधी रस की सामग्री का उपादान - यदि प्रस्तुत रस से विरुद्ध रस के

१- हिं० ध्व० ३।१७ पृ० ३६०

२- हिं० ध्व० ३।१८-१९ पृ० ३६२

विभाव अनुभाव या संचारी भाव को ग्रहण किया जाता है तो उससे प्रस्तुत रस अपनी विश्रान्ति तक नहीं पहुंच पाता । जैसे शान्त रस के प्रसंगों में, उसके अपने विभाव रूप से निरूपित होने के बाद भी शृंगार आदि के विभाव का वर्णन कर दिया जाय तो शान्त रस अपनी विश्रान्ति तक नहीं पहुंच पायेगा ।

इसी प्रकार, विरोधी संचारी भावों से भी रस विरोध सम्भव है । जैसे - प्रिय के प्रति कामिनी के प्रणयकलह से कुपित होने पर, वैराग्य के उपदेश द्वारा अनुनय किया जाय ।

विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह से भी रस विरोध सम्भव है । उदाहरणार्थ- प्रणयकुपित होने पर प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति में क्रोध के आवेश से विवश नायक के रौद्र के अनुभावों का वर्णन करने पर ।[1]

२- रस से सम्बद्ध अन्य वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन -

जब कवि अन्य वस्तुओं का, रस के प्रसंग में अति विस्तृत वर्णन करने लगता है, तब भी प्रस्तुत रस की अनुभूति में व्यवधान पड़ता है । जैसे - कोई कवि किसी नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन कर रहा हो, उस समय यमक आदि अलंकारों के निबन्धन में रसिकता के कारण बढ़ा-चढ़ा कर पर्वत आदि का वर्णन करने लगे ।[2]

३- रस का असमय में विच्छेद -

जब किसी स्थल पर कवि को रस का उपनिबन्धन करना आवश्यक हो किन्तु, उस स्थान पर रस का निबन्धन न किया जाय, तब भी रसानुभूति में विघ्न आता है । यथा - नायक नायिका के अत्यधिक स्पृहणीय समागम के अवसर पर - शृंगार रस परम परिपोष की अवस्था पर हो, और उन दोनों को परस्पर अनुराग भी विदित हो गया हो, तब भी उनके समागम के उपाय की चिन्ता के उचित व्यवहार को छोड़कर, दूसरे व्यवहार का वर्णन करने लगना ।[3]

४- रस का असमय में प्रकाशन-

रस के असमय में प्रकाशन से भी रसानुभूति में व्यवधान आता है ।

१- ध्व० व्या० पृ० ३६१   २- ध्व० व्या० पृ० ३६२

३- ध्व० व्या० पृ० ३६३

उदाहरणार्थ - कृष्ण के समुद्र को रचे विविध वीरों के नाश वाले संग्राम में, विप्रलम्भ शृंगार के उपक्रम के बिना और बिना उचित कारण के राम जैसे देवता का भी शृंगार कथा में पड़ जाने का वर्णन करने लगना । यहाँ केवल इतना कह देने से समाधान नहीं हो सकता कि नायक दैवी व्यामोह से ऐसा कर रहा है । क्योंकि नाटक रचना के समय कवि की प्रवृत्ति का विषय मुख्यतः रसबन्ध में ही होना चाहिए । इतिवृत्त का वर्णन रसबन्ध का उपाय मात्र है । और यदि कवि इतिवृत्त मात्र के लिए नाटक रचना करता है तो उसका प्रयत्न अनुपादेय है । इसीलिए यह कहा गया है कि उस प्रतिभावान् कवि आलोक को चाहने वाला व्यक्ति वाच्यवाचक रूप दीपशिखा के प्रति यत्नवान् होता है । यदि आलोक ही नहीं तो दीपक व्यर्थ है और यदि काव्य में रसव्यंग्य नहीं तो जो भी लिखा गया सब निरर्थक है ।[1]

इतिवृत्त का प्राधान्य होने पर रसभंग की यह त्रुटियाँ प्रायः कवियों से हो जाया करती हैं, इसलिए इन्हें सचेत करने के लिए इस ध्वन्यालोक की रचना की गई है । यहाँ ध्वनिकार ने स्मरण दिलाया है कि केवल ध्वनि की स्थापना मात्र हेतु ही इस ओर प्रवृत्त नहीं हुए हैं । परन्तु मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि कविगण अपने काव्य में रसव्यंग्य का विशेष ध्यान रखें । इतिवृत्त के साथ रस के अंगांगिभाव के प्रति सचेत रहना चाहिए ।[2]

५- <u>पूर्णतः पुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन-</u>

रसभंग का एक कारण यह भी है कि जो रस परम परिपुष्टावस्था को प्राप्त हो चुका है तो, उसका बार-बार उद्दीपन करना । ऐसा करने से उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता उसकी स्थिति परिम्लान पुष्प के समान हो जाती है ।[3]

१- द्र० ध्व० पृ० ३४३ ।

२- अतएव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवं-विधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धः, न तु ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन । ध्व० पृ०३४३-४४

३- उपभुक्तो हि रसः परिम्लानपुष्पकल्पः कल्प्यते । ध्व० पृ० ३४३

६- वृत्तिगत अनौचित्य -

वृत्ति अर्थात् व्यवहार का जो अनौचित्य है वह भी रसभंग का हेतु है । यथा - नायक के प्रति किसी नायिका आदि के द्वारा उचित भंगी के बिना स्वयं सम्भोग की इच्छा प्रकट करना । अथवा भरत की प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा काव्यालंकार में प्रसिद्ध उपनागरिका[1] आदि वृत्तियों का अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन भी रसभंग का हेतु है ।

ये रसभंग के कतिपय हेतु हैं । रसभंग[2] के ऐसे ही अन्य हेतुओं की कल्पना कवि स्वयं करें और उनका परिहार करें ।

मुख्य तत्व यह है कि कवि को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसका मुख्य लक्ष्य रस है । उसके विषय में उसे जागरूक होना[3] चाहिए । क्योंकि [illegible] प्रबन्ध का नीरस होना ही कवि के लिए महान् अपयश है ।

विरुद्ध रस और उनकी योजना -

अभी विरुद्ध रस विषयक विवेचन हुआ है । अतः इस पर विचार कर लेना उचित होगा कि किन किन रसों में परस्पर विरोध रहता है और उपयोग किस रूप में होना चाहिए -

विरुद्ध रस :

१- शृंगार और बीभत्स
२- वीर और भयानक
३- शान्त और रौद्र
४- शान्त और शृंगार[4]

१- ध्वन्या० पृ० ३७४
२- एतेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । ध्वन्या० पृ० ३७४
३- ध्वन्या० पृ० ३७४
४- ध्वन्या० पृ० ३८२ ।

<u>अविरुद्ध रस</u>
१- वीर और शृंगार
२- शृंगार और हास्य
३- रौद्र और शृंगार
४- वीर और अद्भुत
५- वीर और रौद्र
६- रौद्र और करुण
७- शृंगार और अद्भुत [1]

रसयोजना

प्राय: विरुद्ध रसों के समावेश से भी कोई दोष नहीं आता । यदि इन्हें निम्नलिखित दो रूपों में प्रस्तुत किया जाय ।

१- बाध्य रूप में
२- अंग रूप में

<u>१- बाध्य रूप में विरुद्ध रस की योजना -</u> बाध्य का अर्थ है दब जाना या अभिभव । अर्थात् मुख्य रस का प्रतिष्ठित हो जाए और विरुद्ध रस उसके अभिभूत हो जाए, तब बाध्य रूप से वर्णित होने पर भी विरोधी रस, मुख्य रस का पोषक बन जाता है । उदाहरणार्थ -

क्वाकार्यं शशलक्ष्मण: क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा ।
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा: कृतधिय: स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेत: स्वास्थ्यमुपैहि क: खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ।।

यहां विप्रलम्भ शृंगार प्रधान रस है । इसमें वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मरण से, शंका दैन्य से और धृति चिन्ता से अभिभूत हुई, इनमें दूषण प्रतीत

१- ध्वन्या० पृ० ३८०

२- विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला। ध्वन्या० ३।२०

हो रही है । औत्सुक्य स्मरण और दैन्य भी चिन्ता में विलुप्त प्रतीत हो रहे हैं । और यह चिन्ता भी अपने गर्भ में इन समस्त भावों को समेटे हुए कान्ता-विषयक विप्रलम्भ रति में प्रतीत हो रही है । यहाँ अभीष्ट वस्तु यह है कि अपने अंग का योग, अपने-आप और वैदुष्य की स्मृति और अपनी लोकप्रियता का स्मरण ऐसे भाव हैं जो शान्तरस विरोधी हैं । शिवोपासनेच्छा एक शान्तरस ही है । इसके साथ कवि ने इन विरोधी भावों को भी प्रस्तुत किया है, किन्तु वे विरुद्ध प्रतीत नहीं हो रहे, क्योंकि कवि इन विरोधी भावों के बाद ही उनके तुरन्त बाद इन भावों का चित्रण करता गया है जो विप्रलम्भ रति के अंग हैं, और उनको पुष्ट करते हैं । फलतः[1] विप्रलम्भ-रति के आरम्भ से अन्त तक अबाधित होती परिलक्षित हो रही है ।

२- <u>अंग रूप में विरुद्ध रस की योजना-</u> अंगभाव का अर्थ है अप्रधानभाव । जब एक रस प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित या स्थित है तब यदि विरुद्ध रस को उसके सहायक रूप में, अप्रधानभाव से उपस्थित किया जाय तो कोई दोष नहीं होता।[2]

यह अंगभाव तीन प्रकार का होता है :-

१- <u>स्वाभाविक अंगभाव-</u> कभी कभी स्वाभाविक रूप से विरुद्ध रस दूसरे रस के प्रति अंग बनता है । उदाहरणार्थ -

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

यहाँ करुण रस की स्थिति - चक्कर, आलस्य, मूर्छा, अन्धकार, शारीरिक शैथिल्य, आदि विप्रलम्भ शृंगार के स्वभावतः अंग बन रहे हैं । अतः करुण रस इतना प्रबल नहीं है कि विप्रलम्भ का विरोध कर सके । अतः यहाँ कोई दोष नहीं है ।

१- ध्वन्यालोक, पृ० ३४२   २- ध्वन्या० पृ० ३४८

२- आरोपित अंग भाव- कभी कभी आरोपित रूप में विरुद्ध रस दूसरे रस का अंग बनता है । यथा -

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥

यहाँ वर्णन है वियोगिनी की व्याधि का, किन्तु वह इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसके विशेषणों से करुण रस की भी प्रतीति होती है । इस प्रतीति में कारण है विशेषणों की उभयान्वयिता । और यहाँ विप्रलम्भ के अनुभावों पर करुण के अनुभावों का आरोप होता है, और मुख्य विप्रलम्भ ही रहता है । फलतः करुण उसका अंग बन जाता है ।[1]

३- परस्परविरुद्धों का किसी अन्य के प्रति अंगभाव-

इसमें अधिकारिक होने के कारण प्रधानभूत एक वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों अथवा भावों का अंगभाव प्राप्त होने पर भी दोष नहीं होता। यथा-

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में करुण रस भी है और शृंगार भी । दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, किन्तु स्तुति से गम्य शिव के प्रभावातिशय के प्रति दोनों ही स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष होकर अंग हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि - विरोध प्रधान रस के साथ ही रहता है, अप्रधान रस के साथ नहीं ।[2]

विशेष परिस्थिति : विशेष परिस्थिति में विरोधी रस समान परिपोष पाकर भी अबाधक सिद्ध होता है । उदाहरणार्थ - युद्धभूमि में कट कर गिरे भूरिश्रवा के हाथ को लेकर विलाप कर रही स्त्री के वाक्यार्थ -'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि में वाक्यार्थ शृंगार परक है किन्तु प्रकरण और वातावरण करुण है । इसलिए शृंगार अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होकर भी पुष्टि करुण रस की ही कर रहा है ।

१- ध्व० पृ० ३४५ २- ध्वन्या० २०४

अत: रस स्वभावत: विरोधी हो या अविरोधी, वह तभी विरोधी सिद्ध होता है जब वह पुष्ट और मुख्य रूप से विवक्षित रस की अपेक्षा अधिक मात्रा में अनुभव में आता है ।[1]

यहाँ तक विरुद्ध रसों के उदाहरण दिए गए । अब अविरुद्ध रसों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

> एकतो रोदिति प्रिया अन्यत: समरतूर्यनिर्घोष: ।[2]
> स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ।।

एक ओर प्रिया अश्रुपूर्ण नेत्र लिए खड़ी है और दूसरी ओर समरतूर्य का निर्घोष हो रहा है । ऐसी स्थिति में स्नेह और रणराग से भट का चित्त दोलायित हो रहा है ।

यहाँ शृंगार और वीर दोनों का परिपोष समान मात्रा में हो रहा है। यह दोनों रस परस्पर अविरोधी भी हैं । यहाँ 'भट' शब्द से यह स्पष्ट हो रहा है कि वीर रस की प्रधानता है और शृंगार भी कुछ कम नहीं है । अत: यहाँ मुख्य रस वीर ही है , शृंगार उसके समान परिपोष पाकर भी उसका अंग बन कर ही स्थित है । इसका एक दूसरा उदाहरण -

> कण्ठाश्लि[illegible] करे हास्याभिलाषिणी ।
> कृत्वा कर्णान्तं विषमचरितेन नेत्रछाया गुणेन ।
> [illegible]
> ऐसी [illegible] मृगनयनी दृष्टा तु [illegible] ।।[3]

इसमें शृंगार और हास्य भी परस्पर अविरुद्ध रस हैं । कवि ने दोनों को समान पोषक सामग्री से पुष्ट किया है तथापि रति प्रधान हो जाती है । हास्य इतना अधिक परिपुष्ट नहीं हो पाता कि शृंगार की अपेक्षा अधिक चमत्कारी प्रतीत हो ।

उपर्युक्त विवेचन का आधार था एक वाक्य अथवा कोई एक पद । इस संदर्भ में प्रबन्ध काव्य के आधार पर विवेचन भी उचित होगा ।

१- अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ।। ध्वन्या० ३।२४

२- ध्वन्या० पृ० ३८३(की संस्कृत छाया । ३- ध्वन्या० पृ० ३८३ ।

प्रबन्ध में रसयोजना

महाकाव्य अथवा नाटक आदि प्रबन्धों में नाना रसों का उपनिबन्धन होने पर भी, काव्य का उत्कर्ष चाहने वाले कवि को केवल[1] एक रस का अंगी रूपेण निबन्धन करना चाहिए, अन्य रसों का अंग[2] रूपेण।[3] ऐसा करने से अंग रस से विरोधित रस अंगी रस को उपहत नहीं कर पाते। उस अंगी रस को प्रबन्ध में आरम्भ से अन्त तक बीच बीच में प्रकट होते जाना चाहिए। जैसे प्रबन्ध काव्य में ही आरम्भ से अन्त तक व्याप्त होकर विद्यमान रहने वाला कार्य - प्रयोजन के अतिरिक्त बीच-बीच में अन्य कार्य भी उपस्थित होते हैं किन्तु उनकी ओर बढ़ता व्यापार मुख्य कार्य से विरुद्ध नहीं ठहरता। जैसे प्रत्येक अवान्तर[4] कार्य अन्त में मुख्य कार्य से जा मिलता है और मुख्यता मुख्य कार्य में ही रहती है।[5] इस प्रकार की योजना से सहृदय सामाजिकों को अविच्छिन्न आस्वाद मिलता है।

जैसा अभी पहले कहा जा चुका है[6], उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में भी विरोधी या अविरोधी रस का परिपोष न हो इसके लिए निम्नलिखित तथ्य अपेक्ष्य हैं -

१- रस यदि अविरोधी हो तो उसका परिपोष समान मात्रा तक ही किया जाय उससे अधिक नहीं।[7] क्योंकि उत्कर्ष का साम्य होने पर, इन दोनों का विरोध सम्भव नहीं। जैसे -'एकतो रोदिति प्रिया' इत्यादि में शृंगार और वीर की मात्रा तक ही परिपुष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'कण्ठाच्छिन्नाक्षमाला-वलयमिव करे' इत्यादि में हास्य को शृंगार की मात्रा तक।

२- रस यदि अविरोधी हो तो उसके संचारी भावों की मात्रा, मुख्य रस के संचारी भावों की मात्रा से अधिक नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा हो भी जाय तो वह बहुत देर तक न रहे, तुरन्त शीघ्र ही प्रधान रस के संचारी भाव को उपस्थित करना चाहिए।

१- ध्व० ३।२२ । २- ध्व० ३।२२ । ३- ध्व० ३।२३

४- [illegible] यथापि वे निबध्ने प्रख्याताभिमत प्रकृति । ध्व० पृ० ३८०

५- पूर्वोद्धृत कारिका ध्व० ३।२२ ६- ध्व० पृ० ३८२ । ७- ध्व० पृ० ३८३ ।

३- अंगभूत रस के परिपोष प्राप्त कर लेने पर भी, उसकी अंगता के प्रति सजग रखना चाहिए। अन्यथा ऐसा न हो कि वह अंगी ही बन जाए।[१]

४- अंगभूत रस की मात्रा अंगी रस की अपेक्षा कम ही रखनी चाहिए। जैसे - यदि शान्त रस अंगी हो तो उसके साथ शृंगार की मात्रा इतनी ही रखनी चाहिए जिससे निर्वेद को राग में परिणत या अनुराग से अभिभूत न कर दे।[२] कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी होती है जिसमें रसान्तर स्वयं परिपोष पा लेते हैं। उनमें रसान्तर की मात्रा अधिक न हो और वे अंग ही बने रहें - इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए।

ऊपर जो रसों के अंगांगिभाव की चर्चा हुई है, उसमें 'रस-अंगता' के विषय में यह शंका हो सकती है कि - रस, रसत्व को प्राप्त तभी होता है जब वह अंगी रहता है। प्रधानता रस का अनिवार्य धर्म है। अंग बनते ही रस, रस नहीं रह जाता। तब अंगभूत 'रस' को रस कैसे कहा जाय?

रस की अंगता का अर्थ है - जिसे अंगभूत रस कहा जा रहा है[३] वह रस नहीं, अपितु रस जैसी स्थिति तक पहुँचा हुआ स्थायी भाव है।

प्रबन्ध में विरोधी रस की योजना के उपाय-

यदि प्रमुख रस के साथ उसी प्रबन्ध में उसका विरोधी रस भी प्रस्तुत करना हो तो यह देखना चाहिए कि विरोध किस कारण है। यदि दोनों रसों का किसी एक आश्रय- नायक या एक ही पात्र में रहना विरोधकारक हो तो उन रसों को भिन्न भिन्न पात्रों में दिखला देना चाहिए। जैसे वीर और भयानक रस, एक ही व्यक्ति में नहीं दिखलाए जा सकते। इन्हें अलग -अलग व्यक्तियों में दिखलाया जा सकता है। वीर को नायक में[४] और भयानक को प्रतिनायक में। इससे इनका विरोध समाप्त हो जाता है।

१- ध्वन्या० पृ० ३८८ — २- ध्वन्या० पृ० ३८४

३- ध्वन्या० पृ० ३८६-३८७

४- विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥
ध्वन्या० ३।२५ तथा वृत्ति पृ० ३८७-३८८

२- नैरन्तर्यपरिहार[1] :

कभी-कभी विरुद्ध रसों का आश्रय एक ही व्यक्ति होता है, किन्तु विरोध निरन्तरता के कारण होता दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में कवि को चाहिए कि इन दोनों के बीच में, कोई तीसरा रस ला दे, जो दोनों रसों का अविरोधी हो। नागानन्द में कवि ने शान्तरस के पश्चात् जब शृंगार रस को उपस्थित करना चाहा तो बीच में अद्भुत रस को उपस्थित कर दिया। अद्भुत के स्थायी भाव 'विस्मय' के आते ही जीमूतवाहन की निर्विकल्पता अभिभूत हो गई और जब मलयवती का साक्षात्कार हुआ तब रति को उत्कर्ष का अवसर मिल गया।

नैरन्तर्य के निराकरण के कारण विरोध का परिहार केवल एक काव्य में ही नहीं, एक वाक्य में भी हो जाया करता है।[2] उदाहरणार्थ -

'भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमाला' इत्यादि।

यहाँ पर परस्पर विरोधी शृंगार और बीभत्स रस के मध्य में वीर रस को लाकर उपस्थित किया गया है। वीररस ऐसा रस है जो उक्त दोनों रसों का मित्र है।[3]

इस प्रकार कवि को विरुद्ध और अविरुद्ध रसों को अपने प्रबन्ध में अवधानपूर्वक निबन्धित करना चाहिए। किन्तु शृंगार रस में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि, यह रस सर्वाधिक मधुर और सुकुमार है। और यह रति का परितोष रूप है, रति भाव का पूर्ण भाव विरोधी से ही भंग[4] सम्भव होता है। अतः शृंगार रस का थोड़ा सा भी विरोध असह्य हो जाता है।

सुकवि को इस रस की योजना में बहुत सावधान रहना चाहिए।[5] क्योंकि इसमें प्रमाद होते ही कवि की अज्ञता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

जो कवि रसादि के विरोध अविरोध को ठीक[6] से समझ लेता है उसे काव्य-निर्माण में कहीं भी कोई व्यामोह नहीं होता।[7]

१- ध्वन्या० ३।२६ तथा वृत्ति पृ० ३८८-३८६ । २- ध्वन्या० ३।२७

३- ध्वन्या० पृ० ३६५ ४- ध्वन्या० पृ० ३६६

५- ध्वन्या० ३।२८ तथा वृत्ति पृ० ३६६-३६७ ६- ध्वन्या० ३।२६

७- विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥ ध्वन्या० ३।३० ध्वन्या० पं० ४००

ध्वनि रचना से प्रतिभावान् कवि की श्रीवृद्धि

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ-साथ उससे मिलने वाले लाभों का भी उल्लेख किया है । ये लाभ कवि और सहृदय दोनों को मिलते हैं । ध्वनि का आशय ले कर कवि अपनी काव्य-सृष्टि में नित्य नूतन रचनाएं करता रहता है और सहृदय नित्य नवीन काव्यार्थों का आस्वाद लेता रहता है । यद्यपि कवि की काव्य-सृष्टि में वर्ण्य-विषय लोकप्रसिद्ध अथवा पूर्वकविप्रतिभाख्यात होते हैं, तथापि ध्वनि के किसी एक भेद के आश्रयण मात्र से उस वस्तु में उसी प्रकार चारुत्व आ जाता है जिस प्रकार मधुमास के वृक्षों में ।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि से प्राप्त होने वाले लाभों का विस्तृत -विवेचन निम्न-लिखित प्रकार से किया है :-

काव्य-सृष्टि का प्रजापति स्वतन्त्र कवि ही होता है । वह जैसा चाहता है उस सृष्टि को वैसा ही बना लेता है ।[1] वह स्वतंत्र होने के कारण अपनी सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि से जड़ पदार्थों को चेतनोचित और चेतन पदार्थों को जड़ोचित रूप में प्रस्तुत करता है ।[2] लोक में शब्दों से वह अर्थ निकलता है जो शब्दानुशासन या अभिधानकोश में प्रसिद्ध होता है, किन्तु काव्य में शब्द से वह अर्थ प्रस्तुत होता है, जो कवि को विवक्षित रहता है ।[3] इसी कारण कवि के अभिप्रेत अर्थ को शब्द के गर्भ में ही ढूंढना पड़ता है । कुछ अर्थ ऐसे भी होते हैं, जो केवल कविप्रतिभा से प्रसूत होते हैं, अतः जिनका अस्तित्व केवल प्रातिभ होता है । इसीलिए कवि की काव्यसृष्टि में अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य होता है ।

१- अपारे काव्यसंसारे कविरेक: प्रजापति: ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।। ध्वन्या० पृ० ४९८

२- भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकवि: काव्ये स्वतन्त्रतया ।। वही

३- विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थ: । ध्वन्या० पृ० ४९९

काव्यार्थ केवल शब्दानुशासनजन्य वाच्य-अर्थ तक सीमित नहीं होता ,उसकी व्याप्ति व्यंग्यार्थ तक होती है । यही व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य का प्राणभूत या रहस्यभूत तत्त्व है । व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य । इन दोनों ही स्थितियों में यह अर्थ कविप्रतिभा के लिए उपयुक्त है । क्योंकि असंख्य-गणनातीत काव्यों के पूर्व निर्मित होने पर भी, कवि उक्त दोनों रूपों (ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य)[1] में रहस्यात्मभूत- व्यंग्यार्थ का आश्रयण करके नित्य-नूतन रचना कर सकता है ।

किन्तु इस व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य न तो प्रत्येक शब्द में होता है और न ही प्रत्येक कवि में । यह सामर्थ्य किन्हीं विरले शब्दों में ही रहता है, और यह व्यंग्यार्थ केवल महाकवियों की[2] वाणी में ही स्फुरित होता है । यही महाकवियों की वाणी का अलंकार भी है । अतः जिसे महाकवित्व[3] अभीष्ट रहता हो, उसे चाहिए कि वह इन विशिष्ट शब्दों को यत्नपूर्वक पहचाने । ऐसे शब्दों का सान्निध्य चतुर और मधुर रचना में ही होता है । अन्यथा व्यंग्यार्थ निरपेक्ष शब्द की रचना में कोई वैशिष्ट्य ही नहीं । क्योंकि वह सहृदयों के हृदय का आह्लादन नहीं कर पाती ।[4]

इस प्रकार के शब्द और अर्थ की जो सुव्यवस्थित[5] योजना हुआ करती है,उसी को कहा जाता है महाकवि का मुख्य कविकर्म । यही वह योजना है जिसमें प्रतीयमान अर्थ को पूर्ण परिपोष प्राप्त होता है ।

१- (क) ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ।। ध्व० ४।१
(ख) ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ।। ध्व० ४।६

२- मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ।। ध्व० ३।३७

३- सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ।। वही १।८

४- वही पृ० १३७-१३८

५- वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ।। वही ३।३२

शब्दार्थ की यह योजना अत्यन्त कुशलप्रतिभा और गम्भीर व्युत्पत्ति की अपेक्षा रखती है । जो बहुत प्रयत्न से प्राप्त होती है । इसीलिए इस अतिविचित्र कविपरम्परा-वाहिनी संसार में अनेक कवि देखने को मिल रहे हैं किन्तु जिन्हें महाकवि कहा जा सके, ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि बहुत विरल हैं । वे कालिदास आदि दो-तीन या पांच छः ही होंगे[1] अधिक नहीं ।

इस तरह स्पष्ट है कि प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों के काव्योत्कर्ष का मुख्य बिन्दु विविध व्यंग्यार्थ(वस्तु,अलंकार एवं रसादि) ही है । इसीलिए जो कवि परि-पक्व हो जाते हैं, जिनका कवि कर्म परम परिपाक को प्राप्त हो जाता है, उनमें 'ध्वनि' के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य प्रकार नहीं पाया जाता ।[2] यह निश्चित तथ्य है कि ध्वनि का बोध हो जाने पर कवि जब उसकी निपुण योजना करने लगते हैं तो काव्य के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं ।[3] अतः ध्वनि से उन्हें बहुत लाभ होता है। यह कहा ही जा चुका है कि ध्वनि की संख्या इतनी अधिक है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती , फिर तब तो कहना ही क्या ? जब उसमें गुणीभूतव्यंग्य भी आ मिले ।[4] इस कारण कवि में यदि प्रतिभा हो तो ध्वनि के आश्रय से वह अनन्त विस्तार पा लेती है,क्योंकि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के असंख्य और अनन्त प्रकारों में से किसी एक भी प्रकार का स्पर्श वह कर लेती है तो उसकी वाणी में नवत्व आ जाता है , भले ही बात पुरानी हो ।[5] यहां तक कि चित्र अलंकार भी काव्य का

१- ध्वन्या० पृ० ६३ ।

२- (क) प्राप्तपरिणतीनां तु (कवीनां) ध्वनिरेव काव्यम् - ध्वन्या० पृ० ४९९-५००

(ख) न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्य-प्रकारः,यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते । वही,पृ० ४९७।

३- तत्स्वरूप ध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियमेनैव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति । वही पृ० ५२६-२७

४- वही ४।१ और ४।६

५- वही ४।२

वाच्य अलंकार मात्र कह कर छोड़ दिया जाता[1] है, वह भी ध्वनि की कक्षा में आते ही पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। इतना माहात्म्य है ध्वनि का।

उपर्युक्त वस्तु, अलंकार एवं रसादिध्वन्यंश में से भी रसादि ध्वन्यंश का विशेष महत्व है। क्योंकि सुकवियों के आकर्षण का मुख्य विषय 'रस' होता है।[2] जिस कवि का प्रबन्ध रसहीन अथवा नीरस होता है उसे महान् कलंक मिलता है। इसलिए कवि को रस परतंत्र अवश्य होना चाहिए। रसादि ध्वन्यंश को अपनाने से कवि को यथोचित उदारता मिलती है। उसमें अवस्था, देश, और काल के भेद से भिन्नता[3] लेकर उपस्थित होने वाली सामग्री भी अभिनव अथवा अपूर्व प्रतीत होने लगती है।

रसादि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। रस, भाव, भावाभास, भावप्रशम आदि के प्रत्येक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का पूर्ण रूप से आश्रय लेने पर काव्य में विविधता आ जाती है। इस कारण यदि उसका[4] युक्तियुक्त अनुसरण किया जाय तो अनन्त प्रकार की काव्य रचना हो सकती है। रस के परिवेश से कवि की पुरानी सामग्री में भी उसी प्रकार का नवत्व आ जाता है जिस प्रकार मधुमास से वृक्षों में। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि ध्वनि के किसी एक भेद के संस्पर्श मात्र से ही काव्य में नवत्व आ जाता है। यथा –

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्॥

इस उक्ति के रहते हुए भी निम्नलिखित बाणभट्ट की उक्ति नवीन प्रतीत हो रही है –

१- शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥ ध्व० २।२८

२- वही पृ० ३४७

३- रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी॥ वही० ४।६

४- युक्त्यानयाऽनुसर्तव्यो रसादि बहु विस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्॥ वही ४।३

'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'।[1]

क्योंकि यहाँ शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की योजना है। इसमें 'शेष' शब्द और 'धरणीधारण' शब्द से शेषनाग तथा उसके फणामण्डल पर पृथ्वी के रखने की बात अभिव्यक्त हो रही है।

इसी प्रकार -

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥[2]

उपर्युक्त कथन के रहते हुए भी कालिदास के -

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥[3]

इस कथन में नवीनता है, क्योंकि यहाँ देवर्षि नारद द्वारा लाए गए विवाह-विषय सन्देश को सुनकर लज्जाभाव के कारण भगवती पार्वती कमलदलगणना करने लगीं। इस प्रकार यहाँ वाच्य-अर्थ के सामर्थ्य से व्यभिचारि - लज्जा रूप व्यभिचारि-भाव अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति में क्रम के संलक्षित हो जाने के कारण यहाँ स्वतः सम्भवी अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानोपमव्यंग्य ध्वनि है।

पूर्वोक्त कथन में 'लज्जा' पद का प्रयोग किया गया है किन्तु कालिदास ने इसी तथ्य को व्यंग्यार्थ द्वारा प्रतिपादित किया है। इसी कारण कालिदास की उक्ति में वैचित्र्य है।

इसी प्रकार -

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥[4]

इस पद्य के रहते हुए भी निम्नलिखित पद्य में अधिक चारुत्व और नवीनता है।

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान् ।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ।[5]

१- ध्व० पृ० ५३८ २- वही
३- वही ४- वही
५- वही

यह कवि प्रौढोक्ति से निष्पन्न है ।

उक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यंग्य-अर्थ का संस्पर्श होते ही पुरानी सामग्री में भी नवीनता आ जाती है और वह सामग्री मधुमास के द्रुमों के समान नवनवाय ही प्रतीत होती है ।

केवल व्यंग्यभेदों के आश्रयण से नहीं, वाचक वर्ण, पद, वाक्य, प्रबन्ध रूप व्यंजक-भेदों के आश्रयण से भी काव्यार्थों में नवीनता आ जाती है ।[1] इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजकभाव के अनन्त प्रकार सम्भव होने पर भी कवि को रसादि रूप अर्थ के लिए सावधान रहना चाहिए ।[2] क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, रूप व्यंग्य में और वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्ध रूप व्यंजकों में अवधानयुक्त चित्त वाले कवि का पूरा काव्य अपूर्व (नवीन) बन जाता है । यथा- रामायण महाभारत आदि ।

काव्यों में अंगरस का बार-बार वर्णन होने पर भी रसाश्रय के कारण उनमें नित्य नवीन चारुत्व-प्रतीति होती है ।[3]

प्रबन्ध काव्य में 'रसादि व्यंग्य' का विशेष महत्व है क्योंकि एक अंगिभूत रस का आश्रय लेकर काव्य रचना करने पर एक ओर नए काव्यार्थों का लाभ होता है और दूसरी ओर प्रबन्ध अतिशय शोभायुक्त हो जाता है । इसलिए अलंकार के अभाव में भी, रस के अनुरूप अर्थ-विशेष का उपनिबन्धन करने पर काव्य चारुत्वातिशय युक्त हो जाता है ।[4] यथा -

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलुके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ ॥[5]

अर्थात् योगियों में श्रेष्ठ, महात्मा अगस्त्य मुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप को देखा ।

१- ध्वन्या० ४।५, २- वही पृष्ठ ५२६
३- वही पृ० ५२८ ४- वही पृ० ५३४
५- वही पृ० ५३५

यहाँ अद्भुत रस है । एक ही पुरुष में दिव्य मनुष्य और दिव्य जन्तु का वर्णन इस रस के अनुरूप पड़ता है । और एक ही पुरुष में शत्रु को छा लेने की बात भी इससे व्यंजित हो रही है , जो वस्तुतः आश्चर्य की बात है । शत्रु सम्बन्धी यह घटना अद्भुत रस के लिए और भी अधिक पोषक है । इस पद में कोई अलंकार नहीं है , तथापि रसाश्रित होने के कारण इसमें चारुत्व आ गया है । यही बात बिना रस के लोकप्रसिद्धि के रूप में कही[1] जाय तो इसमें कोई चमत्कार न होगा । इसी प्रकार अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं ।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रतिभासम्पन्न सहृदय कवि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का आश्रय लेकर अनन्त काव्य रचना कर सकता है ।

इसके अतिरिक्त व्यंग्य की अपेक्षा न रखने वाले वाच्य का भी आनन्त्य होता है । क्योंकि यह चेतनों और अचेतनों का स्वभाव है कि उनमें अवस्था, देश, काल और स्वरूप के भेद से अनन्तता आ जाती है ।[2]

१- <u>अवस्थाभेद से नवीनता</u> -

(क) इसका एक उत्तम उदाहरण है - कुमारसम्भव में भगवती पार्वती का वर्णन । कालिदास ने पहले प्रथम सर्ग में उनका वर्णन किया, फिर तृतीय सर्ग में तत्पश्चात् सप्तम सर्ग में । जब प्रथम सर्ग में उनका वर्णन पढ़ते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अब ऐसी कोई बात शेष नहीं रह गई है जिसके लिए पार्वती का पुनः वर्णन किया जाए, किन्तु तृतीय-सर्ग में कवि जब पुनः उनका वर्णन करता है और वसन्तपुष्पों से अलंकृत वेष में उन्हें सामाजिक के सामने लाता है तब भी वर्णन नवीन ही लगता है, उसे पढ़ने से चित्त अघाता नहीं । सप्तम सर्ग में विवाह के समय जब उन्हें पुनः सामाजिक के समक्ष चित्रित करता है तब भी वर्णन अभिनव नवीन ही लगता है । यद्यपि ये सब चित्रण एक ही काव्य में हुआ है, किन्तु पुनरुक्त से नहीं लगते ।

चेतन वस्तु भिन्न अवस्था में भिन्न प्रतीत होती ही है । जैसे एक नारी जब कुमारी रहती है उस समय जो स्थिति रहती है वह उसमें कामभाव का आविर्भाव

१- ध्व० पृ० ५३५   २- ध्व० पृ० ५३८-५३९

होते ही बदल जाती हैं। उस समय उनको अनेक रूपों में चित्रित किया जा सकता है। उनमें भी कुछ विनीत होती हैं, कुछ अविनीत। उनकी स्थिति को और काव्यनिबद्ध किया जाए तो उनमें पुनरुक्तता व्याप्ति नहीं आती। इसीलिए विषमबाणलीला में कहा है -

न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः ।[1]
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥

अर्थात् प्रियाओं के विभ्रम और सुकवि-वाणी के अर्थ की अवधि(समाप्ति) नहीं होती और न ही वे पुनरुक्त होते हैं।

(ख) अवस्थाभेद का दूसरा प्रकार उस समय होता है, जब अचेतन वस्तु का वर्णन चेतन रूप में किया जाता है। जैसे हिमालय या गंगा का वर्णन, उनका वर्णन चेतनरूप में उपस्थित करने पर, उनमें कुछ और ही वैशिष्ट्य आ जाता है। उसका प्रमाण है - कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन। कवि ने हिमालय के वर्णन से ही काव्य का प्रारम्भ किया, वहाँ उसके स्थावर रूप का वर्णन किया। पुनः छठे सर्ग में सप्तर्षिमण्डल की औषधिप्रस्थ-यात्रा के प्रसंग में उसका वर्णन किया, वहाँ एक अभिजात या कुटुम्बी श्रीमान् के रूप में उसका वर्णन करते हुए, दिखाया कि वह सप्तर्षियों का स्वागत कर रहा है, उनसे सरस,[2] प्रिय और विनयपूर्ण बातें कर रहा है। वहाँ वह अपूर्व ही मालूम पड़ता है।

ऐसे वर्णन कवियों के काव्य में बहुशः मिलते हैं। क्योंकि यह कवियों का प्रसिद्ध मार्ग है। आनन्दवर्धन ने विषमबाणलीला[3] में इस प्रकार कवियों के मार्गदर्शन के लिए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है।

जिस प्रकार अचेतन को चेतन रूप में प्रस्तुत करने से नवीनता आती है उसी प्रकार उनकी बाल्य आदि अवस्थाओं के भेद से भी उनमें नवीनता आ जाती है।

१- ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुक्ता ।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीणम् ॥ ध्वन्या० पृ० ५३६(कौसंस्कृतछाया)
२- वही पृ० ५३८   ३- वही   ४- वही पृ० ५३६-५४०

इन अवस्थाओं का एक एक करके वर्णन किया जाए तो अनन्त काव्यार्थ हो सकते हैं। उदाहरणार्थ -

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्तांकुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥[1]

जिनके कषाय कण्ठ से उत्पन्न घर्घरता का स्वर हंसों के कूजन के मध्य विभ्रम उत्पन्न करता था, अब वही वारणवधू के कोमल दन्तांकुर इतने अधिक सुन्दर बन रहे हैं कि उनसे स्पर्धा करने वाली कमलिनी के मृणालकन्द कमलाकरों में निकल आए हैं।

इस प्रकार यहाँ वारणवधू की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। और केवल कमलिनी के मृणालकन्द को वैलक्षण्य में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार अन्य वस्तुओं के अन्य उदाहरण भी सोचे जा सकते हैं।[2] कवियों को नवीनता के लिए इस दिशा का भी अनुसरण करना चाहिए।

(२) देश भेद से नवीनता -

वर्णनों में देशभेद से भी नवत्व और आनन्त्य आ जाता है। वर्णनों में एक ही वायु का वर्णन एक-एक दिशा और एक-एक देश को लेकर किया जाए तो अनेक नवीन उक्तियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं। कालक्रम, पुष्पोद्गम आदि की भी यही स्थिति है। इसी प्रकार चेतन पदार्थ भी देशभेद से नवीन और नाना प्रकार के प्रतीत होते हैं। मनुष्य ग्रामवासी के रूप में वैसा रहता है, नगरवासी के रूप में वैसा नहीं। ग्राम्यपशु, आरण्य पशु से सर्वथा भिन्न होता है। इसी प्रकार नगर पक्षी, जङ्गल से सर्वथा भिन्न होता है। मनुष्य को लीजिए, देश देश के विविध मनुष्य दिखाई देते हैं, जिनका विशेष रूप से।

१- काव्य० पृ० ९३०　　　　२- वही पृ० ९३०

इनके व्यवहार एवं व्यापार (कार्य करने के ढंग) भिन्न-भिन्न होते हैं । इन सब विविधताओं का पार पाना असम्भव है ।[१] तथापि कविजन अपनी प्रतिभा के अनुसार इन सब को उपनिबद्ध करते ही हैं ।

(३) <u>कालभेद से नवीनता</u> -

अचेतन पदार्थ कालभेद से नवीन प्रतीत होते हैं । ऋतुओं के परिवर्तन के साथ दिशाएं, आकाश, जलाशय में भी परिवर्तन एवं नवीनता आती है, यह प्रसिद्ध ही है ।

चेतन पदार्थ भी ऋतुओं के परिवर्तन के साथ उन्हीं आकांक्षाओं,[२] उन्हीं क्रियाओं और कलाओं में छिपी चेतना में औत्सुक्य का अनुभव करते हैं ।

(४) <u>स्वालक्षण्य से नवीनता</u> -

संसार की समस्त वस्तुओं का जो अपना स्वरूप है[३] वह स्वयं ही प्रतिबिम्ब भिन्नता लिए रहता है । समाधिस्थित पर आरूढ़ कवि यदि इन विभिन्न विशेषताओं का निबन्धन अपनी कविता में कर दे तो यही गणनातीत काव्यार्थ सिद्ध हो सकता है ।

इस पर कोई कहे कि सभी वस्तुएं सामान्य रूप से वाच्यभाव को प्राप्त होती हैं , न कि विशेष रूप से । कविजन भी स्वयं अनुभूत सुखादि और उनके कारणों के स्वरूप को अन्यत्र आरोपित करते हुए भी उनका सामान्य रूप से उपनिबन्धन करते हैं । न कि योगियों की भांति अतीत अनागत एवं वर्तमान के स्वरूप का प्रत्यक्ष करते हैं । इस प्रकार सामान्य रूप से ही वस्तु का निबन्धन करने के कारण सभी कुछ प्राचीन कवियों ने कह दिया है । उनका पुनः प्रतिपादन भणिति वैचित्र्य मात्र है ।

इस पर सिद्धान्तवादी कह सकता है कि यदि पूर्वपक्षी यह मानता है कि काव्य में सामान्य रूप से ही सभी वस्तुओं का प्रतिपादन होने के कारण उनमें कोई महत्व नहीं है । तब तो महाकवियों द्वारा कहे गए काव्यार्थों के अतिरिक्त अन्य काव्यार्थ में कोई भिन्नता ही नहीं होगी । और वाल्मीकि को छोड़ कर अन्य

१- ध्व० पृ० ५३१   २- वही पृ० ५३१
३- इसी को दार्शनिक स्वालक्षण्य नाम से पुकारते हैं । स्वालक्षण्यं प्रतिभासमानस्य ।
शेष अगले पृष्ठ पर देखिए ।

किसी भी कवि संज्ञा से अभिहित भी नहीं किया जा सकेगा । आदि कवि द्वारा सामान्यरूप से सभी वस्तुओं को प्रकाशित किया जा चुका है ।

किन्तु इसीलिए उक्तिवैचित्र्य से सामान्य वस्तु का प्रतिपादन करना कोई दोष नहीं है । उक्ति वाच्य विशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते हैं । वाचक के वैचित्र्य से ही वाच्य में वैचित्र्य आता है । क्योंकि वाचक का वाच्य के साथ या भाषा का वक्तव्य अर्थ के साथ अभेद रहता है । इसलिए उक्तिवैचित्र्यवादी को वाच्य में भी वैचित्र्य विवश होकर स्वीकार करना ही पड़ता है ।[1]

(५) उक्तिवैचित्र्य से नवीनता-

एक ही वक्तव्य यदि भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा जाए तो वह कई गुना हो जाता है । जैसे उपमा के माध्यम से कही गई बात यदि रूपक के माध्यम से कही जाती है तो उसमें भी वैचित्र्य आ जाता है । वही बात यदि श्लेष या उपमाश्लेष के द्वारा कही जाए तो उसमें भी चारुत्व आ जाता है । यह चमत्कार भणिति वैचित्र्य का ही है । यदि इस पर ध्यान रख कर काव्य-रचना की जाए तो कविप्रतिभा का एक बीज सैकड़ों शाखाओं वाले एक विशाल वृक्ष का रूप ले सकता है ।[2]

(६) भाषा वैचित्र्य से नवीनता-

भणिति वैचित्र्य केवल अलंकार पर ही निर्भर नहीं रहता । उसका एक आधार भाषा भी है । जो बात संस्कृत में कही गई है वही[3] भाषान्तर में कही जाती है तो उसमें कुछ और ही-वैचित्र्य वैशिष्ट्य आ जाता है । उदाहरणार्थ-

महमह इति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स ।
तोइ ण देउ जणद्दणु गोअरी होदि मणस्सो ।।

इसमें प्रयुक्त 'मह मह' - शब्द की एक संस्कृत छाया होगी मम मम अर्थात् मेरा मेरा और दूसरी होगी 'मधुमथ' अर्थात् श्रीकृष्ण ।

पिछले पृष्ठ का शेष -स्वल्पाधाराणां उपमानां येषां स्वल्पा धारापि महत्संभाराय भवति,
तेषां भावः स्वल्पाधारत्वम्,अन्य स्यापि स्यापि उपमानान्येव ।
काव्यप्रकाशकौमुदी- पृ० २४८

१- ध्व० पृ० ४३१-४३३ । २-वही पृ० ४३३-४३४ ३- वही पृ० ४३४ ।

इस भाषा का एक अर्थ यह होगा कि 'मेरा मेरा कहते कहते व्यक्ति मरण तक पहुंच जाता है तब भी उसे चैन नहीं मिलती और वह एक बार भी भगवान् का ध्यान नहीं करता'। दूसरा अर्थ यह भी निकल रहा है कि 'दिन-रात 'मधुसूदन' अर्थात् श्रीकृष्ण कहते रहते हैं तब भी भगवान् बाधक कभी भी नहीं होते'। मधुसूदन-कहां विरोधाभास है, क्योंकि जो व्यक्ति मधुसूदन कहता रहेगा उसके मन में श्रीकृष्ण अवश्य आते हैं। किन्तु यह विरोध संस्कृत से नहीं प्रतीत होता। यह मतलब इस हिन्दुस्तानी अनुवाद से ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार अवस्था, देश, काल, स्वाभाव्य, उक्तिवैचित्र्य आदि से जो नवीनता आती है उसका मुख्य हेतु उसका रसात्मकत्व है क्योंकि किसी भी काव्यार्थ में जब तक चारुत्व नहीं आता, तब तक वह रसाश्रित नहीं होता। इसीलिए महाकाव्य आदि में जहाँ इन इन काव्यार्थों को अलग अलग भंगिमाओं में चित्रित किया जाता है, वहाँ उसमें रसरूपता रहता है, इसी से उनमें चारुता आती है। रसाश्रित से यह भी लाभ है कि वर्ण्य-विषय में अनन्यता दोष नहीं आता। अवस्थादि भेद से एक ही वस्तु के बार बार अनेक वर्णन होने पर भी, रस की आश्रयता के कारण उनमें परस्पर अन्यता की प्रतीति होती रहती है।

इस प्रकार कितना भी काव्यार्थों के विषय में निरूपण किया जाए, फिर भी उनका अन्त नहीं मिलता। क्योंकि काव्यार्थों का असीम कोष है। एक कवि की नहीं, अनन्त वाचस्पति भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर समस्त काव्यार्थों को अभिव्यक्ति देना चाहें और उसके सम्पूर्ण कोष को समाप्त कर देना चाहें तो नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे अद्भुत-अद्भुत ब्रह्माण्ड-पिण्ड निकलकर भी प्रकृति के विराट कोष से समस्त पदार्थों की समाप्ति नहीं कर सकते। देखिये-निम्नलिखित-श्लोक

१- यह व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने की है। तात्पर्य ध्व०लो० पृ० ५८७

२- अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ।। ध्व० ४।८

३- वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ।। ध्व० ४।१०

संवाद

कवियों पर बहुधा यह प्रहार किया जाता है कि उनके काव्य में कोई नूतनता या नवीनता नहीं है। किन्तु कवि को ऐसी बातों से निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि जो कवि ध्वनि का आश्रय ले कर काव्य रचना करता है, उसके काव्य में नित्य नवीनता रहती है। यह नूतनता या नवीनता वस्तु में नहीं, अभिव्यक्ति और उक्ति में ही रहती है। इसका कारण यह है कि कवि जिन वस्तुओं को अपने काव्य-शिल्प का उपादान बनाता है वे प्रायः लौकिक होती हैं। इन्हीं लौकिक वस्तुओं की योजना में ध्वनि के माध्यम से कवि नवीनता लाने का प्रयत्न करता है या उनमें कोई चमत्कार प्रकट करता है। अतः यह निश्चित है कि जो कवि लोकवार्ता और वस्तुविन्यास का चितेरा होगा उसकी कविता का स्वरूप अन्य कवियों की रचनाओं से मिलता-जुलता रहेगा। यही है कविकृतिगतसंवाद।

संवाद निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं :-[1]

१- प्रतिबिम्बवत्

२- आलेख्याकारवत्

३- तुल्यदेहिवत्

(१) प्रतिबिम्बवत् - प्रतिबिम्बवत् संवाद अनन्यात्म रूप होता है[3], जहाँ कोई नूतनता या नवीनता नहीं रहती। अतः तात्त्विकता और विषयवस्तु की मौलिकता के अभाव के कारण प्रतिभा-सम्पन्न कवि को चाहिए कि वह इस प्रकार के संवाद का यथासम्भव परित्याग करता चले।

१- २ संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥
संवादो ह्यन्यसादृश्यम्,
तत् पुनः प्रतिबिम्बवत्,आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्
ध्वन्या० ४।११-१२

३- ध्वन्या० ४।१३

(२) आलेख्याकारवत् - आलेख्याकारवत् अर्थात् चित्रतुल्य संवाद तुच्छात्मक[1] होता है । क्योंकि इसमें मौलिकता की मात्रा बहुत ही क्षीण रहती है । अतः यह संवाद भी त्याज्य है ।

(३) तुल्यदेहिवत् - तुल्यदेहिवत् संवाद प्रतिष्ठात्मक[2] होता है । यह संवाद सर्वथा अपरिहार्य है । इसमें काव्य की आत्मा पृथक् अर्थात् नवीन रहती है, शेष समस्त सामग्री सर्वथा अभिन्न रहा करती है । इसीलिए कहा गया है - विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के अनुसार होने पर, संवाद युक्त होने पर भी कवियों के द्वारा काव्यवस्तु त्याज्य नहीं है[3] । क्योंकि शरीरी अन्य शरीर के तुल्य भी होकर एक ही है यह नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार कवि की काव्य सामग्री का अन्य पूर्ववर्ती कवि के साथ साम्य होने पर भी, वह काव्यार्थ तन्वी के शशिच्छाय मुख की भाँति अधिक शोभा देता है[4] । इसमें अपूर्व और नवीन वैशिष्ट्य झलकती है । काव्य में छायानुयायीन है प्रतिभान-अन्यादि । यदि इसमें अन्तर हो तो शेष सामग्री का संवाद दोषावह नहीं माना जा सकता ।

जिन अक्षरों में काव्यपद बिंध जाते हैं वे सभी काव्यों में अभिन्न होते हैं, इसी प्रकार जिन पदार्थों का काव्य में उपादान किया जाता है वे भी अभिन्न ही होते हैं । अक्षरों और पदों की पुनरुक्ति में तो वाचस्पति भी नवीनता नहीं ला सकते । वे सम्पूर्ण वाङ्मय में, सम्पूर्ण साहित्य विश्व में एक ही रहते हैं[5] । अक्षरों और लिपि में अभेद देख कर यदि किसी ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों से अभिन्न नहीं कहा जा सकता तो पदार्थों के अभिन्न होने मात्र से भिन्न काव्यों को अभिन्न कैसे माना जा

१- ध्व० ४।१३ २- ध्व० ४।१३

३- तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरानुसारे सति
ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । ध्व० पृ० ५३७

४- आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ ध्व० ४।१४

५- अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी ।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥ ध्व० ४।१५

सकता है। यह निर्णय तो अनुभव पर निर्भर है कि किसी काव्य में नवीनता है या नहीं। यदि अनुभव से यह ज्ञात हो जाए कि किसी काव्य में कहीं कोई रम्यता है तो कवि को उसका वह सफल समझना चाहिए। रम्यता के रहने पर प्राचीन काव्यों की छाया कवियों को कलुषित नहीं कर सकती। रम्यता का आधान करने वाला कवि प्राचीन विषयवस्तु पर भी काव्य-निर्माण[1] करके यशोभागी हो सकता है, उसे किसी प्रकार की निन्दा का भय नहीं होता।

इस प्रकार सुकवि को चाहिए कि वह किसी अन्य कवि की काव्यसम्पत्ति [illegible] कर न दे। वह प्रतिभावान अर्थ की अनुपम धारा तथा अन्य विशेषताओं से आई विविध सम्पन्नता के साथ अपनी सरस्वती को प्रस्तुत करता रहे। जो कवि इस भूमिका पर आरूढ़ रहता है और इस प्रवृत्ति से काव्यसृजन करता है उसका ध्यान स्वयं भगवती सरस्वती को रहता है और वह भगवती उस सुकवि के[2] लिए काव्योचित सामग्री स्वयं परिपूर्ति करती रहती है। यही है सारस्वत प्रसाद और इसी को प्राप्त करके सुकवि 'महाकवि' के पद को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने चार उद्योतों में ध्वनि-स्वरूप को जो विद्वानों के मध्य विप्रतिपत्ति का विषय बना हुआ था, उसे सुप्रतिष्ठित कर दिया।

———:०:———

१- यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥ ध्व० ४।१६

२- प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वाऽऽदानेच्छा-विरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥ ध्व० ४।१७

तृतीय अध्याय

दार्शनिक - विवेचन

आचार्य अभिनवगुप्त काश्मीर शैव दर्शन के भी प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनके दार्शनिक विचारों की छाप उनके साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। अतः अभिनवगुप्त के काव्य सिद्धान्त को पूर्ण रूप से समझने के लिए और काव्य तत्त्व के प्रति उनकी दार्शनिक दृष्टि के विवेचन हेतु काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्त का सिंहावलोकन आवश्यक होगा।

क : काश्मीरी शैव दर्शन

काश्मीर शैव-दर्शन की प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिकदर्शन, माहेश्वर दर्शन आदि संज्ञाएं प्राप्त हैं। शैव दर्शन अद्वैतवाद की भूमि पर स्थित है। आगमशास्त्र में अद्वैत का अर्थ है - दो का नित्य सामरस्य। शैव दर्शन में - शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य रहता है तथा इसे एकात्म रूप परमशिवतत्त्व कहा जाता है। इसी परमशिवतत्त्व की प्राप्ति शैव दर्शन का परम लक्ष्य माना गया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में छत्तीस(३६) तत्त्व माने गए हैं। परमशिव को देशकालादि से परे शुद्ध ज्ञानस्वरूप, आनन्द एवं चिन्मय कहा गया है। परन्तु जब वे सृष्टि की कामना करते हैं तो उनको शिवतत्त्व कहा जाता है और उनसे ही क्रमशः अन्य तत्त्वों का विकास होता है। अतः शिवतत्त्व ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं -

(१) शिव(२) शक्ति(३) सदाशिव (४)ईश्वर (५) शुद्धविद्या (६)माया (७) कला(८)विद्या(९) राग(१०)काल (११)नियति(१२) पुरुष (१३)प्रकृति (१४) बुद्धि(१५)अहंकार(१६)मन(१७-२१)पांच ज्ञानेन्द्रियां,अर्थात् नासिका,जिह्वा, चक्षु,त्वक् और श्रवण,(२२-२६)पांच कर्मेन्द्रियां,अर्थात् वाक्,पाणि,पाद,[illegible], पायु, उपस्थ,(२७-३१)पांच तन्मात्राएं शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गन्ध और(३२-३६) पांच स्थूल भूत अर्थात् आकाश,वायु,अग्नि,जल और पृथ्वी।

शिव तत्त्व :-

प्रत्येक जीव में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मतत्त्व है। यह चैतन्यरूप है। इसी को 'परा संवित्' 'परमेश्वर' 'शिव' या 'परमशिव' भी कहते हैं। यह तत्त्व एक और केवल सभी में वर्तमान है। यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है और एक रूप में सभी वस्तुओं में है। यह देश और काल से अतीत है। फिर भी, सभी देश और काल में यह एक रूप में वर्तमान है। यह नित्य है।

शक्ति तत्त्व :-

इसे विमर्श भी कहते हैं। 'विमर्श शक्ति' आत्मा का स्वभाव है। सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने से, स्थिति में विश्व को प्रकाश द्वारा तथा संहार में आत्मसात् करने से 'शिव' में पूर्ण जो अकृत्रिम अहंभाव है उसी को 'विमर्शशक्ति'[1] कहते हैं। यदि शिव में विमर्शशक्ति न हो तो वह अनीश्वर तथा जड़ हो जाये। परमात्मा की विमर्श शक्ति का स्वातन्त्र्य स्फुरत्ता आदि शब्दों द्वारा आगम में वर्णन किया जाता है। इस शक्ति के अनन्त स्वरूप हैं किन्तु इनमें से पांच प्रमुख रूप प्रकार हैं - चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अभिनवगुप्त का मत है कि परमेश्वर में चित् शक्ति की प्रधानता होने से वह शिव-तत्त्व कहलाता है, आनन्दशक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिवतत्त्व कहलाता है, ज्ञानशक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वरतत्त्व कहलाता है, और क्रियाशक्ति की प्रधानता होने पर वही परमेश्वर विद्यातत्त्व के नाम से अभिहित किया जाता है।[2]

शक्ति के इन पांचों स्वरूपों से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः यह जगत् शिव की शक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे शिव ने अपने में (स्वभित्तौ) स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है। परन्तु व्यावहारिक

१- परा प्रवेशिका

२- चित् प्राधान्ये शिवतत्त्वम्, आनन्द प्राधान्ये शक्तितत्त्वम्, इच्छा प्राधान्ये सदा-शिवतत्त्वम्, ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्, क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्यातत्त्वम् इति। (तन्त्रसार)

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि बिना शक्ति के शिव एक प्रकार से जड़वत् हैं । इसी शक्ति के सहारे शिव अपने में अर्थ का बोध प्राप्त करते हैं । इसलिए शंकराचार्य ने भी कहा है कि -

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥[1]

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिव के शक्ति भी नहीं रह सकती । इन दोनों में अभेद है, तादात्म्य है, सामरस्य है । तभी शिव पूर्ण रूप में परमशिव तत्त्व हैं ।

परमशिवतत्त्व स्वतन्त्र चिन्मय आनन्दस्वरूप तथा अनुभवरूप हैं । उसी से सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं फिर उसी में लीन हो जाते हैं। सृष्टि ही उसका उन्मीलन मात्र है । इसलिए कहा गया है -

अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ।[2]
उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् ॥[3]

सदाशिवतत्त्व -

तीसरा तत्त्व सदाशिवतत्त्व कहलाता है । इसका विकास शिवशक्ति से ही हुआ है । जब इस शक्ति में 'उन्मेष' होता है, तब सृष्टि होती है और जब यह आँख मूँद लेती है तब जगत् का लय हो जाता है । यह 'उन्मेष' और 'निमेष' अनादि और अनन्त हैं । इसी उन्मेष के कारण 'सदाशिवतत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है । यह शक्तितत्त्व का प्रथम और स्थूल निमेष है । इसे सादाख्यतत्त्व भी कहते हैं । इस अवस्था में 'इच्छाशक्ति' की प्रधानता रहती है, क्योंकि 'इदं' अंश अस्फुट रहता है और 'अहं' अंश उसे प्रधान रूप से आच्छादित किए रहता है। इसलिए 'अहमिदम्' इस प्रकार प्रतीति होती है अर्थात् जगत् का अव्यक्त रूप में यहाँ भान होता है ।

१- आनन्द लहरी
२- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - पृ० ३२
३- प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - पृ० ६
४- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भाग-२) पृष्ठ १९४-१९५ ।

ईश्वरतत्त्व -

चौथा तत्त्व ईश्वर माना गया है। जगत् की पूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। 'अहम्' अंश गौण होता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है।[1] 'इदम् अहम्' इस प्रकार की प्रतीति ईश्वरावस्था में उल्लसित होती है। यहाँ ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है।

सद्विद्या -

इस विद्यातत्त्व को पाँचवाँ तत्त्व माना गया है। इस भूमि में 'अहम्' और 'इदम्' इन दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है। 'समानाधिकरण' अर्थात् मैं यह हूँ यह भावना जागृत होती है। इसमें क्रिया-शक्ति प्रधान रहती है।

उक्त पाँचों तत्त्वों को तन्त्रालोक में क्रमशः शाम्भव, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक तथा मन्त्र भी कहा गया है। और ये विशुद्ध तत्त्व कहलाए गए हैं।[2] इनको शुद्धाध्वन् अर्थात् शुद्ध मार्ग की भी संज्ञा दी गई है। और इसके अतिरिक्त शेष(३१) इकतीस तत्त्वों को अशुद्धाध्वन् अर्थात् अशुद्ध मार्ग माना गया है।[3] इसका कारण यह है कि उक्त पांच तत्त्वों का सीधा सम्बन्ध शिव से है और शेष माया से लेकर पृथ्वी तक इकतीस(३१) तत्त्वों का सम्बन्ध माया से माना गया है,[4] जो अपने त्रिविध मलों द्वारा शेष तत्त्वों को आवृत किए रहती है।

माया -

यह अशुद्ध-तत्त्व भेद सृष्टि का द्योतक है। इसे शिव की एक ऐसी शक्ति माना गया है, जो शिव से अभिन्न होकर भेद पूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है :-

स्वात्मनाभिन्नानपि भावजातं शिवो यया भिन्नान् भिन्नतया व्यवस्थापयति इति च[5] (माया)

अर्थात् जो भेद उत्पन्न करती है उसे माया कहते हैं।

१- तन्त्रालोक(भाग-६) पृ० १० २- तन्त्रालोक (भाग-६) पृ० १२
३- वही पृ० १३ ४- वही पृ० १६-१७
५- वही पृ० ११६

भेदावभास करने के कारण इसे 'पराशक्ति' भी कहा गया है। यह शुद्ध मानी गई है, क्योंकि स्वयं यह भेद-रूप कार्य करती है। जैसे यह शुद्ध एवं व्यापक[1] है और शिव-शक्ति से अभिन्न होकर विश्व का मूल कारण मानी गई है। इससे ही कलादि[2] तत्वों का विकास होता है और यही समस्त विश्व को उत्पन्न करती है। यह माया अतः स्वयं[3] शक्ति स्थित रहती है और तीनों मलों का जन्म भी इसी माया से होता है। इसे तिरोधायिनी शक्ति भी बतलाया गया है, जिससे पूर्ण प्रकाशित चित्शक्ति का[4] प्रकाश आच्छादित हो जाता है और जीवात्मा उसे ग्रहण नहीं कर पाता।

दक्षिण के शैव सिद्धान्त की भाँति यहाँ पर माया के शुद्ध अशुद्ध- भी भेद नहीं किए गए हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इसका केवल एक शुद्ध रूप ही स्वीकार किया गया है और इससे उत्पन्न पाँच[5] तत्व - कला, विद्या, राग, काल और नियति भी यहाँ शुद्ध माने गए हैं।

माया के पाँच कंचुक -

'परमशिव' सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक, असंकुचित शक्ति, सम्पन्न होता हुआ भी अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति माया के पाँच कंचुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है।

माया के इन्हीं पाँच कंचुकों के कारण क्रमशः परमशिव के उपर्युक्त गुणों में भी संकोच हो जाता है। फलतः कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान पुरुष को अपने में होने लगता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में माया और उसके पाँच तत्वों को षट् कंचुक संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि इनके द्वारा आवृत होकर आत्मा परिमित हो जाती है। इस परिमित आत्मा को[6] अणु संज्ञा दी गई है और उसके इन कंचुकों को आणव-मल कहा गया है।

१- तन्त्रालोक (भाग-६) पृ० ११६-११७ | २- वही पृ० १२८
३- स्वच्छन्द तन्त्र(भाग-२) पृ० ७४-७५ | ४- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग-२ पृ०-३०
५- तन्त्रालोक (भाग-६) पृ० १३४ | ६- वही पृ० १४५-१५५

<u>पुरुषतत्त्व-</u>
इन्हीं कंचुकों को आवरणरूप में स्वीकार कर पुरुष संसारी हो जाता है। इन्हीं कंचुकों से आवृत चैतन्य 'पुरुषतत्त्व' है।

<u>प्रकृतितत्त्व -</u>

महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृतितत्त्व है। यह सत्व, रजस् और तमस् की समरसात्मक साम्यावस्था है। इस अवस्था में गुणों के प्रधानगौणभाव नहीं होता। ये गुण प्रकृतितत्त्व में परस्पर विभक्त नहीं हैं।

<u>बुद्धि से पृथ्वी तक -</u>

इसके अतिरिक्त महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व से लेकर पृथ्वी तक जिन २३ तत्त्वों का वर्णन प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मिलता है, वह पूर्णतया सांख्य दर्शन के ही समान हैं अर्थात् सांख्य की भांति यहां पर भी प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राएं और पांच तन्मात्राओं से पंचभूतों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गई है।[1]

३६ तत्त्वों का यह अति संक्षिप्त विवरण है। यहां सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वों की क्रमिक अभिव्यक्ति का निदर्शन किया गया है।

<u>पुनःप्राप्ति -</u>

अब इस बात का भी प्रतिपादन करना[2] आवश्यक है कि कैसे साधक स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म तत्त्व की ओर जाता है।

पृथ्वीतत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व पर्यन्त तो सांख्य के समान ही तत्त्वों का विचार है। यही 'प्रकृति' विक्षुब्ध होकर 'मायातत्त्व' में लीन हो जाती है। 'माया' के पांच कंचुक परमशिव के सभी गुणों को संकुचित कर देते हैं। इसीलिए पुरुषतत्त्व में आकर परमशिव की शक्ति संकुचित हो जाती है।

१- तन्त्रालोक(भाग-६) पृ० १०७-१४२   २- भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र

इन तत्त्वों से परे जब शुद्धतर तत्त्व में साधक प्रवेश करता है तब पुरुष अपने को शुद्ध प्रमेय समझने लगता है। इस अवस्था में 'मैं यह हूं' इस प्रकार की प्रतीति उल्लसित होती है। जहाँ 'मैं' चैतन्य है और 'यह' प्रकृति है। यहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों बराबर महत्त्व के होते हैं। यहाँ भी द्वैत भाव स्पष्ट है। इसके अनन्तर जब 'पुरुष' शुद्ध प्रमेय के साथ तादात्म्य बोध करने लगता है और 'यह मैं हूं' ऐसी स्थिति उसकी चित्तवृत्ति में भासित होने लगती है। इस परिस्थिति में 'यह' अंश की प्रधानता मिलती है। इस अवस्था को 'ईश्वरतत्त्व' कहते हैं।

धीरे-धीरे 'यह' अंश 'मैं' में लीन हो जाता है और 'मैं हूं' इतनी ही प्रतीति रह जाती है। किन्तु फिर भी द्वैतभाव स्पष्ट है। 'मैं' और 'हूं' ये दोनों स्वरूप 'विमर्श' में भासित होते हैं। इस अवस्था को 'सदाशिवतत्त्व' कहते हैं।

जब इस 'हूं' को भी दूर हटाना उचित है। तत्पश्चात् इसकी भी शून्य भूमि में जब साधक प्रवेश करता है तदनुरूप 'अहं' की प्रतीति दिखाई पड़ती है। इसे 'शक्तितत्त्व' कहते हैं। यही 'परमशिव' की 'उन्मीलनावस्था' है। इसी अवस्था में साधक 'परमशिव' के स्वरूप को समझ सकता है। यहीं आत्मा के आनन्दस्वरूप का प्रथम बार भान होता है। यही शक्ति और शक्तिमान् की युगलमूर्ति है। यह अवस्था भी एक प्रकार से द्वैत की ही है। किन्तु, वस्तुतः कहना कठिन है कि द्वैत है या अद्वैत। यह 'द्वैत' भी है और 'अद्वैत' भी। यह अवस्था अन्त में 'परमशिव' में लीन हो जाती है। यही 'परमशिवतत्त्व' है।

<u>चिन्मय सामरस्य की अवस्था -</u>

यहाँ पहुंच कर जिज्ञासु अपने अस्तित्व को परम-शिव में लीन कर देता है। सभी तत्त्व 'परमशिव' में लीन होकर चिन्मय हो जाते हैं। यही मनुष्य-जीवन तथा दर्शन का चरम लक्ष्य है।

निष्कर्ष यह कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव को सर्वोपरि माना गया है। शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में शिव का ही वर्णन मिलता है। इन दोनों को सूर्य एवं उसकी किरणें, अग्नि एवं उसकी दाहिका तथा सागर और उसकी लहरों के तुल्य अभिन्न रूप माना गया है। ये शिव ही अभिन्न एवं

परमतत्त्व हैं, परशुद्ध हैं और चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप हैं । यह जीवात्मा उनका ही परिमित रूप है, जो कंचुकों एवं मलों से आवृत रहने के कारण अपने वास्तविक रूप को नहीं जानता । जिस समय वह अपने वास्तविक रूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, उस समय वह भी शिव रूप को प्राप्त होकर चैतन्य गुण युक्त अनन्तशक्ति सम्पन्न हो जाता है ।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट शैव दर्शन के आभासवाद, स्वतन्त्रता, एवं आनन्दवाद का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है । क्योंकि, इसके अभाव में शिवतत्त्व की साध्य तत्त्व के प्रति दार्शनिक दृष्टि समझना कठिन होगा ।

अभेदवाद, आभासवाद-

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक ३६ तत्त्वों को एक चिति रूप परमानन्दमय प्रकाशैकघन शिव से अभिन्न रूप में स्फुरित होते हुए बताया गया है । विश्व में जो नाना-रूपात्मक[1] परिमित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी प्रकाश रूप शिव ही हैं । इनसे रहित किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है ।[2] स्वभाव शिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ स्फुरित हो रहे हैं ।

जिस तरह एक पूर्ण विकसित मयूर के सभी अंग एवं नीलादि रंगों का विकास उसके अण्डे से होता है और मयूर के अण्डे में भी मयूर के अंग एवं रंगों की स्थिति अभेद रूप से रहती है,[3] वैसे ही यह विश्व इस चिति के अन्तर्गत अभेद रूप से विद्यमान रहता है । इसी कारण इसे अभेदवाद कहते हैं ।

शैव दर्शन का यह अभेदवाद 'आभासवाद' भी कहलाता है । इसका कारण

१- ईशः शिवमयं विराजते- टी० पृ० ११२

२- श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादि धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति । न तु वस्तुतः अन्यत् किंचिद् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एवं इत्थं नाना वैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति । - प्रत्यभिज्ञाहृदयम्- पृ० ८

३- एवं चैव मायूरे च अण्डे अखण्ड मयूराण्डरसवत् अविकल्पेन प्रतिपत्तव्यमिति ।- शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ३२

मत है कि संपूर्ण विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित-नगर सुरादि के समान है ।[1] अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि जिस तरह निर्मल दर्पण में विभिन्न पदार्थ प्रति-बिम्बित होते हैं, वैसे ही पूर्ण संविद् रूप चिति में यह सम्पूर्ण विश्व अभिन्न रूप से अवभासित होता है । इसके अतिरिक्त 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में भी लिखा है कि यह[2] चिति ही अपने दर्पण में समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्बवत् आभा-सित करती है । इसी कारण यह 'आभासवाद' कहलाता है ।

समरसता-

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता के सिद्धान्त का एक विशिष्ट स्थान है । स्वच्छन्द तन्त्र में लिखा है जैसे एक नदी समुद्र से मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथकता या भिन्नता नहीं रहती, इसी प्रकार यह आत्मा परमात्मा-भाव[3] को प्राप्त होकर पुनश्च: एक विकल्प हो जाता है, इसे 'सामरस्य' कहते हैं ।

अभिनवगुप्ताचार्य[4] का मत है कि (आनन्दप्राप्ति विश्रान्तो योगी समरसी-भवेत्) आनन्दप्राप्ति में विश्रान्ति पाने पर ही योगी को समरसता[5] की स्थिति प्राप्त होती है तथा (चित्ते समरसी भूते क्षोभोन्मत्तता स्थितिः) अर्थात् समरसता की स्थिति को प्राप्त होते ही चित्त में क्षेत्र के प्रति उन्मत्तभाव जागृत हो जाता है अथवा पूर्ण अद्वैत को प्राप्त हो जाता है । साथ ही अभिनवगुप्त के मत से समरसता ही अनुत्तरावस्था है, क्योंकि इस स्थिति में पहुंच कर योगी के लिए कुछ शेष नहीं रहता और वह अखण्ड आनन्दघन विकल्प हो जाता है ।

आनन्दवाद -

शैवों के इस आनन्दवाद का कुछ रूप उपनिषदों में दिखाई देता है ।

१-निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिजलादयः । अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।
मुकुरं भाति मनसर्वोज्ञात्मरूपादिभ्यः । तथापि निर्मले दर्पणे रूपनिकायके ॥
तन्त्रालोक ३-३-४-४

२- देवो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत् आभासयति इति सिद्धान्त:
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी(भाग२)पृ०१३

३-स्वच्छन्द तन्त्र(भाग४)पृ०२०५-२०७ ४- तन्त्रालोक(भाग-१) पृ०२६

५- तन्त्रालोक - ११।२६।२७७ ।

क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि आनन्द ही ब्रह्म है । आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रस्थान करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।

तन्त्रालोक में अनुत्तरावस्था के अन्तर्गत आनन्द की प्राप्ति होना लिखा है[1], और बतलाया गया है कि शिव की चिन्मयी शक्ति ही आनन्द रस का स्फुरण करती है । इस आनन्द स्फुरण करने वाली शक्ति को आनन्द-शक्ति कहा गया है, जो शिव की प्रधान पांच शक्तियों में से एक है और जिसके द्वारा हृदय में आनन्द की मन्थरता या जड़ता दूर हो जाती है ।[2] और उसके द्वारा व्यक्ति के हृदय में आनन्द-स्पन्दन होने लगता है ।

प्रत्यभिज्ञाहृदय में शिव को चिदानन्दघन कहा गया है और चिदानन्दघन रूप शिवत्व की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है । अभिनव ने शैवों के इस आनन्दवादी विचारधारा को अपने साहित्यिक ग्रन्थों में भी पुनः स्थान दिया है ।

संक्षेप में अभिनवगुप्त के अनुसार 'रस' पद अध्यात्म और साहित्यिक उत्कर्ष की महान सम्भावनाओं से अभिषिक्त है । रस का परिपाक साहित्यानन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक सोपान के रूप में है । रस और आनन्द की स्थितियां सर्वोपरि हैं। इन दोनों में रस को वस्तु और आनन्द को लोकोत्तर सुखानुभूति के रूप में अनुभव मान सकते हैं । दोनों के मध्य का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर और स्निग्ध है । यदि इन्हें उपभोगी और पुरुष के रूप में स्वीकार किया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी ।

ख : <u>काव्यतत्त्व और आचार्य अभिनवगुप्त की शैव दर्शनाश्रित दृष्टि -</u>

शैव दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन के अनन्तर यह विचारणीय है कि काव्य का वह कौनसा तत्त्व है, जिससे पुनः अभिनव की दृष्टि शैव दर्शनाश्रित है और किन कारणों से इस तत्त्व को हम मात्र शैव दर्शन से ही सम्बन्धित मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।

१-अनुत्तरं सर्वोत्कं सर्वेतानन्द प्रभवेः ।तन्त्रालोक २।३।१४० २- तन्त्रालोक ३।१०

ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व -'रस'[1] है। इसी 'रस ध्वनि' को वेदान्त के रंग में रंजित कर उसे विशुद्ध एवं पुष्ट दार्शनिक पीठिका पर आसीन करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को ही है। अभिनवगुप्त ने जहाँ जहाँ रस का विवेचन किया है, वहाँ रस के साथ अपने दार्शनिक विचारों को इस प्रकार मिला दिया, जैसे क्षीर में नीर। लोचन और अभिनवभारती इन दोनों ही ग्रंथ कृतियों में जहाँ भी रस का विवेचन हुआ है वह पुनरपि: दार्शनिक पदावली में एवं दार्शनिक पद्धति पर किया गया है।[2] अभिनव गुप्त न केवल साहित्यिक ग्रन्थों में ही अपनी दार्शनिक प्रतिभा का परिचय देते हैं बल्कि अपने दार्शनिक ग्रन्थों के व्याख्यान में शृंगार आदि रसों का उल्लेख करना नहीं भूले।[3]

१- काव्यस्यात्मा स एवार्थः - ध्व० १।५ ।

२-(१) यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसः। लो० पृ० ५१-५२.

(२) अतएव हृदयसंवादात्मकविभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वादात्मा स रसनात्मकप्राणः चित्तवृत्तिविशेषात्मकः परिस्फुरति। लो०पृ० ७६-८०

(३) अनुमानाभिमानविषयेऽपि तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरति। लो०पृ०८८

३- यथा भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति, निरपेक्षविभावनादिकृतशृंगाराद्याः नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्या रसना, चर्वणा, निर्वृतिः प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञानित्वेन, तत एव प्रत्येक-परामर्शनेन प्राधान्यात्प्रकाशात्मकस्यापि प्रकाशमानस्य वेद्यविश्रान्तस्या-नावरणात्मकत्वादिति निर्विघ्नास्वाद स्वभावस्य रसनाप्रतीतिरिति-प्रत्यक्षा रसा चेतनसन्निविष्टाः नाट्यलोकधर्मी विशेष प्रकृत्याभिनीतोऽस्मा-भिरिति। ई० प्र०वि०वि० भाग-२ पृ० १७८ ।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'रस'- आनन्दानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । रस के प्रति अभिनवगुप्त का मत तैत्तिरीय उपनिषद्(२।७)में कहे गए रस के स्वरूप के अनुरूप है - जिसमें 'रसो वै सः' कह कर रस के स्वरूप को प्रकट किया गया है । अतः रस का अर्थ है 'आनन्द' और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है । विषय, आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र होता है(उसके) द्वारा सहृदय प्रमाता संविद् विश्रान्ति लाभ करता है । यह संविद् विश्रान्ति आनन्दरूप ही है ।

काव्य या नाट्य के माध्यम से आनन्द की अभिव्यक्ति सहृदय सामाजिक या प्रमाता के चित्त में किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न को जानने के लिए अभिनव गुप्त की रसानुभूति प्रक्रिया को जानना होगा । अभिनवगुप्त के अनुसार रस-प्रक्रिया का विवेचन इस प्रकार है -

नाट्यदर्शन अथवा काव्यश्रवण की वेला में काव्य के विभावानुभाव द्वारा सहृदय[1] प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में पड़ी हुई रत्यादि वासनाएं[2] या संस्कार जागृत होकर रत्यादि स्थायीभाव[3] के रूप में अभिव्यक्त होती हैं । इस प्रकार सहृदय के रत्यादि और काव्य द्वारा वर्णित विभावानुभाव आदि के साथ संवाद होने लगता है या दूसरे शब्दों में सहृदय के आनन्दस्वभाव का उद्बोध होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में कविता रस व्यापार कहते हैं । यह आनन्द बोध इस तन्मयता में

१- अभिनवगुप्त सहृदय का लक्षण देते हैं - येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदी-भूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः-लो॰पृ॰३८

२- प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में संस्कार या वासनाएं रहती हैं। कोई भी प्राणी वासना शून्य नहीं होता-(न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति -अभि॰भा॰ पृ॰२८२)प्रमाता का चित्त नानाविध वासना से विशिष्ट होता है। ये वासनाएं अनादि होती हैं । जाति,देश,काल से व्यवधान होने पर भी वासनाओं का क्रम बना रहता है (जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् इति- यो॰सू॰४,९,१०)अभिनवगुप्त ने इस पंक्ति को लो॰ २।४ पृ॰ १८८-१८९ पर उद्धृत किया है)अतः प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में पड़ी हुई ये वासनाएं(या संस्कार) कहलाती हैं, वे ही विभावादि द्वारा जागृत होने पर स्थायीभाव कहलाती हैं ।

३- स्थायीभाव का विवेचन दशरूपक में इस प्रकार किया गया है -

[illegible] प्राप्तिः [illegible]।
[illegible] परा काष्ठा [illegible] फलान्तरम् ॥

शेष अंश अगले पृष्ठ पर

होता है जिसमें प्रमाता वीतविघ्न होकर प्रमेय में निमज्जित अथवा लीन हो जाता है । यह स्थिति साधारणीकरण की होती है । साधारणीकरण रसानुभव की एक विशेष स्थिति है । इस समय साधारणीकृत प्रमाता साधारणीकृत प्रमेय के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है । इस तन्मयता में होने वाला रसबोध, वैद्यान्तर-सम्पर्कशून्य स्वात्म आनन्दघन रूप होता है । यह आनन्द चतुर्वर्ग पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पार्यन्तिक मुख्य फल है ।

उपर्युक्त रस-प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

शैव दर्शन के छत्तीस तत्त्वों में से दूसरे शक्तितत्त्व से ही अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त सम्बन्धित है ।[1] शक्ति तत्त्व का वैशिष्ट्य विमर्शप्रधानता है । विमर्श के आनन्द, [illegible], चमत्कार, रसना, स्वात्मविश्रान्ति आदि अनेक पर्याय हैं ।[2] ये सभी शैव दर्शन के प्रमुख शब्द हैं । रसानुभूति के समय आत्मा अपने को आनन्द अथवा विमर्श के रूप में अभिव्यक्त अथवा स्फुरित करती है ।[3]

आनन्दस्वरूप रस की अभिव्यक्ति शैव दर्शन में प्रतिपादित आभासवाद के अनुसार होती है अर्थात् जैसे सृष्टि शक्तितत्त्व का ही उन्मेष है, जो वस्तु पहले भी उसी की मात्र अभिव्यक्ति होती है, कोई बाहर रहने वाली नवीन वस्तु की

पिछले पृष्ठ का शेष अंश - तन्मयीभवन की स्थिति किस प्रकार होती है, इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

यथा पुरःस्थे मुकुरे निजं रूपं विभावयन् । [illegible]
तथा विश्वमुकुरे ध्यानमुखाद् [illegible] आत्मानं [illegible] तन्मयीभवेत्
(तन्त्रालोक ३ । २०८ पृ०२४० भाग-२)

१- लो० पृ० ७४ २- [illegible] १५०

३- (१) तत्र वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो रसना, चर्वणा, निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृविश्रान्ति- रिति । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग-२ पृ० १७८
(२) [illegible] परानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार [illegible] वही पृ० १७८
(३) ---- आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्काररूपत्वादिः --- । लो० पृ० ३६

४- [illegible] तन्मयीभवन [illegible] स्वात्मा स्फुरति । लो०पृ०८२

उत्पत्ति नहीं होती । उसी प्रकार रसानुभूति के समय कोई नवीन वस्तु बाहर से नहीं आती, परन्तु सहृदय सामाजिक के अन्तःकरण में ही[1] स्थित आत्मा का जो स्वभाव आनन्द[2] है उसी की मात्र अभिव्यक्ति होती है । उत्पत्ति, अनुमिति या भुक्ति नहीं ।

शैव दर्शन के तन्मयता सिद्धान्त के अनुसार अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण प्रक्रिया को व्याख्यात किया । जिस प्रकार आनन्दशक्ति में विश्रान्ति पाने पर योगी को तन्मयता की स्थिति प्राप्त होती है, जिस में शैव के प्रति तन्मयीभाव जागृत हो जाता है, योगी पूर्णअद्वैत को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार रसानुभूति के समय सहृदय प्रमाता की भी स्थिति हो जाती है । सहृदय प्रमाता परिमितता विधायक अवच्छेदकों से रहित होकर साधारणीकृत हो जाता है । और साधारणीकृत प्रमाता, साधारणीकृत प्रमेय के रूप में प्रकट होता है अर्थात् प्रमाता का प्रमेय से पूर्ण तादात्म्य हो जाता है ।

रसानन्द और ब्रह्मानन्द में सादृश्य स्थापित करने के लिए अभिनवगुप्त ने रस को लोकोत्तरानुभूति रूप सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

ब्रह्मास्वाद का अधिकारी मलरहित चित्त वाला प्रमाता ही हो सकता है उसी प्रकार काव्यानुशीलन के अभ्यास के कारण जिसका मन रूपी दर्पण निर्मल हो गया है, वही विमल प्रतिभाशाली सहृदय काव्यास्वाद का अधिकारी है ।

अभिनवगुप्त जब सहृदय को विमल प्रतिभाशाली कहते हैं तो उसके साथ उसके लिए अधिकारी शब्द का भी प्रयोग करते हैं । इसका अर्थ यह है कि सहृदय ही काव्य का अधिकारी है, हर व्यक्ति नहीं । और वह अधिकारी इसलिए है कि उसमें काव्यार्थ को ग्रहण करने की 'मानसी साक्षात्कारात्मिकाशक्ति' होती है । इस शक्ति के द्वारा वह काव्य के विभावादि का मानस-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है । और विभावादिकों को मानस-चक्षुओं के समक्ष साक्षात् घटित होते हुए

१-अभिव्यंज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति । लो० पृ० ६०

२- उत्पत्ति, अनुमिति एवं भुक्ति मानने वाले आचार्य क्रमशः भट्टलोल्लट, श्री शंकुक एवं भट्टनायक हैं ।

देखता है ।

रसास्वाद के समय चित्तवृत्ति की एकाग्रता , चित्तवृत्ति का विषय में पूर्ण अभिनिवेश तन्मयीभाव आदि अनेक तत्त्व रसास्वाद के लिए अनिवार्य माने गए हैं जो परब्रह्मास्वाद के पक्ष में भी घटित होते हैं । इसीलिए शैवाद्वैतवादी आचार्य अभिनवगुप्त चिद्विशिष्ट रत्यादि को शृंगारादि रस का स्थायीभाव मानते हैं ।

रसानुभूति के समय सत्त्वगुण का उद्रेक होता है ऐसा भट्टनायक का मत है किन्तु अभिनवगुप्त की चिन्तन पद्धति में सत्त्व,रजस् और तमस् का स्वरूप परिवर्तित हो गया है । अभिनवगुप्त ने इन तीनों को पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में स्वीकार किया क्योंकि काश्मीर शैवागम में ये ज्ञान,क्रिया तथा माया की संकुचित शक्तियाँ हैं । इस प्रकार अभिनवगुप्त की चिन्तन-प्रणाली में सत्त्व 'प्रकाशात्मक' है, क्योंकि यह प्रकाश और विमर्श (या आनन्द) दोनों के गुणों से युक्त है । फिर भी अभिनवगुप्त आनन्द और सुख में अन्तर मानते हैं । 'आनन्द' परम संवित् की चेतना है तो 'सुख' व्यक्ति-चित् का बोध है । शैवागम की दार्शनिक भाषा में जब 'विमर्श' अथवा 'स्वसंवित्' - प्रकाश में विश्रान्त होता है तो आनन्द कहलाता है । रसानुभूति के समय भी यही स्थिति होती है - विभावानुभाव के चर्वण के अनन्तर तन्मयीभवन से भावना रूप चित्तवृत्ति से अनुरंजित स्वसंविदानन्द की चर्वणा का गोचर रस रूप आनन्द स्फुरित होता है ।[1] जो क्रमशः अन्ततः अद्वय[2] चिद् में विश्रान्त होता है तथा जिसे लय, समापत्ति आदि भी कहा जाता है ।

रसास्वाद एक अखण्डानुभूति है । क्योंकि , रस-सामग्री के विभिन्न अंगों - विभाव, अनुभाव,व्यभिचारि आदि के संयोग से रत्यादि स्थायीभाव से शृंगारादि रस की प्रतीति-अखण्ड- स्वरूप प्रतीति के रूप में होती है ।

रस की अखण्डता को इतने आग्रहपूर्वक प्रतिपादित किया गया कि काव्यार्थ और रसानुभूति के बीच कोई बाधा या विघ्न नहीं स्वीकार किया गया । रस के स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में अभिनव गुप्त कहते हैं - वीतविघ्न प्रतीति में चित्त

१- लो० पृ० ८२

२- लयादि-समापत्ति आदि पर्याय: समाधि: - प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ८९

स्थायीभाव का अनुभव किया जाता है वही रस है । तन्मय विशेषण का प्रयोग अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की निर्विघ्न निर्विघ्नता अवस्था और तन्मयता की व्यंजना के लिए किया है, जिससे प्रमाता की पूर्ण तन्मयता या तल्लीनता की व्यंजना होती है । ऐसे स्थिति में तन्मयता संवित् की एक विशेष अवस्था है जिसमें चित् किसी प्रकार के विघ्न से बाधित नहीं होता ।

रस चिन्मय, अन्यज्ञानरहित और स्वप्रकाश है । इसमें सहृदय प्रमाता देश, काल, ममत्व और परत्व सम्बन्धी अन्य ज्ञानों से सर्वथा मुक्त हो जाता है । प्रमाता का प्रमेय से पूर्ण तादात्म्य हो जाता है । इसी समय आनन्दमय संवित् का स्फुरण होता है । तन्मयीभाव की स्थिति आत्मतल्लीनता की, आत्मास्वाद की स्थिति है । यह संवित् की 'स्वविश्रान्ति' है ।

अभिनवगुप्त के शब्दवत 'तन्मयीभवन' के स्पष्टीकरण[1] के लिए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का एक अत्यन्त सटीक उदाहरण उपादेय है । हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं । घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस-पटल पर उपस्थित होता है । अतः घट व्यष्टि चेतना का ही प्रमुख रूप है, चित्त का ही एक स्पन्दित रूप है । इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाशविमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है । विषय की यह आत्माकारा परिणति ही 'तन्मयीभवन' है । इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव का अर्थ है - 'प्रमेय की आत्मरूप में परिणति' । काव्य के संदर्भ में काव्य-विषय की सहृदय-प्रमाताकार परिणति ही तन्मयीभाव है ।

इस तन्मयीभाव की स्थिति में जो रसानुभूति होती है वह अलौकिक चमत्कार[2] प्रधान है । आनन्दवर्धन ने भी काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे चमत्कार रूप माना है । उनका कथन है कि सहृदय को जिस वस्तु के सम्बन्ध में नवीन स्फुरण

१- यथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः ? नवीनं स्फुरणं स्वात्मन्याविष्टः
प्रमुखाभावान्त एव, निमज्जयति - रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन-पृ० २०२

२- The term 'Camatkara' means aesthetic experience, the state of fruition of the Rasa. Camatkara is aesthetic experience of Tasting-R. Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta. P. 72

का प्रत्यक्ष हो, आस्वादन मात्र नहीं, तब वस्तु को रम्य कहा जाता है, अर्थात् विषय-वस्तु में जो सौन्दर्य है, विषयी पक्ष में वही चमत्कार है। सौन्दर्य वस्तु धर्म है और चमत्कृति आस्वाद रूप।[1]

अभिनवगुप्त ने दो तरह से चमत्कार की व्युत्पत्ति मानी है। एक तो - 'चमत्कार' - जिसमें 'चमत्' शब्द विस्मय बोधक है और 'कार' चेतना की उस स्थिति के सूचक का या प्रक्रिया का। अर्थात् जो हमारी चेतना को सहसा विस्मयाभिभूत कर देता है। और दूसरी - 'चमत्' की व्युत्पत्ति 'चम्' से स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ है भोग या आस्वाद रूप आनन्द। अतः 'चमत्' का अर्थ हुआ, किसी विषय का विशेष कर सौन्दर्यात्मक या रसात्मक आस्वादरूप आनन्द में तन्मय होना। अभिनवगुप्त ने दोनों व्युत्पत्तियों को स्वीकृति दी है। उनकी व्याख्या के अनुसार चमत्कार स्वात्मविश्रान्ति की स्थिति है।[2] यह चेतना की एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें निर्विघ्न आस्वाद आता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'चमत्कार' पद का प्रयोग उस शुद्ध चेतन तत्व के लिए किया जाता है जो आत्मा या चेतन को जड़ से अलग करता है। अभिनवगुप्त की 'परात्रिंशिका-विवरण' के अनुसार चमत्कार का अभाव ही जड़ता है और जड़ता चमत्कार के आवेश का अभाव है। इसलिए जितना पूर्ण ब्रह्मानन्द अथवा काव्यानन्द में अनन्य भोग का अभ्यासी है, वही अतिशय चमत्कार का स्वाद जानता है।[3]

१- रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र - पृ. ६८

२-(क) चमत्कारो हि इति स्वात्मन्यनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानस्य स्पन्दं, यदेव करोति हृदये विशुद्धि नान्यतानुभावादि। चमत् इति क्रियाविशेषणम्, आनन्द रस वा तस्मिन् निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः चमत् इति वा अच्छिन्नत्वाभ्योऽन्ते विस्मयाभिरामतानुकरणम्। काव्यनाट्य-रसास्वादेऽपि ... निर्विघ्न रसास्वादो भूतात्मा चमत्कार-तनुर्भवति। R. Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Abhinavagupta-72

(ख) चमत्कारितेति आस्वादयुक्ताना तुष्टितरत्वम्: - ... पृ० ११८

३-अतो हि चमत्कारो ... अभिनवगुप्तपादैः ... अनुत्तरा ... चमत्कारैक रसात्मा ... प्रतिष्ठि पूर्णं ... प्रतिष्ठित-चमत्क्रिया। R. Gnoli : A.E.A.A. P.73

निःसन्देह काव्यास्वाद के लिए 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग बहुत पहले से ही अपनाया गया। काव्य में जब जब विभावादि का संयोग होता है, सहृदय की चेतना में आस्वाद रूप चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार, चमत्कार के दो पक्ष हुए - एक आस्वाद, दूसरा - विस्मय रूप। रस की चमत्कारप्राणता का यही अभिप्राय है।

अभिनव गुप्त ने रसानुभूति के प्रसंग में समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः ये विशेषताएं प्रकारान्तर से काव्यानन्द की ही व्याख्या हैं। विश्रान्ति का अर्थ है - संविद् विश्रान्ति। इसी को अभिनवगुप्त प्रायः स्व-संविद्-विश्रान्ति भी कहते हैं, और इस संविद् विश्रान्ति का दूसरा नाम 'आनन्द' है। इसी को 'लय' भी कहा जाता है। और समाधि भी। 'समाधि' समापत्ति का ही पर्याय है। इन तीनों के साथ ही रसानुभूति के संदर्भ में अभिनव-गुप्त 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका सम्बन्ध आत्मविश्रान्ति से है। 'चमत्कार' का अर्थ है किसी अन्य की अपेक्षा न रखने वाले अपने ही आत्मस्वरूप में विश्रान्ति पा जाना। यहाँ वृत्तियों का बाहिर्मुखी अनुधावन समाप्त हो जाता है। वे निष्क्रिय हो जाती हैं। इस स्थिति में केवल आत्म-स्वरूप का परामर्श होता है। किन्तु विश्रान्त्यावस्था आत्मा की जड़ावस्था या शून्यावस्था नहीं है। बाह्य और मानसिक स्थूल रूपों के विलोड़न या संस्पर्शों से शून्य होते हुए भी संविद् विश्रान्ति में आन्तरस्पन्दन होता रहता है। जैसे मेघमाला में विद्युत्-स्पन्दन। इस प्रकार आत्मविश्रान्ति में विश्रान्ति के साथ ही आन्तर स्पन्द के लिए भी अवकाश है। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यानन्द विश्रान्ति के साथ स्पन्दनात्मक अवस्था का भी बोधक रहता है।

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद में सादृश्य

१- चमत्कारो हि इति स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुंजानता रूपं चमत्वं, तदेव करोति संरम्भे, विस्फुरति न अन्यत्र अनुधावति - - - इत्यादिना वा आन्तरस्पन्दान्दोलित परामर्शस्य। डॉ० कृष्णमिका विलाडीजी, अभिनवगुप्त पृ० २६८ पर उद्धृत।

२- रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र पृ० १२७-१२८

है । ये रस दुखों से व्याप्त नहीं हैं । इस तथ्य की पुष्टि भट्टनायक[1], अभिनवगुप्त[2], विश्वनाथ आदि आचार्यों के मत से होती है । सादृश्य में समानता के साथ ही असमानता भी होती है । क्योंकि, सादृश्य का अर्थ ही है दो भिन्न पदार्थों की समानता । रसास्वाद के ब्रह्मास्वाद से भिन्न होने के साथ ही साथ, उसका अपना वैशिष्ट्य भी है ।

रसास्वाद का प्रधान वैशिष्ट्य यही है कि जिस आनन्द को योगीजन कठोर साधना से प्राप्त करते हैं उसे सहृदय सुकुमार अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं । अभिनवगुप्त ने इस तथ्य की पुष्टि के लिए भट्टनायक की निम्न कारिका प्रस्तुत की है ।

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ।।

काव्यानन्द योग द्वारा प्राप्त आनन्द की तुलना में अधिक सुस्वादु एवं सुकुमार है, इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने लोचन में स्पष्ट भी किया है ।[4] अभिनव-भारती में भी जहाँ 'योगिप्रत्यक्ष' को विषयास्वाद-शून्यता के कारण 'रूक्ष' कहा गया है वहाँ रसप्रतीति को 'सुन्दराविष्ट' से युक्त माना है ।[6]

इसके अतिरिक्त योग एवं काव्य दोनों के आनन्द के स्वरूप में भी अन्तर होता है । योगी दो प्रकार के होते हैं : मितयोगी एवं परयोगी । मितयोगी का ज्ञान तटस्थ एवं परसंवेदनात्मक होता है, इसलिए उसमें रसात्मकता नहीं होती।

१- ..... ध्वन्यमानविभावादिस्थायिनिर्भरभोगेन स्वानन्दसंविद्विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । लो०पृ० १८३

२- .....।स्वसंविदानन्द चर्वणाव्यापारोऽपि रसात्मा स्फुरति - लो० पृ० ८८

३- सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।। सा०द० ३।२

४- लो० पृ० ९१-९२

५- अस्वादनानिजसुकृतसम्भृतविषयानुगामिप्रत्ययसंविदनुविद्धानाभिमितिवद् - रत्यादिकचर्वणानुगतसुखदुःखस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः लो०पृ० ९१

६- योगिप्रत्यक्षजं विषयास्वाद-शून्यताकरणरूक्षाद्यभिमानाकार-सुखदुःखादि-विविध-भावनानुवेधितसुन्दराविष्ट-संविद्रसनात्मकं प्रत्ययं तुल्यः ।
अभिनवभारती भाग-१ पृ० २६०

इसी प्रकार महायोगी सभी विषयों के उपराग से शून्य होकर शुद्ध स्वरूप आत्मा-नन्द को उपलब्ध करता है, इसलिए वह भी सौन्दर्यातीत होता है। रसास्वाद इन दोनों प्रकार के अनुभवों से स्पष्ट विदित होता है कि सहृदय अन्य विषयों से सम्बद्ध नहीं रहता बल्कि, सहृदय का चिदानन्द विभावादि विषयों से संवलित रहता है। रसास्वाद विघ्न विहीन शुद्ध चिदानन्द होता है तो ब्रह्मा-नन्द निर्विशिष्ट इत्यादि स्थायीभाव शून्य। इस प्रकार योगी जहाँ सभी प्रकार के द्वन्द्वों एवं विरोधों को ज्ञानाग्नि द्वारा विनष्ट करके, केवल स्व आनन्द प्राप्त करता है, वहाँ सहृदय के चित्त में स्थित रत्यादि वासनाएं ही[2] जागृत होकर विभावादि द्वारा रत्यादि स्थायी भाव के रूप में अनुभूत होती हैं।

रस की अलौकिकता

अभिनवगुप्त ने रस की अलौकिकता के अन्य प्रमाण देते हुए लौकिक विभावादि-रस न कारक हेतु है और न ज्ञापक हेतु। लोक में कारक और ज्ञापक दो प्रकार के हेतु पाए जाते हैं[3], रस के व्यंजक हेतु विभावादि इन दोनों से विलक्षण हैं, अलौकिक हैं।

१- का च..... योगिप्रत्यक्षजं च ताटस्थ्येन परसंवित्तिज्ञानं सकलवैषयिकोपराग-शून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोग-मर्जनादिविघ्नान्तरायविरहादस्फुटत्वाभिनिवेशैः सौन्दर्याभावात्।

- अभिनवभारती भाग-१ पृ० २८५

२- Mystical experience involves the annihilation of every pair of opposites, every thing is reabsorbed in its dissolving fire. Sun, moon, night and day, beautiful and ugly, etc., no longer exist in it. The limited I is completely absorbed into Siva or Bhairava, the sacred object, every thing vanishes from the field of consciousness. Aesthetic experience, on the other hand, requires the presence of the latent traces of Delight, etc.(aroused by the operation of the Determinants, etc.)-R.Gnoli : The A.E.A.A.P.100

३- तस्मिन्नुत्पाद्यतया प्रकाशनीयताभ्युपगमाया विभावादिव्यवस्थया लोकोत्तरत्वात् -

लो० पृ० १८८

रस की अलौकिकता की सिद्धि के लिए एक अन्य प्रमाण अभिनवगुप्त यह भी देते हैं कि रस न सविकल्पक है और न निर्विकल्पक वरन् विभावादि जीवितावधि है।[1] इसलिए रसानन्द को ब्रह्मानन्द नहीं कहते किन्तु, उसके तुल्य स्वीकार करते हैं। क्योंकि ब्रह्मानन्द निर्विकल्प रूप है, उसमें ज्ञाता ज्ञेय पुनः पुनः एकात्म रूप हो जाते हैं फिर भी दोनों (ज्ञाता और ज्ञेय) विशिष्टता विनाशक सम्बन्धों से रहित होते हैं अर्थात् साधारणीकृत होते हैं। इस प्रकार काव्यानन्द की स्थिति मध्यवर्ती है, यह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है और ब्रह्मानन्द की तुलना में स्थूल तथा अस्थायी है।

अभिनवगुप्त रस को आनन्दरूप ही मानते हैं - एक स्थल पर रस को सुख रूप मानते हुए कहते हैं - सब रस सुख प्रधान होते हैं, क्योंकि स्वसंविद् की चर्वणा ही उसका रूप है तथा यह चर्वणा एकघन एवं प्रकाशरूपा होती है और आनन्द इसका सारभूत तत्व है। सुख अन्तरायशून्य विश्रान्तिरूप होता है। और दुःख अविश्रान्ति रूप। इसीलिए कपिल आदि दार्शनिक दुःख को रजोवृत्ति का धर्म मानते हुए, चांचल्य को ही दुःख का प्राण मानते हैं। रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त एकघन संविति में विश्रान्त होता है, अतएव सभी रस आनन्द-रूप होते हैं।[2]

अभिनवगुप्त ने सहृदय के हृदय को स्पन्दन शक्तियुक्त माना है। यह स्पन्दन शक्ति - आनन्दशक्ति है। मधुर गीत आदि के श्रवण से तथा चन्दनादि के स्पर्श से माध्यस्थ्य का परिहार होकर हृदय की जो स्पन्दमान अवस्था होती है,[3] उसी को आनन्दशक्ति कहते हैं, जिसके कारण मनुष्य सहृदय कहलाता है। काव्य-

---

१- परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य - लो० पृ० १९०

२- तेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्
.... अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्।
तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्या-
नन्दरूपता सर्वरसानाम्। अभिनवभारती भाग-१ पृ० २८२

३- तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके।
माध्यस्थ्यविगमे याऽसौ हृदये स्पन्दमानता
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः। - तन्त्रालोक ३।२१०

कारण है सहृदय को वहीं आनन्दमय स्वरूप का अनुभव होता है । जिनमें वैशद्यादि निमज्जन का सामर्थ्य नहीं होता, वे असहृदय हैं ।[1]

अभिनव गुप्त ने रस को आनन्दरूप ही माना है - इस प्रसंग में कुछ विद्वान शंका कर सकते हैं कि करुण रस के प्रसंग में भी क्या सामाजिक को आनन्दानुभूति होती है ?

इसका समाधान अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनव गुप्त ने किया है - रस का अर्थ है - शब्दार्थ आदि के माध्यम से विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मा का आस्वाद - 'आनन्दमय' होता है, उसमें दुःख की शंका ही कैसे हो सकती है ? केवल उसकी वैचित्र्य के लिए रति शोक आदि संस्कारों (स्थायीभावों) का व्यापार होता है ।[2]

अतः करुण रस में व्यक्तिगत शोक की प्रतीति या प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता , वरन् साधारणीकृत (व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त) शोक की भूमिका में आनन्दघन आत्मा का आस्वाद होता है, जो स्वयं आनन्दमय है । काव्यास्वादन के समय साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा सामाजिक केवल स्वयं निमग्न रहता है । इसीलिए वह जिस किसी भी भाव का आस्वादन करेगा वह आनन्दमय ही होगा । नाना भावों से युक्त 'काव्य' - मनुष्य को रागद्वेषादि से मुक्त कर आत्म-साक्षात्कार आनन्दघन रसानुभूति में प्रवृत्त करता है , अतः काव्य में भाव के लौकिक स्वरूप का महत्त्व नहीं, भाव की उत्कृष्ट (कलात्मक) अभिव्यक्ति का ही महत्त्व है , जो सहृदय को व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर आत्मानन्द रूप रस की अनुभूति में प्रवृत्त करती है । यह सिद्धान्त शैव[3] विशेषतः वेदान्त पर आधृत है जो आत्मा को परम आनन्द रूप मानता है ।

अभिनवगुप्त ने सभी रसों का पर्यवसान शान्त रस में ही माना है, उसके मूल में भी उनकी दार्शनिक दृष्टि ही है । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सभी रसों

१- येषां न तन्मयीभूतिर्वैशद्यादिनिमज्जनात् ।
अहृदयास्ते ... असहृदया इति ॥ वही लोचन

२- अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशंका केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः । अभि० भा०

३- द्र०- सिद्धान्त

का आस्वाद शान्तप्राय ही होता है ।[1] यही नहीं, बल्कि वे शान्त रस को सभी रसों की प्रकृति भी मानते हैं । उन्होंने लिखा है कि अपने-अपने अनुरूप कारण को प्राप्त करके शान्त रस से ही सभी भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्त के अभाव होने पर फिर शान्त में ही लीन हो जाते हैं । इसलिए सभी रसों की प्रकृति शान्त रस है । वस्तुतः विशुद्ध आनन्दस्वरूप रस और शान्त रस का एक ही स्वरूप होता है । हाँ, इस प्रकार शान्त रस वास्तव में कोई विशिष्ट रस नहीं है अपितु रस का सामान्य स्वरूप कहा जा सकता है जिसे अभिनवगुप्त ने प्रकृत रस कहा है । इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का काव्यानन्द शान्त रस के निकट आ सकता यह भी कहा जा चुका है कि उनकी दृष्टि में काव्यानन्द का स्वरूप अन्ततः शान्त रूप ही था ।

जहाँ तक शान्तरस के स्वरूप का प्रश्न है, उसके बारे में अभिनवगुप्त ने लिखा है कि वह मोक्षाध्यात्म का निमित्त है, तत्त्वज्ञानार्थ हेतु से संयुक्त है तथा निःश्रेयस धर्म से युक्त है । इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का काव्यानन्द अपने चरम रूप में मोक्षाध्यात्म, तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस धर्म से संयुक्त माना जा सकता है । स्पष्ट ही, आनन्द का यह स्वरूप तत्सम्बन्धी सामान्य धारणा से अधिक उदात्त एवं भव्य है । अभिनवगुप्त ने शान्त रस को सब रसों का मूल माना है । इसका प्रधान हेतु शैवदर्शन की आनन्दवादी विचारधारा है ।

१- तत्र सर्वेषां शान्तप्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या. ।अभि०भा० भाग-१ पृ० ३३६

२- स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।। लो०पृ० ३९१
इत्यादि रसान्तरप्रकृतिकत्वमुक्तम् ।

३- अभिनवगुप्त की दृष्टि में आनन्द का स्वरूप अन्ततः शान्त रूप इसलिए है क्योंकि इन्द्रियजनित जो आनन्द है वह तो लौकिक है जैसे स्वादिष्ट भोजन का आस्वाद होने पर रसना जनित आनन्द होता है किन्तु काव्य में जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुभूति अनिर्वचनीय होती है । प्रमाता आत्मानन्द, आत्मरति में निमग्न हो जाता है । शान्त रस में भी प्रमाता की यही स्थिति रहती है, वह तृष्णाक्षय सुख का अनुभव करता है, यह 'तृष्णाक्षय' आत्मरति ही है क्योंकि समस्त तृष्णाएं आत्मा (जीवात्मा) के ही कारण होती हैं । आत्मारहित शरीर तो जड़वत् होता है । जब तक शरीर में आत्मतत्त्व रहता है तभी तक

शेष अंश अगले पृष्ठ पर देखिए-

उपर्युक्त अभिनवगुप्त की दार्शनिक रस-प्रक्रिया को सारांश में इस प्रकार कहा जा सकता है -

१- शैवदर्शन के 'शक्ति तत्व' से ही अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त सम्बन्धित है।

२- शैव दर्शन के 'आभासवाद' के ही अनुसार अभिनव ने रसाभिव्यक्ति की व्याख्या की है।

३- शैव दर्शन के 'अहन्ता' सिद्धान्त के आधार पर ही साधारणीकरण प्रक्रिया का विवेचन किया।

४- अभिनवगुप्त ने रस की विश्रान्ति संविदानन्द में मानी है। रस को स्व-संविद् की चर्वणा का गोचर मानकर रस की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए रसानन्द और ब्रह्मानन्द में सादृश्य स्थापित किया है।

(१) अनुभव सामाजिक में और ब्रह्मास्वाद के प्रमाता में सादृश्य है।

(२) रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद सत्वोद्रेक की स्थिति में होता है। जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति, लय और समापत्ति में होती है।

(३) रसानन्द और ब्रह्मानन्द निर्विघ्न और अखण्ड होता है। वह चिन्मय, अन्य ज्ञानरहित और स्वप्रकाश होता है।

(४) दोनों लोकोत्तर चमत्कार प्राण हैं।

(५) इसीलिए रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

(६) रस के लोकोत्तर होने पर भी उसका अपना वैशिष्ट्य है।

५- शैव दर्शन के आनन्दवाद के ही अनुसार अभिनवगुप्त ने आनन्दस्वरूप रस का प्रतिपादन किया है।

(१) करुण रस की अनुभूति भी आनन्दरूप ही होती है।

(२) शान्त रस सब रसों का मूल है।

पिछले पृष्ठ का शेष अंश - अनन्त तृष्णाएं रहती हैं। तृष्णाओं का नाश हो जाने पर आत्मतत्व ही शेष रहता है। अत: आत्मशान्ति तो सुख होना वह आत्मानन्द रूप ही होना उसे आत्मरति भी कह सकते हैं। अत: केवल शान्तरस ही ऐसा रस है जिसका स्थायीभाव आत्मसुख, आत्मानन्द, आत्मरति रूप होता है। इसीलिए अभिनवगुप्त शान्तरस को रस सामान्य का स्वरूप मानते हैं।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने पहली बार रसास्वाद के कलात्मक पक्ष की पुष्ट दार्शनिक पीठिका प्रदान की । रसास्वाद को शैवाद्वैत के आधार पर उन्होंने उसका आत्मास्वाद से अभिन्न घोषित किया । इसी व्याख्या का एक मुख्य परिणाम यह भी हुआ कि उन्होंने शैव-आनन्दवाद के आधार पर रस की एकान्त आनन्दरूपता की व्याख्या की । व्यंजना के आधार पर रसानुभूति और अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य इस प्रतिपादित कर एक ओर उन्होंने रस की नितान्त [illegible] आत्मपरक सत्ता का निर्भ्रान्त आख्यान किया, दूसरी ओर शैव-सिद्धान्त के आधार पर रस के अन्तरंग एवं बहिरंग को परस्पर सम्बद्ध कर दार्शनिक स्थिति प्रदान की ।

----:o:----

चतुर्थ अध्याय

विवेचन और विश्लेषण

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का मूल्यांकन-

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में व्याख्याता शंकराचार्य एवं रामानुज की भाँति साहित्य क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त भी केवल व्याख्याकार ही नहीं, वरन् मौलिक चिन्तक[1] भी हैं। उन्होंने ध्वन्यालोक का अतिविस्तृत व्याख्यान करते हुए आनन्दवर्धन के विचारों का नया परिधान दिया है, जिसका प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर मूल-ग्रन्थकार से भी अधिक पड़ा और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय अभिनवगुप्त के प्रति अधिक निष्ठावान् रहा, आनन्दवर्धन के प्रति कम। आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त को अधिक प्रतिष्ठा मिलने का मुख्य कारण उनकी लोचन टीका ही है। वस्तुतः यह टीका इतनी प्रौढ एवं वैदुष्यपूर्ण है कि अध्येता को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त ही जटिल है। जिसके कारण उनमें ऐसी धारणा ही बन गई कि बिना 'लोचन' टीका को पढ़े ध्वन्यालोक के ठीक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। किन्तु यदि धैर्यपूर्वक ध्वन्यालोक का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-सिद्धान्त में कोई जटिलता नहीं है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त सर्वथा सरल एवं ऋजु है, जटिल स्वयं लोचन टीका है।

तथापि अभिनवगुप्त अपनी लोचन टीका की सार्थकता प्रतिपादित करते हैं-

किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥[2]

यद्यपि यह सत्य है कि 'लोचन' 'आलोक' को सुग्राह्य बनाता है, तथापि अपने शुद्ध रूप में नहीं। क्योंकि उन्होंने अपनी अभिनव बात गुप्त ढंग से रखी है।

१- द्रष्टव्य - डा० अम्बिका प्रसाद शुक्ल का लेख :-
" What Ānandavardhana Meant By Dhvani? J.G.N.J.R.I. Alld. Vol.22, Nov.1965. - Feb. 1966 P.13-22.

२- लो० पृ० १४५ ।

ध्वन्यालोक को आधार बनाकर इस पर जो चिन्तन अंकित किए गए, वह बहुत कुछ उनके अपने हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में, लोचन में स्थान-स्थान पर अंकित अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों का विवेचन अभीष्ट है।

आनन्दवर्धन ने प्रथम कारिका में बुधों द्वारा समाम्नात 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस मत का उल्लेख किया है और विवाद ग्रस्त होने के कारण इस ध्वनि के स्वरूप को निःसन्दिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से विवेचित करने का संकल्प किया है। किन्तु इस मुख्य विषय-'ध्वनि स्वरूप विवेचन' से पूर्व भूमिका रूप में ध्वनि के प्रधान तत्त्व 'प्रतीयमान-अर्थ' के स्वरूप एवं महत्त्व के विवेचन में (ध्व० १।२ से ध्व० १।१२ तक) पूर्ण संरम्भ के साथ प्रवृत्त होते हैं। संयोग से वे दूसरी ही कारिका से इस प्रकार का उपोद्घात करते हैं कि वह प्रायः टीकाकारों एवं सामान्य पाठकों के लिए भ्रमकारक हो ही जाता है। क्योंकि आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्थल-स्थल पर विभिन्न अर्थों में 'आत्मा' पद का प्रयोग किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'आत्मा' पद के अनेक अर्थ लिए हैं किन्तु आनन्दवर्धन ने जिस अर्थ में चाहा है, अभिनवगुप्त उस अर्थ में उसकी व्याख्या कभी-कभी नहीं करते। परिणामतः सिद्धान्त में मतभेद हो जाता है।

आत्मा पद के विभिन्न अर्थ -

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'[1] में प्रयुक्त 'आत्मा'[2] पद का अर्थ सारभूत अंश के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी है।

(१) यदि 'आत्मा' पद का अर्थ सार-अंश माना जाए तो 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का अर्थ होगा - ध्वनि अर्थात् काव्यविशेष, काव्य अर्थात् काव्यसामान्य में आत्मा अर्थात् साररूप होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' जिसका आगे

१- ध्व० १।१ ।

२-अमरकोश में भी कहा गया है-आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।

विवेचन किया जायेगा तथा जिसके बहुसंख्यक भेद बताए जायेंगे, उसकी सत्ता काव्य सामान्य में रहने पर ही 'काव्य' प्राणवान् बनता है। जैसे प्रसिद्ध श्लोक 'निःशेषच्युतचन्दनं'[1] इत्यादि में 'अधम' पद में वस्तुध्वनि काव्य है और उसी मात्र से सम्पूर्ण श्लोक देदीप्यमान होता हुआ, उत्तम कोटि का काव्य बन जाता है। जैसे किसी एक अंग में स्थित आभूषण से ही ललना का लावण्य प्रदीप्त हो उठता है। इसी प्रकार ध्वनि के अन्य भेद जहाँ भी काव्य में रहते हैं, वह काव्य प्राणवान् हो जाता है। यही तात्पर्य था 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहने का।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है 'ध्वनि काव्य विशेष' कैसे काव्य सामान्य की आत्मा होगा?

इसका समाधान आनन्दवर्धन ने अपनी इस उक्ति द्वारा किया है[2] कि ध्वनि-काव्य विबुधोद्यान में कल्पतरु के समान है अर्थात् जैसे देवोद्यान में कल्पवृक्ष एक वृक्ष विशेष है। इसी वृक्ष-विशेष के कारण उस उद्यान का महत्त्व है, वह विबुधोद्यान है।

उस वृक्ष-विशेष के अभाव में वह उद्यान, देवोद्यान नहीं, केवल वृक्ष-समूह-मात्र रह जायगा। अतः वह कल्पवृक्ष देवोद्यान का प्राणभूत है। इसी प्रकार 'काव्य-सामान्य' में 'ध्वनि काव्यविशेष' प्राणभूत अंश है। उस काव्य विशेष के अभाव में 'काव्य' काव्य ही नहीं होगा। काव्य का चिह्न मात्र रह जायगा। इसीलिए आनन्दवर्धन ने इस प्रकार कहा है - 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'।

(२) यहाँ 'आत्मा' शब्द का स्वभाव या स्वरूप अर्थ भी माना जा सकता है। अर्थात् 'काव्यस्यात्मा-ध्वनिः' कहने का तात्पर्य होगा कि काव्य का स्वभाव या स्वरूप ध्वनि ही है। 'आत्मा' शब्द का स्वभाव अर्थ में आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अन्य स्थल पर भी प्रयोग किया है। यथा - 'वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा (अर्थात्[3] शब्दस्वभावः) काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः' इत्यादि।

१- निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥ काव्यप्रकाश पृ० ३०

२- काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥ ध्व० पृ० ५५२

३- ध्व० पृ० १३५

इस प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के दो अर्थ हो सकते हैं -

(१) सारभूत-अंश

(२) स्वभाव, स्वरूप या प्रकार

२- 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः'[1] में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ - प्राणभूत या रसभूत तत्त्व है। ~~अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व है।~~ अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व - सहृदयश्लाघ्य, व्यंग्यार्थ है।

इस प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' और 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' इन दोनों कारिकाओं में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनकी संगति इस प्रकार होती है -

काव्य-सामान्य का सारभूत-अंश ध्वनि-काव्यविशेष है[2] अथवा 'ध्वनि' काव्य का एक प्रकार है।[3] और इस ध्वनि-काव्य का प्राणभूत-तत्त्व व्यंग्यार्थ है।[4] यह आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है।

किन्तु अभिनवगुप्त की लोचन टीका आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य को स्पष्ट नहीं करती।[5] अभिनव गुप्त 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का अर्थ करते हैं - काव्य की आत्मा[6] ध्वनि है। पुनः 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थित-

---

१- ध्व० १।१   २- ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तम्। ध्व० पृ० ३००

३- ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य..... । वही पृ० ४५८

४- मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। वही पृ० १०७

५- (१) ध्व०लो०भू० ६-११   (२) वही पृ० ४२-४६

६- अभिनवगुप्त को भलीभाँति ज्ञात है कि 'आत्मा' पद का अर्थ- प्राणभूत या सारभूत तत्त्व के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी होता है। तभी तो वे ध्वन्यालोक(२।१)में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ करते हैं - 'आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह'(लो०भू०२०७)। और ध्व० ३।६ की वृत्ति में भी 'ध्वन्यात्मरसानां' की व्याख्या करते हुए कहते हैं - 'ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो'(लो०भू०३२६) किन्तु 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ- सारभूत के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी हो सकता है- इस तथ्य की ओर उनका ध्यान नहीं है।

ध्वन्यालोक:' में 'व्यंग्य अर्थ' को काव्य की आत्मा कहा जा रहा है । यहाँ आनन्दवर्धन के चिन्तन में विरोधाभास प्रतीत होता है । क्योंकि आत्मा तो एक ही हो सकता है, दो नहीं । अभिनवगुप्त यह निर्णय नहीं कर पाते कि काव्य की आत्मा ध्वनि है या व्यंग्यार्थ ? अन्तत: दोनों को ध्वनि रूप मान लेते हैं और इसी रूप में इन दोनों को 'लोचन' में रखते हैं । वस्तुत: अभिनवगुप्त की लोचन टीका की कुशलता का मूल कारण ध्वनि और प्रतीयमान-अर्थ में ऐक्य की प्रतिष्ठा ही है ।

<u>ध्वनि और प्रतीयमानार्थ का पार्थक्य -</u> जैसा कि ऊपर कहा गया है - काव्य-सामान्य में ध्वनि काव्यविशेष सार-अंश रूप है और प्रतीयमानार्थ या व्यंग्यार्थ उस ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व है । यह आनन्दवर्धन का सीधा-सा सिद्धान्त है ।

परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त द्वितीय कारिका के पूर्व कही गई पंक्ति - 'तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते'[2] .... इत्यादि- की व्याख्या इस प्रकार करते हैं --

'...... तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये[3].....' इत्यादि यहाँ अभिनवगुप्त कह रहे हैं कि प्रतीयमान नामक ध्वनि स्वरूप का निरूपण होने पर[4] इत्यादि । यदि ध्वनि-स्वरूप 'प्रतीयमान' नामक है तो 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि ही ध्वनि की परिभाषा हो जाती । फिर १३वीं कारिका में 'यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थं' इत्यादि जो ध्वनि की परिभाषा प्रतिपादित की गई है, वह पुनरुक्त हो जाती, पुनरुक्त हो जाने पर भी यदि दोनों कारिकाओं में प्रयुक्त शब्द समान हों तब कोई आपत्ति नहीं । किन्तु, दोनों कारिकाओं में

१- ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये इत्यादि । लो० पृ० ४२

२- ध्व० पृ० ४२   ३- लो० पृ० ४२

४- ध्व० १।१३.

प्रयुक्त तत्त्व भिन्न हैं । अतः दोनों को ध्वनि का स्वरूप मानना सर्वथा असंगत है क्योंकि एक वस्तु की परिभाषा का एक ही स्वरूप होता है । भिन्न भिन्न नहीं ।

इस समस्या का समाधान अत्यन्त सरल है यदि आनन्दवर्धन के उपर्युक्त सिद्धान्त को अवधानपूर्वक ग्रहण किया जाए कि - ध्वनि काव्यरूप उत्तम काव्य सामान्य रूपी उपमान का सार अंश है और प्रतीयमानार्थ ध्वनिकाव्य का आत्मतत्त्व (रहस्यभूत-तत्त्व) है । तब इस प्रकार की शंका का कोई अवसर ही नहीं रहता । अभिनवगुप्त भी यह कहते हैं - प्रतीयमान नामक ध्वनि स्वरूप इत्यादि यह सर्वथा भ्रान्तिकारक है । इन्होंने 'तत्र ध्वनिरेव..... इत्युक्तो' की व्याख्या ठीक नहीं की । वस्तुतः ध्व० १।२ से ध्व० १।१२ तक का भाग ध्वनि की परिभाषा के पूर्व भूमिका मात्र है जो ध्वनि के प्राणभूत व्यंग्यार्थ का परिचय कराया गया है । अतः ध्व० १।२ से ध्व० १।१२ तक व्यंग्यार्थ का विवेचन ध्वनि स्वरूप को सुप्रतिष्ठित करने के लिए ही किया गया है । आनन्दवर्धन ने स्वयं ध्व० १।१२ के अन्त में वृत्तिभाग में कहा है -

'एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यंग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह'[1]।

(अर्थात् - वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव प्रतिपादित करके, प्रकृत अर्थात् ध्वनि-स्वरूप में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं।)

अतः यह निश्चित है कि ध्वनि और प्रतीयमान भिन्न हैं । उनके स्वरूप को परस्पर मिलाना नहीं चाहिए ।

<u>प्रतीयमानार्थ के भेद -</u>

प्रतीयमानार्थ या व्यंग्यार्थ के तीन भेद[2] हैं -

(१) वस्तुव्यंग्य

(२) अलंकार व्यंग्य

(३) रसादि व्यंग्य

१- ध्व० पृ० १०३ ।

२- (१) स ह्यर्थो.... वस्तुमात्रमलंकाररसादयः - वही पृ० ५०

(२) प्रतीयमानो पुनस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः - वही पृ० ३६५

(ध्व० १।५) 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यादि का जो व्याख्यान अभिनवगुप्त ने किया है, उसमें कुछ उलझनें अवश्य और है भी थोड़ा है। उनकी लोचन की निम्नपंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

'स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम् ... तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तदित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् ।'[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिनवगुप्त वस्तु, अलंकार एवं रस को 'ध्वनि' कह रहे हैं,+ [redacted] तथा रसध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हैं। किन्तु आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी 'वस्तु अलंकार एवं रस' को 'ध्वनि' संज्ञा नहीं दी है।[2] वरन् 'व्यंग्यार्थ' संज्ञा दी है। और 'व्यंग्यार्थ' की ध्वनि काव्य की आत्मा मानते हैं, रसध्वनि को नहीं। वरन् 'रसव्यंग्य' को काव्य का प्रधानभूत तत्व माना है।[3]

प्रतीयमान के विविध भेदों में से वस्तु, अलंकार एवं रसादि व्यंग्य में से रसादिव्यंग्य का व्याख्यान अभिनवगुप्त कुछ अपने ढंग से करते हैं। रसादिव्यंग्य का परिचय देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

रस वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। वह साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय नहीं है। जहाँ केवल शृंगार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, वहाँ थोड़ी मात्रा में भी रस प्रतीति नहीं होती। और यदि स्वशब्द का अभिधान न हो, तब भी केवल विशिष्ट विभाव आदि द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। अतः रसादि अभिधेय(वाच्य) की सामर्थ्य से ही आक्षिप्त होते हैं, न कि अभिधेयत्व(वाच्यत्व)। - यह आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है।

1- लो॰ पृ॰ ८४-८५.

2- (i) ध्व॰ पृ॰ ५०.
(ii) यदि आनन्दवर्धन कहीं वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि या रसध्वनि ऐसा प्रयोग करते भी हैं तो वहाँ 'वस्तु, अलङ्कार रसो वा व्यङ्ग्यो यस्मिन् स ध्वनिः वस्तुध्वनिः अलङ्कारध्वनिः रसध्वनिः वा' - इस प्रकार का मध्यमपदलोपी समास मानना चाहिए।

3- (१) काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। ध्व० पृ० ८८।
(२) प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्। ध्व० ८९-९०
(३) सही पृष्ठ - आनन्दवर्धन में डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करें। इसके लिए एकमात्र लोचन पर निर्भर न रहें वे स्वयं इस स्तर पर स्थापित हो गए हैं। वे लिखते हैं-

अभिनवगुप्त 'लोचन' में उपर्युक्त अंश का व्याख्यान अपने ढंग से करते हैं -

'अभिधेयेन सामर्थ्यं सहकारित्वेनाभिमतं विभावादिकं रसध्वनौ उपयुक्तं करोति, अभिधेयस्य च पुनरन्यस्माद्भिन्नयोगक्षेमतया नामव्यतिरिक्तो विभावादिकलापविशिष्ट- प्रतीयमानानुभिरिति अभिव्यक्तिगतया चानुमानव्यतिरिक्तो ध्वनेः करोति सामर्थ्यं इति: चित्तवृत्तिविभावकत्वात्व्यामिति कोऽपि प्रकारोऽभ्यधिको व्यापारः । एवं द्वौ पदार्थगतौ ध्वनिः लिङ्गवत् कर्माविष्टध्वनिः, [redacted] कर्मोपकरणीभूतः अनानुमानव्यापाराभिप्रायेण ध्वनिः व्यञ्जनाभिप्रायेणाङ्गीभूतः' ।

यहाँ आनन्दवर्धन को तो केवल रसादिकों का अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व बताना ही अभीष्ट है । किन्तु अभिनवगुप्त उनके इस वाक्य से पूरे वाक्य का इस प्रकार निरूपि- [redacted]रण करते हैं जिनमें से स्वयं अपनी ही बात पूरी से पैदा की हैं ।

<u>रसादि का महत्त्व -</u> व्यंग्यार्थ के प्रकरण में वस्तुव्यंग्य एवं अलंकार व्यंग्य की अपेक्षा रसादि व्यंग्य ही प्रधान है । आनन्दवर्धन स्वयं ध्वन्या० १।५ में कहते हैं- 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यादि । अर्थात् काव्य की आत्मा वही (रसादि) व्यंग्यार्थ है । इसमें 'स एव' से यह प्रतीत होता है कि व्यंग्यार्थ के अन्यभेद भी हैं अर्थात् वस्तु व्यंग्य और अलंकार व्यंग्य । और सामान्य रूप से व्यंग्यार्थ को ध्वनि काव्य की आत्मा - 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' इत्यादि(ध्वन्या०१।२) में पहले ही कहा जा चुका है । तथापि ध्वन्या० १।५ में रसभावादि को विशेष रूप से उसकी महत्ता के कारण प्रतिपादित किया गया है । यथा-

---

<u>पिछले पृष्ठ का शेष अंश -</u> ध्वनि के तीन भेद हैं - वस्तु अलंकार और रस । इनमें से जो रस वाला ध्वनिभेद है उस पर और अधिक ध्यान देना चाहिए । सभी ध्वनियों में यही वह ध्वनि है जिसे वस्तुतः काव्यात्मा कहा जा सकता है । इत्यादि (आनन्दवर्धन पृष्ठ ३८) आनन्दवर्धन ने वस्तु, अलंकार और रसादि को ध्वनि का भेद नहीं वरन् व्यंग्यार्थ का भेद कहा है । ध्वनि के भेद तो अविवक्षितवाच्य और और विवक्षितान्यपरवाच्य हैं। और रसध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा है। बल्कि उन्होंने ध्वनिकाव्य में रसव्यंग्य की प्रधानता प्रतिपादित की है ।

१- ध्वन्या० पृ० ७८-७९ ।

'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्' यहाँ पर रसभाव का अभिप्राय 'रसादि' से है। दूसरे स्थल पर आनन्दवर्धन कहते हैं — वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है, इसके अनुसार केवल रस व्यंग्य ही काव्य की आत्मा बना रहे, यह आवश्यक नहीं, कहीं कहीं वस्तु और अलंकार व्यंग्य भी काव्य की आत्मा हो सकते हैं।

'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्' — इस प्रसंग में प्रयुक्त 'प्राधान्यात्' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं —

'प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। वाच्यवाचकोपात्ततावपि वाच्यतापर्यवसायकत्वादित्येव वस्त्वलंकारध्वनेरपि तौ रसध्वनौ पर्यवसानमिति भावः'।[1]

अभिनवगुप्त के शब्दों से यह ज्ञात होता है कि 'वस्तु और अलंकार' व्यंग्यार्थ के प्रकार होने पर भी तथा प्रधान होते हुए भी रस में ही पर्यवसित होने के कारण उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे केवल रस के उत्कर्ष में सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार अभिनवगुप्त का मत है कि भाव व्यंग्य आदि के प्रधान होने पर भी वे काव्य की आत्मा नहीं बन सकते। अपितु रस के उपकारक होकर ही रह सकते हैं। अतः काव्य का प्रधानतम और अनुमोदित विषय 'रस' ही है। वस्तु और अलंकार एक सीमा तक ही प्रधान माने जा सकते हैं। वह सीमा है — रसात्मक व्यंग्यार्थ से प्रधान होना।

अतः 'रस ही काव्य का प्रधानभूत तत्त्व है, तथा वस्तु एवं अलंकार, रस में ही पर्यवसित हो जाते हैं' — अभिनव के इस कथन से यह शंका हो सकती है कि ध्वनि को एक काव्य प्रकार बताना और उस ध्वनि काव्य की आत्मा व्यंग्यार्थ मानना तथा व्यंग्यार्थ के तीन प्रकार — वस्तु, अलंकार और रसादि को मानने की क्या संगति है? प्रश्न उठता है, आनन्दवर्धन ने सीधे-सीधे रस को ही काव्य की आत्मा क्यों नहीं कह दिया?

१— लो० पृ० ६०

इसका समाधान आनन्दवर्धन के ही ग्रन्थ में मिलता है । उदाहरणार्थ सम्पूर्ण रघुवंश एक काव्य है और उस काव्य के अलग-अलग पद भी काव्य संज्ञक हो सकते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण संहिता भी काव्य हो सकता है और उस संहिता का एक पद भी काव्य हो सकता है । एक सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य में कोई एक रस अवश्य प्रधान रहता है । किन्तु साथ ही कुछ पदों में 'वस्तु व्यंग्य' से ही चमत्कार मिलता है , और कुछ में 'अलंकार' से । यह सिद्धान्त है - जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान हो, वहाँ ध्वनि काव्य होता है । प्रधान व्यंग्यार्थ - वस्तुव्यंग्य भी हो सकता है, अलंकारव्यंग्य भी और रसव्यंग्य भी । जिस प्रकार 'रसव्यंग्य' के प्रधान होने पर उसे 'ध्वनिकाव्य' कहा जा सकता है उसी प्रकार 'वस्तु और अलंकार व्यंग्य' के प्रधान होने पर भी 'ध्वनि काव्य' कहा जा सकता है । यही कारण है कि आनन्दवर्धन को रस के साथ वस्तु,अलंकार व्यंग्य भी कहना अभीष्ट था । तदर्थ उन्होंने अतिविस्तृत क्षेत्र वाले 'ध्वनि' को काव्य संज्ञा दी ।

यह बात सत्य है कि वस्तु और अलंकार की अपेक्षा रसव्यंग्य अधिक महत्वपूर्ण है । उससे काव्य में विशेष चारुत्व आता है । इसीलिए आनन्दवर्धन ने रसव्यंग्य का महत्व स्थल-स्थल पर प्रतिपादित किया है ।

(१) काव्यस्यात्मा स (रसः) एवार्थः -(ध्व० १।५)

(२) रसादिमयव्यंग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनि-
प्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन -(ध्व० ३।१६ की वृत्ति)

(३) व्यंग्यव्यंजकभावे विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्।।(ध्व० ४।५) । [redacted]
~~काव्यस्यात्मा स एवार्थः कहते हैं ।~~ किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु और अलंकार को बिल्कुल नगण्य मान के कर रसव्यंग्य को सर्वे-सर्वा कह दिया जाय । यद्यपि आनन्दवर्धन ने ध्व० ३।१६ और ३।४२ की वृत्ति में रस का प्राधान्य प्रतिपादित किया है । तदर्थ निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं -

(१) यत्र तु वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य प्रकारो न सम्भवत्येव । यस्माद-वस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वांगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति (ध्व० पृ० ४६५)

(२) रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ ध्वन्यालो० ४६७

(३) यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।
संवृत्त्याभिहितं वस्तु यत्रालंकार एव वा ॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः ।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैः ॥ ध्वन्यालो० ५००-५०१

ध्वनि की परिभाषा या लक्षण -

ध्वनि का लक्षण आनन्दवर्धन इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं[1] -

जहां वाच्य अर्थ अपने(स्वरूप) को तथा वाचक शब्द अपने वाच्य अर्थ को गौण (अप्रधान) बनाकर, उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं, विद्वज्जन उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं ।

काव्यविशेष की व्याख्या करते हुए[2] अभिनवगुप्त कहते हैं - 'काव्यं च तद्विशेषश्चासौ । काव्यस्य वा विशेषः' । अर्थात् काव्य और उसका विशेष इस प्रकार (कर्मधारय समास) या काव्य का विशेष इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा 'काव्यविशेष' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । किन्तु इस व्याख्या में 'यत्र' और 'तमर्थं' की संगति कैसे बैठ पायेगी, अभिनवगुप्त को इसकी चिन्ता नहीं है ।

ध्वनि के पांच अर्थ - तदनन्तर, अभिनवगुप्त ऐसा मानते हुए भी कि कारिका में आनन्दवर्धन को केवल काव्यविशेष को ही ध्वनि कहना अभीष्ट है, फिर भी (१।१३ कारिका के बलात्) ध्वनि के पांच अर्थ निकालते हैं[3] -

---

१- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्व० १।१३

२- किन्तु 'विशेष' शब्द का समास आने पर इस प्रकार का विग्रह प्रायः नहीं किया जाता । अभिनव ने केवल अपनी व्याख्या की संगति बैठाने के लिए यह विग्रह किया है ।

३- अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । लो० पृ० १०५-१०६ ।

१- व्यंग्य अर्थ

२- वाचक शब्द

३- वाच्य अर्थ

४- व्यंजना व्यापार

५- समुदाय रूप काव्य ।

अभिनवगुप्त[1], ध्वनि के यह पांच अर्थ वृत्ति के निम्नलिखित अंश से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं -

'तत्रैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः'[2]

वस्तुतः वृत्ति के इस अंश से ध्वनि के पांच अर्थ निकालना दुष्कर है तथापि अभिनवगुप्त पांच अर्थ निम्न प्रकार से निकालते हैं -

'अभिनवगुप्त वाच्यवाचकसम्मिश्रः', 'शब्दात्मा' और 'काव्यमिति व्यपदेश्यो' में प्रत्येक पद को पृथक् पृथक् 'ध्वनिरित्युक्तः' से सम्बद्ध करना चाहते हैं । अभिनव के अनुसार 'वाच्यवाचकसम्मिश्रः' में तीन तत्त्व हैं -

१- वाच्यार्थ

२- वाचक शब्द

३- सम्मिश्र = व्यंग्यार्थ

सम्मिश्रः पद की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - सम्मिश्र इति विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः । अतः अभिनव के अनुसार व्यंग्यार्थ भी ध्वनि है ।

शब्दात्मा की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - 'शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः ...., यदि व्यापारभूतः सोऽपि ध्वननं ध्वनिः' इस प्रकार व्यंजना व्यापार भी ध्वनि है

४- शब्दात्मा = व्यंजना व्यापार

५- काव्यमिति = ध्वनि काव्य

१- डा० मुकुन्द माधव शर्मा ने The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics. में पृ० ८८-८९ पर दिखाया है कि अभिनवगुप्त किस प्रकार ध्वनि के इन पांच अर्थों को निकालते हैं । इन्होंने बड़ी ही बुद्धिपूर्वक उन स्थलों को भी खोजा है जहां से शायद भी अभिनव द्वारा कहे गए । ध्वनि के इन पांच अर्थों की सम्भावना हो सकती है ।

२- ध्वन्या० पृ० १३३ ३-४ - लो० पृ० १३३

अभिनवगुप्त का यह सारा वाद विवाद अनावश्यक विस्तार प्रतीत होता है। और उनकी इस खींचातानी से सहृदयों को क्लेश होता है ।

उपर्युक्त प्रसंग में कुछ विशेष तथ्य अपेक्षित हैं -

काव्य में शब्दों के साथ अर्थ भी होते हैं । क्योंकि आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप से कहते हैं - वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः इत्यादि । अर्थात् शब्दात्म स्वरूप काव्य में वाच्य वाचक का सम्मिश्रण होता है । अतः आनन्दवर्धन के इस वाक्य को खण्डित करके उसका अर्थ नहीं निकालना चाहिए बल्कि यह पूरा वाक्य साभिप्राय है ।

किन्तु अभिनवगुप्त ने इसका खण्डन करके, प्रत्येक पद का विश्लेषण करके पांच अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है।यदि उनके अनुसार शब्द,अर्थ और व्यापार को काव्य कह भी दिया जाय, फिर भी प्रश्न उठता है कि क्यों अभिनव गुप्त व्यंग्य अर्थ और व्यंजना व्यापार को ध्वनि[1] कहने के लिए उत्सुक हैं ? संभवतः अभिनव के अनुसार इसका हेतु यह हो सकता है कि (ध्व०१।१) में सहृदयों द्वारा प्रशंसित व्यंग्यार्थ को ध्वनिकाव्य की आत्मा कहा गया है तथा ध्व० १।५ में रसव्यंग्य को विशेष रूप से काव्य का प्राणभूत कहा गया है । इन्हीं सब कारणों से अभिनव ने ध्वनि से व्यंग्यार्थ का तात्पर्य न मान कर व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि ही कह दिया[2]

और, अभिनवगुप्त व्यंजना व्यापार को ध्वनि किस युक्ति से कह रहे हैं ? यह एक और समस्या है । आनन्दवर्धन अपने ध्वनि सिद्धान्त विरोधियों को ध्यान में रखकर गुणवृत्ति इत्यादि का खण्डन करते हैं -

(१) अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः (ध्व० पृ० २८)

(२) यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति (ध्व० पृ० १४१)

ऐसे स्थलों से , सम्भवतः अभिनवगुप्त यह समझ रहे हैं कि आनन्दवर्धन गुणवृत्ति का विरोध करके व्यंजनावृत्ति रखना चाह रहे हैं । अतः व्यंजना-व्यापार को भी ध्वनि कह दिया जाय । यही सोच कर शायद अभिनव ने व्यंजना-व्यापार को भी ध्वनि कहा है ।

१,२- द्र० The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics पृ० ८२

अभिनवगुप्त ने तो ध्वनि के इन पाँचों अर्थों की पुष्टि हेतु वाक्यपदीय से प्रमाण भी उपस्थित किए हैं । कुछ भी हो, ध्वनि के इन पांच अर्थों के विषय में जितना भी विवेचन है, वह अधिक क्लिष्ट एवं व्यर्थ का प्रपंच मात्र है ।क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य मानने का केवल एक कारण दिया है - 'व्यंग्यप्रधान-त्वात्' - जो न व्यंग्य अर्थ में है और न व्यंजना व्यापार में । व्यंजक शब्द, अर्थ इत्यादि को आनन्दवर्धन ने कहीं भी ध्वनि नहीं कहा है । वरन् यह सब तो ध्वनि काव्य के अंग मात्र हैं । जैसे मनुष्य का एक पूरा शरीर होता है और उसमें हाथ, पैर, आंख,कान,नाक आदि विभिन्न अंग होते हैं उसी प्रकार ध्वनि काव्य रूप शरीर के व्यंजक अर्थ, व्यंजक शब्द,व्यंजना व्यापार आदि विभिन्न अंग हैं । अतः व्यंजक शब्दार्थादि को ध्वनि संज्ञा देना वैसे ही असंगत होगा जैसे कि हाथ या शरीर के किसी एक अवयव को शरीर संज्ञा देना ।

अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के पांच अर्थों को स्वीकार भी कर लिया । इन लोगों ने आनन्दवर्धन से अधिक अभिनवगुप्त को प्रमाण माना और इस प्रकार आनन्दवर्धन के 'आलोक' को अभिनव-गुप्त के 'लोचन' से देखा अपनी बुद्धि लोचन से नहीं ।

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत की अन्तिम कारिका(२।३३) में आनन्दवर्धन ध्वनि का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

सभी प्रभेदों में[1] स्फुट रूप से अंगीभूत व्यंग्य का अवभासित होना ही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है ।

किन्तु अभिनवगुप्त इस कारिका की व्याख्या बड़े ही विचित्र ढंग से करते हैं -

अवभासनमिति । भावानयने प्रत्यायनमिति व्यापारव्यापारं व्यंग्यम् । ध्वनि लक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पुनरपि, अवभासनं वा ज्ञानं तदभ्यन्तरीभावं प्रमाणं , तच्च पूर्णं, पूर्णध्वनिस्वरूपनिरूपकत्वात्[2] । अथ वा ज्ञानमेव ध्वनि लक्षणं, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेदकत्वात् ।

१- सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद्व्यंग्यस्यांगिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ।।(ध्व० २।३३)

२- लोच० पृ० २८६ - २८७

अभिनवगुप्त एक एक पद का खण्ड खण्ड करके अर्थ निकाल रहे हैं। किन्तु आनन्दवर्धन के सीधे से सूत्र - 'व्यंग्य अर्थ का बोध रूप है अनादिकाल से होता ही ध्वनि का पूर्ण स्थापन है' - इस सूत्र को न कह कर अपने प्राचीन प्रामाणिक कहते हैं और अप्रासंगिक अर्थ निकालते हैं और अन्त में कहते हैं - ज्ञान ही ध्वनि का स्थापन है।

निःसन्देह अभिनवगुप्त का लोचन ध्वनि सिद्धान्त को स्पष्ट करने के स्थान पर और अधिक उलझा देता है।

<u>ध्वनि के विरोधी -</u> आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही ध्वनि-सिद्धान्त के तीन विरोधियों की स्थापना की है -

१- अभाववादी
२- भाक्तवादी
३- अनिर्वचनीयतावादी

<u>आनन्दवर्धन का ध्वनि विरोधियों को उत्तर -</u> प्रथम कारिका की वृत्ति में आनन्दवर्धन कहते हैं -

'.....[1] सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि... ...' इत्यादि।

अभिनवगुप्त इस अंश का व्याख्यान लोचन में करते हैं - '[2]...... संक्षेपेण साक्षाद्विप्रतिपत्तिविकल्पसंक्षेपोद्धरणं सूचयति - सकलेत्यादिना'।

इस प्रकार - यहाँ पर प्रत्येक पद को विभक्त करके अभिनवगुप्त - अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का निराकरण भी करते हैं।[3]

१- ध्व० पृ० ३१   २- लो० पृ० ३०

३- सकलपदेन सत्कविपदेन च प्रत्येकं कारिकांशवादिनः निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्तत्वनिरोधात्। न हि 'सिंहो बटुः' 'गंगायां घोषः'

शेष अंश अगले पृष्ठ पर

यहाँ यह विचारणीय है कि क्या ध्वनि स्वरूप की ऐसे ध्वनि विरोधियों का निराकरण प्रथम कारिका में ही कर दिया गया ? ध्व० १।१३ वीं कारिका में ध्वनि स्वरूप निरूपण के अनन्तर समस्त ध्वनि विरोधियों का निराकरण होता। किन्तु अभिनवगुप्त ने ध्व० १।१३ वीं कारिका के आधार पर ध्व० १।१९ में ही परवर्ती टीकाकार के ध्वनि विरोधियों का निराकरण किया है।

<u>ध्वनि काव्य का भेद -</u> ध्वनि विरोधियों ने ध्वनिकाव्य को काव्य की किसी एक विधा में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया था किन्तु ध्वनि के स्वयं ही अनन्त भेद हैं। अतः वह काव्य की किसी एक विधा में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेद-प्रभेदों को बताया है किन्तु अन्त में यह भी कहा है कि किसी के लिए भी ध्वनि भेदों की गणना करना सम्भव नहीं।[2] अतएव वह ध्वनि भेदों का दिग्दर्शनमात्र करा देते हैं।[3] यद्यपि अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ ने ध्वनि भेदों की गणना करने का भी प्रयत्न किया है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के प्रमुख दो भेद किए -

(१) अविवक्षितवाच्य और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य।

---

*- पिछले पृष्ठ का शेष अंश-

इत्यत्र [illegible] काचित् ध्वनिस्वरूपाख्यानेन तु [illegible] इत्यादि निराकृतम्। [illegible] गुणालंकारान्तर्भूतत्वं [illegible]। [illegible] इत्यादिना [illegible]। [illegible] इति। [illegible] इति [illegible]। [illegible] इति [illegible]। [illegible] निरूपणम्। [illegible] लक्षणद्वारेण [illegible]। (लो० पृ० ३७-३८)

१- न चैषां विस्तर [illegible] महाविषयत्वात् [illegible] तद्दिङ्मात्र-[illegible] एव संरम्भः।

ध्व० पृ० १३५-१३६

२- ध्व० ३।४४ ३- ध्व० पृ० १३६-१३७

ध्वनि भेदों के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य उल्लेखनीय है - अभिनवगुप्त पहले ही कह आए हैं कि ध्वनि के तीन भेद हैं - वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसादिध्वनि । किन्तु आनन्दवर्धन के उपर्युक्त ध्वनि के सामान्यत: दो भेद बता रहे हैं - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । अतएव अभिनवगुप्त सोच-विचार में पड़ गए कि यह कैसी व्यवस्था है ? यदि ध्वनि के ये ही सामान्य भेद हैं, तो फिर - वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि - ध्वनि के कैसे भेद होंगे ? अत: इसकी संगति बैठाने के लिए [illegible] लिखते हैं -

वस्तु, अलंकार और[1] रस रूप से तीन भेदों वाला भी, यह ध्वनि इन्हीं दोनों में संगृहीत हो जाता है । इतना कहने के पश्चात् भी उन्हें संतोष नहीं हुआ । अत: शंका[2] उपस्थित करते हैं - ध्वनि नाम के पश्चात् इस नाम के रखने का क्या लाभ है ? पुन: स्वयं समाधान प्रस्तुत करते हैं - इन दोनों नामों - (अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य) से व्यञ्जन रूप व्यापार में पूर्वोल्लिखित - अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप तीनों व्यापारों से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या श्रोता में रहने वाली प्रयोक्ता के अभिप्राय रूप विवक्षा का सहकारित्व[3] कहा है । इस प्रकार दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोन्मीलित है ।

वस्तुत: अभिनवगुप्त का यह व्याख्यान भ्रान्तिमूलक है । उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि समझ लिया । यदि प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि से पृथक् मानते और ध्वनि का जो स्वरूप आनन्दवर्धन ने परिभाषित कथित किया है, उसे समझते तो यह बुद्धि व्यामोह न होता और न इतना व्यर्थ का श्रम करना पड़ता, जिससे उनकी व्याख्या भी जटिल हो गई । आनन्दवर्धन का सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं । ध्वनि के दो भेद हैं - अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्य । व्यंग्यार्थ के तीन भेद -

---

१,२,३- सामान्येनेति । वस्त्वलंकाररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरेताभ्यामेवाभ्यां संगृहीत इति भावः । ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम् ? उच्यते - अनेन हि नामद्वयेन व्यञ्जनात्मनि व्यापारे पूर्वोद्दिष्टाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयाक्षिप्तार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपं नामभ्यामेव प्रोन्मीलितम् । (लो० पृ० १३०)

वस्तु, अलंकार और रसादि । यह बात दूसरी है कि ये दोनों एक किसी तो स्पष्ट विवेक के साथ, जैसे आचार्यमम्मट ने इसे प्रस्तुत किया है -[1]

संक्षेपेण पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्

किन्तु, अभिनवगुप्त को तो ध्वनि - व्यंग्य अर्थ के रूप में ही विशेष दिखाई पड़ता है । काव्यरूप में तो ये रसपर्यन्त: मानते हैं । लोचन टीका की उलझनें और कुछ आवृत्ति का मूल कारण इनकी यही भ्रान्ति है ।

ध्वनि के सामान्यत: दो भेद बताए गए -

१- अविवक्षितवाच्य २- विवक्षितान्यपरवाच्य

अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं - ·

१- अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ।

ये दोनों भेद कहीं एक पद से प्रकाशित होते हैं, कहीं अनेक पदों से । अनेक पदों से प्रकाशित होने पर इन्हें वाक्य से प्रकाशित कहा जाता है । इस प्रकार इनके चार भेद हो गए -

१- पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि ।

२- वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि ।

३- पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

४- वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

इन सब का विवेचन हम द्वितीय अध्याय में ही कर चुके हैं । प्रस्तुत प्रसंग में केवल पदप्रकाश्य और वाक्य प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है ।

ध्वनि के दोनों भेदों अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के पदप्रकाशत्व के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं कि ध्वनि को काव्यविशेष कहा जा चुका है अत: अत: उसकी पदप्रकाश्यता पर शंका करते हुए कोई कह सकता है -[2]

१- काव्यप्रकाश पृ० २९६ २- ध्व० पृ० ३००-३०९

'ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावस्य पदप्रकाशत्वे नोपपत्तिः पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्।'

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

'उच्यते - स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्, तस्य व्यंजकत्वेन व्यवस्थानात्।'

अर्थात् ध्वनि स्वरूप निरूपण का प्रयोजक व्यंजकत्व है, वाचकत्व नहीं। इसलिए पदप्रकाशत्व की अनुपपत्ति का कोई प्रश्न नहीं उठता। जिस प्रकार ललना के एक अंग में स्थित आभूषण विशेष सम्पूर्ण शरीर को उद्दीप्त करता है, उसी प्रकार काव्य में पदों से हुई की चारुत्व प्रतीति सम्पूर्ण काव्य में चारुता ला देती है। अतः काव्य में पदों के व्यंजक होने पर भी ध्वनिव्यवहार किया जा सकता है।

ध्वन्यालोक के उपर्युक्त अंश का अभिनवगुप्त लोचन में अपने ढंग से व्याख्यान करते हुए कहते हैं -

'नन्विति। समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पक्षे चोद्यमेतत्'[1]

इस पंक्ति में प्रयुक्त 'पक्षे' पद से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त पूर्व प्रतिपादित[2] ध्वनि के पांच अर्थों में से समुदाय वाले पक्ष पर आक्षेप की बात कर रहे हैं। किन्तु आनन्दवर्धन को ध्वनि के पांच अर्थ अभीष्ट ही नहीं हैं। उन्होंने ध्वनि को मात्र एक काव्यविशेष के अर्थ में ग्रहण माना है और प्रस्तुत प्रसंग में भी आनन्दवर्धन को यही अर्थ अभिप्रेत है।

उपर्युक्त संदर्भ में एक तथ्य अवधेय है - आनन्दवर्धन ने 'ननु ध्वनिः..... से लेकर पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्' तक पूर्वपक्ष रखा है। इसके बाद सिद्धान्त पक्ष[3]। किन्तु अभिनव गुप्त पूर्वपक्ष का और विस्तार करते हुए कहते हैं :-

---

१- लो० पृ० ३००   २- लो० पृ० १०४ — १०५.

३- लो० पृ० ३०१

'यदि परो ब्रूयात्' - न मया अवाचकत्वं व्यन्ग्यनाये हेतूकृतं किं तु तत् काव्यं ध्वनिः। काव्यं वानाकांक्षाप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तथाह - इत्यनेन, नापि पदं न ध्वनिरित्युक्ताभिप्रायम्। अपि तु समुदाय एव..... ' इत्यादि

उपर्युक्त कथन अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में अपनी ओर से जोड़ा । आनन्दवर्धन तो केवल ध्वनि स्वरूप निरूपण या प्रतीयमान-वाचकत्व को नहीं लिए व्यंजकत्व को बताते हुए पदप्रकाश ध्वनि का निरूपण कर रहे हैं। किन्तु, भिनवगुप्त केवल समुदाय को ही ध्वनि मानने वाले मीमांसक आदि के सिद्धान्त र भी प्रतिपादन कर रहे हैं।

---

* यहां अभिनवगुप्त सम्भावना कर रहे हैं - 'यदि परो ब्रूयात्' - यह पूर्व पक्ष है। इसकी 'काव्यं वानाकांक्षाप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तथाह' - इत्यादि पंक्ति को देखने से स्पष्ट है कि यह अन्विताभिधान-वादियों का मत है। क्योंकि, अन्विताभिधानवादी अन्वित पदार्थों से ही वाक्यार्थ बोध मानते हैं। अर्थात् अभिनवगुप्त ने यहां मीमांसकों का मत रखा है। किन्तु यहां एक शंका होती है - यदि यह मत मीमांसकों का है तो - 'यदि परो ब्रूयात् - न मया अवाचकत्वं व्यन्ग्यनाये हेतूकृतं किं तु तत् काव्यं ध्वनिः। काव्यं वानाकांक्षाप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति' इत्यादि में निरन्तर ध्वनि को स्वीकार किया गया है। किन्तु मीमांसक तो ध्वनि को स्वीकार नहीं करते। अतः इस अवस्था के दो पक्ष हो सकते हैं -

या तो यह सिद्धान्त किसी ऐसे आचार्य का है जो मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद का समर्थक होने के साथ ही साथ ध्वनि समर्थक भी है।

या फिर अभिनव गुप्त ने 'यदि परो ब्रूयात्' कह कर, आचार्य का नाम अभिहित नहीं किया, और अच्छा अवसर पा कर ध्वनिवादी और मीमांसक के सिद्धान्त का मिश्रण किया है। और मीमांसकों की ओर से तर्क उपस्थित किया है, जो पदप्रकाशता को स्वीकार नहीं करते।

वाक्य प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि -

आनन्दवर्धन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है[1] -

विषमयित: केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माण: ।
केषामपि विषामृतमय: केषामप्यविषामृत: काल: ।।

अर्थात् समय किसी के लिए विष बन जाता है, किसी के लिए अमृत, किसी के लिए विष और अमृत दोनों और किसी के लिए न विष और न अमृत ।

यहाँ 'विष' और 'अमृत' पद बार-बार आवृत्त किए जा रहे हैं किन्तु इनका मुख्यार्थ यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है । वरन् क्रमश: दु:ख और सुख रूप संक्रमित वाच्य वाले विष और अमृत -शब्दों से व्यवहार हो रहा है । इस प्रकार यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का उदाहरण है ।

अभिनवगुप्त लोचन में कह रहे हैं -[2]

'विषामृतशब्दे च लाक्षण्यादि उपमानिकलक्षणालक्ष्यतया सुखदु:खवाच्ययोरिति' - यहाँ यह आक्षेप है कि यदि विष और अमृत पद में निरूढ़ लक्षणा मानेंगे तब व्यंजकत्व कैसे बनेगा ? क्योंकि यह सिद्धान्त है -

'व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने'

अर्थात् रूढ़िगत भेदों में व्यंग्य से रहित तथा प्रयोजनमूलक भेदों में व्यंग्य से सहित होती है । अभिनवगुप्त के अनुसार यदि यहाँ विष और अमृत पद में निरूढ़ लक्षणा मानें तो इनमें व्यंजकत्व कैसे सम्भव होगा ?

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि: -

आनन्दवर्धन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपु: ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावक: ।।

यहाँ नायक नायिका की चाटुकारिता कर रहा है - यह वस्तु रूप व्यंग्यार्थ है।

१- ध्व० पृ० २६३ २- लो० पृ० २६५

३- काव्यप्रकाश पृ० ६७ ४- ध्व० पृ० १३८

'शिखरिणि क्व नु नाम' के प्रसंग में लोचन में अभिनवगुप्त कहते हैं - सम्भव है कि शुक शावक के माध्यम से नायक को नायिका की चाटुकारिता कर रहा है, यह मुख्यार्थ में असंगत हो - कि शुकशावक में नायक के समान चतुरता सर्वथा असम्भव है। ऐसी आशंका करके अभिनवगुप्त लिखते हैं -

'अत्र त्रय एव व्यापाराः .... यदि वाऽऽकस्मिकाभिसंहितशुकप्रजल्पनानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु नाम,' इत्यादि।[1]

यहां तीन व्यापार हैं -- अभिधा, तात्पर्य और व्यंजना। क्योंकि मुख्यार्थ-बाध आदि का अभाव होने से बीच की कक्षा में तीसरी लक्षणा वृत्ति यहां नहीं है। अथवा आकस्मिक (असम्भावित) एवं विशिष्ट शुक द्वारा कथन करने के व्यापार को लेकर मुख्यार्थ की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थ बाध के हो जाने पर सादृश्य से बीच में लक्षणा हो सकती है। इत्यादि।

किन्तु, आनन्दवर्धन को यहां वाच्यार्थ में कोई भी असंगति नहीं लगती। तभी तो वे यहां 'शिखरिणि क्व नु नाम' को विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरणार्थ उद्धृत करते हैं। तथा उसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं [जिसमें वाच्य विवक्षित (वाच्य वाचक सेवक रूप से अथवा अन्वययोग्य) होता हुआ भी व्यंग्य-निष्ठ है।] अतः यहां मुख्यार्थबाध की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनव के मतानुसार जैसे अविवक्षितवाच्य में लक्षणा व्यापार व्यंग्यार्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है यद्यपि वैसे विवक्षितान्यपरवाच्य में व्यंग्यार्थ लक्षणा व्यापार पर आश्रित नहीं रहता किन्तु जहां मुख्यार्थ-बाध की आकस्मिक सम्भावना हो वहां लक्षणा हो भी सकती है। वस्तुतः अभिनवगुप्त की विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में लक्षणा की सम्भावना-उनकी अपनी सूझ है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रमुख दो भेद हैं -

१- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य

२- संलक्ष्यक्रमव्यंग्य

१- लो० पृ० ११०

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -

आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रसादि की सूची दी है। इसमें केवल रस, रसाभास, भाव, भावाभास, तथा भावप्रशान्ति (ध्व० २।३) का ही नामोल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन द्वारा कथित इन भेदों में आदि के स्थान पर - भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता को भी जोड़ दिया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने इनमें से एक का भी विवेचन नहीं किया था। वस्तुतः आनन्दवर्धन का मुख्य प्रतिपाद्य इन सब में प्रतीयमानार्थ की प्रधानता थी, जिससे इसमें ध्वनित्व सिद्ध हो सके। अतः इन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति में केवल आवश्यक तथ्यों का ही प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में जो अनावश्यक या गौण तथ्य हैं उन्हें वे छोड़ते गए हैं।

रस और भाव के विषय में इन्होंने कुछ भी प्रतिपादित नहीं किया। न तो इन्होंने यह बतलाया कि रस का स्वरूप क्या है और न यही बतलाया कि उसकी निष्पत्ति कहां और कैसे होती है। भाव के विषय में भी वे इन प्रश्नों पर कोई विचार नहीं प्रस्तुत करते यद्यपि परवर्ती अलंकार शास्त्र में ये ही प्रायः प्रमुख विषय बन गए। अभिनवगुप्त ने इन सभी पक्षों पर अत्यन्त विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

यहां एक प्रश्न उठता है कि आचार्य आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती आचार्य हैं, तथा ध्वन्यालोक में रस विषयक विवेचन के अनेक स्थल आए जहां रसानुभूति और रस प्रक्रिया का विवेचन आनन्दवर्धन कर सकते थे। इन्होंने भरत का रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अवश्य देखा होगा और 'रसो वै सः' से भी वे अवश्य परिचित रहे होंगे। तब क्या कारण है कि आनन्दवर्धन ने रस विषयक इन विभिन्न प्रश्नों पर कुछ भी सुव्यवस्थित विवेचन नहीं किया। क्या वह रस को ब्रह्म की कोटि तक पहुंचाने के पक्ष में नहीं थे। क्या रस के साथ विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों के सम्बन्धित होने के कारण ही इन्होंने इस पक्ष [illegible] को छोड़ दिया ?

किन्तु लोचन में उल्लिखित -

'तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्' (लो० पृ० ४७) इस पंक्ति को देखने से बोध

की जिज्ञासा यह जानने के लिए प्रवृत्त होती है कि क्या आनन्दवर्धन ने सहृदयालोक ग्रन्थ में रस विषयक रसानुभूति या रसप्रक्रिया के विषय में कुछ कहा है ? क्या अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के रस विषयक विवेचन को यहीं से लेकर लोचन और अभिनव भारती में प्रस्तुत किया है ? या फिर यह रसानुभूति और रसप्रक्रिया अभिनवगुप्त की देन है । किन्तु 'सहृदयालोक' ग्रन्थ प्राप्य नहीं है, अतः इस विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना सम्भव नहीं ।

किन्तु ध्वन्यालोक का अवलोकन करने से कुछ ऐसे सूत्र रूप में वाक्य मिलते हैं जिन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के रस विषयक सिद्धान्तों का ही सुव्यवस्थित विवेचन किया है । अतः रस के विषय में उनका मत यही था जिसे अनेक व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया ।

आनन्दवर्धन रसास्वाद के लिए सहृदयत्व को ही प्रमाण मानते हैं --

(१) वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञाः (ध्व० पृ० ४९६ :)

(२) रसज्ञतैव सहृदयत्वम् (ध्व० पृ० ४९६)

रस की प्रतीति या अभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं --

(१) वाच्यास्थितं तत् , तथापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः (ध्व० पृ० ८२)

(२) स स्वशब्दानभिधेयार्थोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः करोतीति(ध्व०पृ०८२)

(३) तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ (ध्व० पृ० २३४)

इन वाक्यों से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन सहृदय में ही रसाभिव्यक्ति मानते हैं । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस का विवेचन सूत्र रूप में ही यत्र तत्र किया है । वस्तुतः आनन्दवर्धन ने रसानुभूति एवं रसप्रक्रिया विषयक प्रश्न को इतना आवश्यक नहीं समझा कि उसका पृथक रूप से विवेचन किया जाय । सम्भवतः उसके दार्शनिक पक्ष को साहित्य के क्षेत्र में लाना वांछनीय नहीं मानते थे । सम्भव है उसे मनःशास्त्र का विषय समझ कर छोड़ दिया हो ।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त - अभिनवगुप्त ने अपने रससिद्धान्त की स्थापना के पूर्व भट्टनायक, भट्टलोल्लट एवं श्रीशंकुक आदि आचार्यों के मतों को उपस्थित किया है । इन आचार्यों के स्वरचित ग्रन्थ तो अनुपलब्ध हैं किन्तु अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' एवं 'भारती' टीका से इन आचार्यों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है । ये तीनों ही आचार्य आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं । इनमें से एक ध्वन्यालोक के टीकाकार भट्टनायक ही हैं । और दो - भट्टलोल्लट एवं श्रीशंकुक नाट्यशास्त्र के टीकाकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के रस के सम्बन्ध में, व्यंजनाव्यापार के विरोध में ही इन तीनों ने अपने अपने सिद्धान्त की स्थापना करने का प्रयत्न किया। आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के व्यंग्यार्थ कहे हैं - (१) वस्तु (२) अलंकार एवं (३) रसादि । इन तीनों में से रसव्यंग्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । अतः आनन्दवर्धन के इसी रसव्यंग्य के विरोध में कोई उसे उत्पन्न (उत्पत्ति) मानता है, कोई अनुमेय और कोई भोज्य । अतः ये सभी आचार्य भरत के रस सूत्र की ओट में आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित 'रस के व्यंग्यत्व' का ही विरोध करते हैं । सभी व्यंजना के अधिकार को छीन रहे हैं, और विरोधी दावेदार बन रहे हैं ।

वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस के अनुभूति एवं प्रक्रिया पक्ष पर पृथक् रूप से कुछ नहीं लिखा । किन्तु अभिनवगुप्त ने (ध्व० २।३ में) रसध्वनादि का प्रकरण आते ही अवसर पाकर रस के विषय में सविस्तार विवेचन किया । उसे ही बाद में अभिनवभारती में उन्होंने ससंरम्भ प्रकाशित किया । अपने इसी रस-सिद्धान्त के कारण 'अभिनव' साहित्य-जगत् में समादृत हैं ।

लोचन में अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम भट्टनायक के मत को रखा, तदनन्तर भट्टलोल्लट एवं श्रीशंकुक के मत को । सम्भवतः उन्होंने भट्टनायक के मत को पहले

१- तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः - लो० पृ० १८३
यहाँ भट्टनायक 'न प्रतीयते' और 'नाभिव्यज्यते' से आनन्दवर्धन के ही सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं ।

स्थापित रहा हो क्योंकि भट्टनायक ध्वन्यालोक के टीकाकार थे। जैसे अन्य स्थलों पर उनका भट्टनायक से साम्य-वैषम्य चलता रहता है वैसे ही रस के विषय में उनकी भट्टनायक से साक्षात् नोक-झोंक होती है और वे 'लोचन' में इस प्रधान टीकाकार तथा ध्वनि-विरोधी का खण्डन कर सन्तोष की सांस लेते हैं। फिर रस-प्रक्रिया के प्रसंग में भरत-सूत्र के ऐसे व्याख्याकार भी उनकी स्मृति में आते हैं जिनका ध्वनिकार से रसप्रसंग में प्रबल विरोध है। अतः इन भारती आलोच्य आचार्यों का भी यहां सिद्धान्तोल्लेख करते हैं। अभिनवभारती में, भट्टलोल्लट भी शंकुक का, नाट्यशास्त्र के टीकाकार होने के कारण पहले उल्लेख किया गया, वहां भट्टनायक बाद के आचार्य होने के कारण बाद में स्थान पाते हैं। इसी कारण दोनों टीकाओं - लोचन और अभिनवभारती में रस-सिद्धान्त के आचार्यों के प्रतिपादन में क्रम-भेद है। यहां 'लोचन' के अनुसार क्रम अपनाया गया है।

<u>भट्टनायक -</u>

भट्टनायक ने भरत के रस सूत्र - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' का पहले प्रतीति की दृष्टि से और तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया का अपने अनुसार निरूपण किया है। पहले वह विचार करते हैं कि रस की प्रतीति परगत रूप से होती है या स्वगत रूप से। भट्टनायक के विचार से दोनों पक्षों में से किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] क्योंकि, रस को परगत - अर्थात् अनुकार्य या अनुकर्ता में मानते हैं तो सहृदय एक तटस्थ व्यक्ति हो जाता है। और यदि स्वगत रूप से अर्थात् सहृदय में रस को मानते हैं, तब यह स्वीकार करना होगा कि रस सहृदय में उत्पन्न होता है। किन्तु यह पक्ष भी साधारणीकरण के अभाव में ठीक नहीं है। क्योंकि सीता - सहृदय या सामाजिक का विभाव नहीं है और रस जब भी उत्पन्न होगा तब विभाव से ही उत्पन्न होगा। सहृदय के चित्त में जब तक यह भाव है कि सीता राम की पत्नी है तब तक वह सीता की राम विषयक रति की चर्वणा कैसे कर सकता है? यदि साधारण

१- 'नमूक' भट्टनायकेन - रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। इत्यादि लो० पृ० १८७-१८८

कान्तात्व की भावना यहां मानते हैं तब भी तो सीता आदि में पूज्य बुद्धि है वह किसी प्रकार सहृदय की रति का उद्बोध नहीं होने देगी । दूसरे यह भी नहीं कि सहृदय तत्काल अपनी पत्नी को स्मरण करने लगता है । अतः साधारणीकरण की बात को नहीं स्वीकार किया जाय तो - राम आदि अलौकिक पात्रों के समुद्र-लंघन आदि क्रियाओं का साधारणीकरण कैसे हो सकता है ? और सहृदय में रस-प्रतीति कैसे सम्भव होगी ?

राम के उत्साह आदि के स्मरण को यदि साधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव के न होने के कारण स्मरण सम्भव नहीं है और काव्यरूप शब्द से यदि प्रतीति मानते हैं तब लोक में प्रत्यक्ष नायक नायिका को देख कर भी द्रष्टा को रस उत्पन्न होना चाहिए । सहृदय सामाजिक में रस निष्पत्ति मानने पर एक समस्या यह भी है कि करुण रस के उत्पन्न होने पर दुःखी होने के कारण किसी प्रकार पुनः करुण-रस की प्रेक्षा में प्रवृत्त न होंगे । इन अनेक कारणों से सहृदयों में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । इसी प्रकार इनमें रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होती । क्योंकि शृंगार के स्थायीभाव 'रत्यादि' जो वासना या शक्ति के रूप में सहृदयों के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है उसकी अभिव्यक्ति में, विषय के अर्जन में, अनुभव के अंश में, - तारतम्य की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी यह एक दोष है, दूसरा दोष यह है कि[1] अभिव्यक्ति को परतन्त्र मानते हैं या स्वतन्त्र, यह समस्या तब भी रह जाता है ।

इस प्रकार भट्टनायक काव्य में रस की प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपने भुक्तिवाद की स्थापना करते हुए कहते हैं[2] -

अन्य शब्दों से विलक्षण होने के कारण काव्यात्मक शब्द के अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व यह तीन अंशयुक्त व्यापार हैं । प्रथम अर्थविषयक व्यापार है, दूसरा रसादि विषयक और तीसरा सहृदयविषयक रस-व्यापार है ।

१- ध्व० लो० पृ० १८१-१८२
२- ध्व० लो० पृ० १८२-१८३

भावकत्व व्यापार काव्य के रसविषयक विभावादि का साधारणीकरण कर देता है । रस के भावित होने पर सहृदय को भोजकत्व व्यापार से रस का भोग होता है । यह भोग अनुभव और स्मरण से विलक्षण, द्रुतिविस्तर विकासरूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय, निजस्वभाव, निर्वृति या प्रकाशरूप परब्रह्मास्वाद-सहोदर एवं विश्रान्ति या विगलितवेद्यान्तर स्थिति रूप है ।

भट्टलोल्लट -

तदनन्तर , भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है ।[1] उनके मत में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावों के संयोग से क्रमश: स्थायीभाव परिपुष्टावस्था को प्राप्त करके , अनुकार्य रामादि में ही रस उत्पन्न होता है ।[2]

श्रीशंकुक , भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि चित्तवृत्ति के प्रत्यावर्त्त होने के कारण एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष नहीं बन सकता । दूसरे यह कि विस्मय, शोक और क्रोध आदि का क्रम से परिपोष नहीं होता, अत: अनुकार्य में रस नहीं हो सकता ।

श्रीशंकुक -

श्रीशंकुक अनुकर्ता में रस को मानते हैं । अभिनवगुप्त ने लोचन में श्रीशंकुक के मत का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है । वे कहते हैं -

लक्षित अवस्था वाले स्थायी को उद्देश्य करके, संयोग प्राप्त करते हुए विभावानुभावव्यभिचारिभावों के द्वारा अनुकर्ता नट को आलम्बन करके जो स्थायी की भासमान प्रतीति है वही 'रस' है । सामाजिक अनुकर्ता नट को देख कर अनुमान द्वारा अनुकार्य रामादि से उसे अभिन्न मान लेता है तथा नाट्य में सामाजिक रसास्वाद प्राप्त करता है । इस प्रकार शंकुक के अनुसार रस नट के आश्रित है अनुकार्य

१- अभिनवगुप्त ने लोचन में भट्टलोल्लट का नामोल्लेख नहीं किया है । अभिनवभारती एवं काव्यप्रकाश के आधार पर यह मत भट्टलोल्लट का ही प्रतीत होता है ।

२- ध्व० लो० पृ० १८५ ।

आदि के नहीं ।[१]

लोचन में श्रीशंकुक के मत के अनन्तर अभिनवगुप्त ने अन्ये तु, अपरे, केचित्तु, इतरे, इत्यादि द्वारा अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है किन्तु वे मत किन आचार्यों के हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहा ।

<u>अभिनवगुप्त -</u> अन्त में, अभिनवगुप्त ने अपने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है । अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त के लिए कुछ तत्त्व भट्टनायक से भी लिए हैं । यद्यपि इन्होंने भट्टनायक के समान भावकत्व और भोजकत्व दो नए व्यापारों की कल्पना नहीं की वरन् अभिधा तथा लक्षणा से अतिरिक्त ~~व्यंजना नामक तृतीय~~ अपने आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यंजना-वृत्ति को ही रस प्रतीति के लिए उपयुक्त माना ।

अभिनवगुप्त का मत है कि रस प्रतीयमान ही होते हैं तथा विशिष्ट प्रतीति ही रसना है ।[२] यह नाट्य प्रतीति, लौकिक अनुमान जन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है ।

सामाजिकगत स्थायीभाव को ही अभिनव ने रसानुभूति का निमित्त बताया है । संस्कार रूप में रति आदि स्थायीभाव सामाजिक की आत्मा में निहित रहते हैं । वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त हो जाते हैं । और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्द रूप में अनुभूत होते हैं ।

यह सारा कार्य अभिनवगुप्त का है जिन्होंने भट्टनायक, भट्टलोल्लट और श्रीशंकुक के मतों को एकत्र करके, भरत के रससूत्र के परिप्रेक्ष्य में पूर्वपक्ष के रूप में उनके मतों को उपस्थित किया, उनका खण्डन किया और आनन्दवर्धन के रसविषयक सिद्धान्तों को जो कुछ रूप में ध्वन्यालोक में बिखरे पड़े हैं उन्हें एकत्र किया एवं उन्हें दार्शनिक परिवेश में बांध कर प्रत्यभिज्ञा शैवाद्वैत के रंग में रंग दिया और उस पर अपनी मुहर लगा दी ।

१- लो० पृ० १८५-१८६ २- लो० पृ० १८६.

३- लो० पृ० १८७.

अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त सूत्र रूप में नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत द्वारा वार्तिक रूप में आनन्दवर्धन द्वारा एवं भाष्य रूप में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित है ।

भावव्यंग्य -

रस में जितने भावों का एक साथ अनुभव होता है उनकी मात्रा बराबर रहती है.अर्थात् उनमें से किसी भाव का अनुभव किसी भी अन्य भाव से अधिक नहीं होता और न किसी भाव का अन्य भाव से कम । वहाँ सभी भाव समान मात्रा में अनुभव में आते हैं , किन्तु जब इन भावों में से किसी संचारी भाव की मात्रा बढ़ जाती है और उसका अनुभव अधिक मात्रा में होने लगता है, वही अनुभव स्वतन्त्र रूप से अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है । वह अनुभव रसात्मक अनुभव न रह कर , भावात्मक अनुभव हो जाता है । और इसे एक विशिष्ट नाम दिया जाता है -'भावव्यंग्य'।

भावव्यंग्य का उदाहरण देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

'तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः ।'[1]

यहाँ अभिनवगुप्त को भावध्वनि के स्थान पर भावव्यंग्य प्रयुक्त करना चाहिए था । क्योंकि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कह दिया है -'मुख्य रूप से प्रकाशमान 'व्यंग्य अर्थ' ध्वनि का आत्मा है तथा अंगी रूप से भासमान ध्वनि का आत्मा रसादि (व्यंग्यार्थ) (रसादि में रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावोदय, भावशान्ति आदि) असंलक्ष्यक्रम रूप से व्यवस्थित हैं'।[2] यहाँ पर 'रसादि-व्यङ्ग्य' में प्रयुक्त 'आदि' पद के अन्तर्गत 'भाव' की गणना की गई है। अत: जिस प्रकार रसध्वनि की अपेक्षा रसव्यङ्ग्य पद प्रयोग उचित है उसी प्रकार भावध्वनि की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य पद का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।[3]

आभास -

रस-व्यंग्य में जो केन्द्रीय भाव होता है उसके साथ यदि किसी भी प्रकार के अनौचित्य का अनुभव सामाजिक को होता है तो वे ही रसाभास कहलाने लगते हैं । जैसे कामी रावण की सीता के प्रति प्रेमोक्ति । अभिनवगुप्त ने भावाभास का प्रतिपादन नहीं किया है ।

१- लोच० पृ० १८४ २- ध्वन्या० २।३.

३- तदर्थ द्रष्टव्य यहीं पृ० १६२.

भावप्रशम आदि -

भावप्रशम में किसी भी व्यभिचारिभाव की निराकरण की स्थिति चित्रित की जाती है। भावोदय में किसी भाव की उदीयमानता का चित्रण रहता है, भावसन्धि में दो भावों की सम्बद्धस्थिति चित्रित रहती है। भावशबलता में अनेक भावों के क्रमश: उदित होते चले जाने का वर्णन रहता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रसाभासादि के विषय में कुछ भी विचारपूर्वक नहीं कहा है। किन्तु अभिनवगुप्त ने इन सब का व्याख्यान किया है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में अलंकार -

(ध्व० २।१६ में) आनन्दवर्धन - ध्वनि में रसाभिन्न अलंकार का उपपादन करते हुए कहते हैं - ध्वनि के अन्तर्गत वही अलंकार माना गया है जिसका प्रयोग रसाभिन्न रूप से किया गया हो और जो बिना किसी यत्न के प्राप्त हो जाय।

किन्तु अभिनवगुप्त इस कारिका की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। सर्वप्रथम रसाभिन्न अलंकारों के विषय में कहते हैं -

'रसबन्धानेन क्रियमाणविघटनामेव पृथग्यत्नान्तरीयकत्वाभावनायामपि च रूपकाद्यलंकारो रसमार्गे मान्य:'।

आनन्दवर्धन तो रसाभिन्न अलंकारों को ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत मान रहे हैं किन्तु अभिनवगुप्त रसाभिन्न अलंकारों को रस का मार्ग बता रहे हैं। 'रस' तो ध्वनि काव्य का एक अंग मात्र है। अभिनवगुप्त 'ध्वनि' पद के स्थान पर 'रस' पद का प्रयोग व्यापकतावाची अर्थ में बड़ी सरलता से कर लेते हैं, जो अनुपयुक्त है।

इसके बाद 'तेन वीरादिरसाविरोधेऽपि' से लेकर 'इति सामान्येन वक्ष्यति' तक अभिनव का व्याख्यान प्रस्तुत कारिका से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों का सम्बन्ध ध्व० २।१५ से अवश्य था। जब उस कारिका का व्याख्यान पूरा हो गया तब यहाँ फिर उसकी बात निष्प्रयोजन करना, प्रसंग के सर्वथा प्रतिकूल है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य -

इसके दो भेद हैं -

१- शब्दशक्तिमूलक, २- अर्थ शक्तिमूलक ।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में व्यंग्य अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वस्तुव्यंग्य और अलंकारव्यंग्य । कुछ लोगों का मत है कि आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर्गत केवल अलंकारव्यंग्य ही मानते हैं, वस्तुव्यंग्य नहीं । उनके अनुसार जहां वस्तु मात्र का प्रकाशन होता है - वहां केवल शब्द श्लेष ही होता है ।

यहां प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य को क्यों नहीं मानते ?

आनन्दवर्धन अलंकार व्यंग्य को इसलिए स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि इसमें किसी प्रकार की आपत्ति की सम्भावना नहीं किन्तु वस्तु-व्यंग्य को मान लेने पर श्लेष विषयक अनेक विप्रतिपत्तियां उपस्थित होने की सम्भावना है । अत: वह दबे स्वर में इस प्रकार कहते हैं -

'यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं ....' इत्यादि ।

अर्थात् शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में तो न केवल वस्तु अपितु अलंकार भी प्रकाशित होता है । किन्तु यहां भी शंका होती है कि यदि आनन्दवर्धन को अलंकार के साथ वस्तु व्यंग्य भी अभीष्ट था तो 'यस्मादलंकारो' के बाद 'च' या 'अपि' जुड़ जाते । किन्तु[2] आनन्दवर्धन को तो केवल अलंकार-व्यंग्य ही शब्द-शक्तिमूलक में अभीष्ट है ।

आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में अलंकार व्यंग्य के साथ वस्तुव्यंग्य को भी स्वीकार किया है ।

१- आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ।। ध्व० २।२१
यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः । ध्व० पृ० २३५

२- यत्प्रकाशकशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्ये....... प्रतिपादितमेतत्प्राक्प्रतीतिमा-लंकारत्वाभ्यवहारिणोः प्राधान्यमेव भीवायितम् । ध्व० पृ० २११ ।

<u>शब्दशक्त्युद्भव में अभिधा की सीमा -</u>

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः'।[1]

यहाँमें तीन अर्थ ~~उपस्थित~~ होते हैं -

१. प्राकरणिक - ग्रीष्मकाल का वर्णन

२. अप्राकरणिक - भगवान् शिव का वर्णन और

३. व्यंग्य अलंकार - ग्रीष्मकाल और भगवान् शिव में उपमानोपमेय भाव की कल्पना।

यहाँ पर ग्रीष्मकाल विषयक जो अर्थ है वह अभिधेय है और उपमा अलंकार व्यंग्य है। परन्तु भगवान् शिव विषयक अप्राकरणिक अर्थ के विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं।

अप्राकरणिक अर्थ का बोध किस व्यापार से होता है - इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक मत उपस्थित किए हैं। किन्तु वे मत किन आचार्यों के हैं - इसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया। केवल 'अन्ये तु, एके तु, इतरे तु,' कह कर विभिन्न मतों को उपस्थित किया है।[2]

कुछ लोगों का मत है कि ~~आनन्दवर्धन~~ 'अप्राकरणिक अर्थ बोध किस व्यापार से होता है', इस विषय में आनन्दवर्धन मौन हैं। यह बात दूसरी है कि आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की चर्चा नहीं की। 'शब्दशक्तिमूलानां नियम्य व्यापाराभावः' - इस सिद्धान्त को नहीं कहा, जिसे परवर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत किया। किन्तु अप्राकरणिक अर्थ बोध के विषय में तो आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप से कहते हैं -

'एवंविधेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने [redacted] सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे' इत्यादि।[3]

यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्दशक्त्या प्रकाशमाने' स्पष्टरूप से 'शब्दशक्त्या व्यज्यमाने' को ही इंगित कर रहा है। यदि आनन्दवर्धन को अप्राकरणिक अर्थ के लिए अभिधा व्यापार ही मान्य होता तो वह 'शब्दशक्त्या अभिधीयमाने' कहते।

१- ध्वन्या० पृ० २४१ । २- लो० पृ० २४१-२४२ । ३- ध्वन्या०पृ० २४४ ।

किन्तु इन्हें केवल प्राकरणिक अर्थ ही अभिधेय स्वीकार्य है । अप्राकरणिक नहीं । अप्राकरणिक को तो वह 'प्रकाशमान' स्वीकार करते हैं । और कहीं यह बात प्रकट न हो कि - वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है इसलिए कहते हैं - अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिए ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के मत में 'अत्रान्तरे - कुसुमसमय' इत्यादि में 'महाकाल' से ग्रीष्मकाल विषयक जो प्राकरणिक अर्थ निकल रहा है वह अभिधेय है । और जो दूसरा अर्थ भगवान् शिव विषयक है वह प्रकाशमान (व्यङ्ग्यमान) है ।

<u>अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि -</u>

आनन्दवर्धन ने इसका उदाहरण कुमारसम्भव (६।८४) से दिया है -[2]

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

यहाँ वाच्यार्थ विवक्षित है तथा यही वाच्यार्थ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की प्रतीति कराता है । जब हमें वाच्य अर्थ का बोध होता है कि पार्वती जी कमलदल गणना करने लगीं तो हमें पूर्व प्रसंग का स्मरण आता है कि भगवती पार्वती ने शिव जी के लिए तपस्या की थी । अतः जब नारद जी द्वारा शिव सह विवाह के सन्देश को कुछ कर दिया है समीप में बैठी हुई पार्वती जी मुख नीचे करके हाथ में स्थित कमलदलगणना 'लज्जाभाव' के कारण करने लगीं । यहाँ लज्जाभाव रूप वस्तुव्यंग्य है । वाच्य-अर्थ के सामर्थ्य से अर्थान्तर - लज्जा रूप व्यभिचारिभाव अभिव्यक्त हो रहा है । इस प्रकार व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति में क्रम के संलक्षित होने के कारण यहाँ 'अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानोपमव्यंग्यध्वनि' है ।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि - जब व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से व्यक्त होता है तब वह भावव्यंग्य का रूप होता है । और भावव्यंग्य को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत माना गया है । परन्तु यहाँ पर व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से व्यक्त हो रहा है, फिर भी इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा गया है । इसका क्या कारण है ?

लोचन का ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थल पर शंका का तनिक भी अवकाश नहीं । इसके अभिनवगुप्त का विवेचन आनन्दवर्धन के ही सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है -

आनन्दवर्धन ने (ध्व० २।३ में) भाव की गणना असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत की है किन्तु यहाँ पर व्यभिचारिभाव के क्रम से प्रकाशित होने के कारण इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का विषय नहीं मानते क्योंकि अभिनवगुप्त कहते हैं कि यद्यपि रस भावादि सदैव प्रतीयमान ही होते हैं, वाच्य नहीं । तथापि सब-(रसभावादि) असंलक्ष्यक्रम का विषय नहीं होते, अपितु संलक्ष्यक्रम भी होते हैं ।[1] जैसे यहीं पर - पार्वती के लज्जारूप व्यभिचारिभाव की प्रतीति में । यदि पत्रलेखा-गणना तथा अधोमुखत्व अनुभावों द्वारा लज्जारूप भाव की झटिति प्रतीति हो जाती, तो यह अवश्य असंलक्ष्यक्रम असंलक्ष्यक्रमता के कारण भावध्वनि का विषय बन जाता । किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, क्योंकि पत्रलेखागणना तथा अधोमुखत्व आवश्यक रूप से केवल लज्जा के ही अनुभाव नहीं हैं । परन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि ये - पत्रलेखागणना तथा अधोमुखत्व तो कुमारियों में लज्जा से अतिरिक्त कारणान्तर में भी हो सकते हैं । अतः इनके द्वारा लज्जा की झटिति प्रतीति नहीं होती । अपितु पार्वती के द्वारा शम्भु को वर रूप में प्राप्त करने हेतु की गई तपस्या तथा नारदकृत विवाहादि प्रसंग के ज्ञान के अनन्तर ही लज्जा वाले अर्थ का ज्ञान होता है । इस व्यवधान के कारण ही यहाँ संलक्ष्यक्रमता है ।[2]

लज्जा रूप व्यभिचारिभाव के पर्यालोचन[3] के अनन्तर ही रस की प्रतीति

१- (१) यद्यपि रसभावादिरर्थो व्यङ्ग्य एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽसंलक्ष्यक्रमस्य विषयः (लो० पृ० २४८)

(२) यो रसादिरर्थः स स्वाभासो ध्वनेरात्मा न संलक्ष्यक्रमः स च । क्रमस्यापि हि तस्य कदाचिद्भाति । यथा पार्वतीलज्जोद्भवानुल्लासोपनेतीति वक्ष्यते । (लो० पृ० १७४

२- द्र० लो० पृ० २४६ - २५० ।

३- रसस्यापि लज्जा एव व्यभिचारिरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽ-संलक्ष्यक्रमतैव । लज्जापेक्षया तु तत्र संलक्ष्यक्रमत्वम् । (लो० पृ० २५०)

होती है । अतः लज्जा तथा रस प्रतीति के मध्य तो क्रम लक्षित न होने के कारण रस की दृष्टि से इसमें भी असंलक्ष्यक्रमता मानी जा सकती है , ऐसा लोचनकार का मत है किन्तु लज्जालक्षणाना , अधोमुखत्व तथा लज्जा का मध्यवर्ती क्रम संलक्ष्य है । हृदय एकाएक लज्जा में विश्रान्ति नहीं पाता (अर्थात् हृदय को वैसा आनन्द नहीं मिलता वैसा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में लज्जा की प्रतीति से होता) वरन् पूर्व वृत्तान्त का स्मरण करना पड़ता है तब लज्जा भाव की प्रतीति होती है ।

यहाँ पर अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से लज्जा भाव रूप वस्तुव्यंग्य मानते हैं -

'एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यंजनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः'[1]

यद्यपि आनन्दवर्धन ने लज्जा भाव को स्पष्ट शब्दों में वस्तुव्यंग्य नहीं कहा है । आनन्दवर्धन केवल इतना ही कहते हैं -

(१) अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनं उपसर्जनीकृतस्वरूपं[2] शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति ।

(२) रस तु वाच्यप्रतीति पश्चाद्व्यभिचारिमुखेन रसप्रतीति ।[3]

<u>अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानोपम व्यंग्य के भेद -</u>

अर्थशक्त्युद्भवानुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि में जो व्यंजक अर्थ कहा गया है उसके दो प्रकार हैं[4] --

१- कवि की अथवा कविनिबद्धवक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न

२- स्वतःसम्भवी

आनन्दवर्धन ने इसके दो प्रकार स्थिर किए । किन्तु अभिनवगुप्त ने कविकृत और कविनिबद्धवक्ताकृत[5] प्रौढ़ उक्ति को पृथक् पृथक् मान कर इसके तीन प्रकार कर दिए हैं ।

उपर्युक्त दो भागों में विभक्त व्यंजक[6] अर्थ पुनः पद और वाक्य की दो विभाजक रेखाओं में विभक्त हो जाते हैं । इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं ।

१- लो० पृ० २६७ २- ध्व० पृ० २५८

३- ध्व० पृ० २५६ ४- ध्व०२।२४ और उसकी वृत्ति पृ० २४७

५- तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति (लो० पृ० २४७) ६- द्र० ध्व०२।१ की वृत्ति ।

अर्थशक्त्युद्भव के अलंकार व्यंग्य की दृष्टि से दो भेद करते हैं। ये दोनों ही व्यंजक भेद पर निर्भर हैं। इनका एक व्यंजक होता है - वस्तु और दूसरा अलंकार[1]। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव के दो भेद और बने -

१- वस्तु प्रकाश्य अलंकार व्यंग्य

२- अलंकार प्रकाश्य अलंकारव्यंग्य

आनन्दवर्धन अलंकारप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य के प्रसंग में कहते हैं -

'ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलंकारान्तरस्यालंकारान्तरे व्यंग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।'[2]

इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं -

'अलंकारान्तरस्येति। यथालंकारोऽलंकारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालंकारो ध्वन्यत इति किमयत्नसम्पाद्यमिति तात्पर्येणालंकारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी, न ह्यलंकारेणालंकारो ध्वन्यत इति प्रकृतम:, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्तुनाप्यलंकारोऽपि व्यंग्य इत्येतावत: प्रकृतत्वात्।'[3] इत्यादि।

आनन्दवर्धन ने तो[4] वस्तुप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य और अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य को पृथक् पृथक् माना है - जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है। और 'अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य' के प्रसंग में कहते हैं कि अलंकारान्तर का अलंकारान्तर में व्यंग्य होना यत्नप्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु अभिनवगुप्त 'अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य' के साथ 'वस्तुप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य' को मिला देते हैं और उसमें अव्याप्ति दोष बता रहे हैं। जो सर्वथा असंगत है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त सर्वथा सरल एवं लघु है। उसमें कहीं भी उलझन या अस्पष्टता नहीं। किन्तु अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन के सीधे सरल सिद्धान्त को इतना अधिक उलझा देते हैं कि साधारण अध्येता आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को छोड़ कर इन्हीं की बातों में उलझा रह जाता है।

१- (१) अंगित्वेन व्यंग्यतायामपि, अलंकाराणां द्वयी गति: - कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यंज्यन्ते कदाचिदलंकारेण। (ध्वन्या० पृ० २७९)
(२) द्र० ध्वन्या० २।२६ और २।२७ की वृत्ति भी।

२- ध्वन्या० पृ० २९८ ३- लो० पृ० २९८

४- द्र० यहीं की टिप्पणी संख्या १।

उपर्युक्त अनुस्वानोपमव्यंग्य ध्वनि के भेद प्रभेदों के अतिरिक्त 'अनुस्वानोपमव्यंग्य ध्वनि' कभी कभी प्रबन्ध में भी भासित होता है।[1] किन्तु अभिनवगुप्त प्रबन्ध में एकमात्र रसादि को ही व्यंजक मानते हैं।[2]

प्रबन्ध के व्यंजकत्व का निबन्धन -

आनन्दवर्धन का मत है कि प्रबन्ध में विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दोनों ही भेद - असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य(या अनुस्वानोपमव्यंग्य) भासित होते हैं। सर्वप्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का द्योतन बताते हुए कहते हैं -

इदानीमसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव ।[3] (ध्व० पृ० ३२८)

इस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का निबन्धन, प्रबन्ध में किस प्रकार करना चाहिए - इसका प्रतिपादन तृतीय उद्योत में १०वीं कारिका से लेकर १४वीं कारिका तक किया गया है।

तदनन्तर , प्रबन्धों में, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का दूसरा प्रभेद भी भासित होता है - इसका प्रतिपादन करते हैं -

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि के जो भी प्रभेद हैं - शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक वह भी किन्हीं प्रबन्धों में द्योतित होते हैं।[4] जैसे - मधुमथनविजय में पाञ्चजन्य की उक्तियों में अथवा जैसे- विषमबाणलीला में, कामदेव के अवतार के आगमन के प्रसंग में। और जैसे - महाभारत में गृध्रगोमायुसंवाद आदि प्रसंग में।[5]

१- अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ।। ध्व० ३।१५

२- प्रबन्धेन क्वाप्यनुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिः भासमानो न तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति । लो० पृ० ३४५

३- ध्व० पृ० ३२८

४- अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यंग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद्द्योतते । ध्व० पृ० ३४१

५- ध्व० पृ० ३४१ -३४६ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रतिपादित - प्रबन्धों में अनुस्वानोपमव्यंग्य ध्वनि के द्योतन की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं -[1]

'प्रबन्ध में न केवल साक्षात् रसव्यंग्य होता है अपितु परम्परा से भी रसव्यंग्य होता है, - यही प्रदर्शित करने के लिए, 'अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो - य उदाहृत:' इत्यादि तृतीय उद्योत में १५ वीं कारिका का उपक्रम किया गया है। और वृत्ति भाग और कारिका भाग की संगति लगाने का निर्देश करते हैं - कि ३।१५ में प्रबन्धों में संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के द्योतन की बात कही गई है, उसकी ध्व० ३।२ में कथित -- 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रम: क्वचित्' से संगति है। और वृत्तिभाग के 'वस्तु - विवक्षितान्यपरवाच्य............. प्रबन्धेषु केषुचिद्द्योतते' में निम्न अंश शेष है -- 'रसादिध्वने: प्रकृतस्य मार्गो व्यंजकतयेति शेष:'। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने कारिका और वृत्ति दोनों की संगति लगाने का निर्देश किया है।'

तदनन्तर अपने अभिप्राय का सार बताते हैं कि - 'बात यह कही गई - प्रबन्ध से कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि साक्षात् व्यंजित होती है, वह रसादि में पर्यवसित होती है।' और, क्योंकि ध्व० ३।१५ कारिका से पूर्व ध्व० ३।१४ में असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि का विवेचन किया गया है तथा ध्व० ३।१५ के बाद ध्व० ३।१६ में भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का विवेचन किया गया है। अत: अभिनवगुप्त को यह असंगत लग रहा है कि कैसे बीच (ध्व० ३।१५) में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का विवेचन हो गया? इसी पर वह कहते हैं -

यदि स्पष्ट रूप से व्याख्यान किया जाय तो पूर्वापर अलक्ष्यक्रम-विषयक ग्रन्थ के बीच में यह संलक्ष्यक्रमविषयक ग्रन्थ असंगत होगा और पौर्वापर्य

१- न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद्व्यंग्यो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते द्वितीयेति। अनुस्वानोपम: - शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च, यो ध्वने: प्रभेद उदाहृत: स: केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यंजकेषु सत्सु व्यंग्यतया स्थित: सन् द्योतते इति रसादिध्वने: प्रकृतस्य मार्गो व्यंजकतयेति शेष:। वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्य:। अथ चानुस्वानोपम: क्वचित् प्रभेद उदाहृतो य: प्रबन्धेषु मार्गो वस्या 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रम: क्वचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्त्यो: संगति।
इत्युक्तं भवति - प्रबन्धेन क्वापिदनुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनि: साक्षाद्व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। - लो० पृ० ३८५

की उक्ति आदि का नीरसत्व कहा जाने लगेगा ।[1]

इसके बाद अभिनवगुप्त - 'अहं त्विदत्वा' इत्यादि श्लोक में जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में अर्थशक्तिमूलक भेद के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है, उसमें शान्त रस बताते हैं ।[2]

<u>समीक्षा</u> -

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त व्याख्या में कुछ तथ्य अवधेय हैं -

१- प्रबन्ध में न केवल साक्षात् अपितु वरन् परम्परा से रसव्यंग्य की बात ।

२- प्रबन्ध में कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य के साक्षात् व्यंजित होने पर रसादि में उसका पर्यवसान ।

३-'अहं त्विदत्वा' इत्यादि श्लोक में - जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में अर्थशक्तिमूलक भेद के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है ,उसमें अभिनवगुप्त का शान्त रस निर्देश ।

४- पूर्वापर सम्बन्ध में असंलक्ष्यक्रमविषयक विवेचन के मध्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के विवेचन की असंगति ।

उपर्युक्त चारों तथ्यों का विश्लेषण -

१- अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात उठायी है , वह उनकी अपनी नई सूझ है । किन्तु परम्परा से रसव्यंग्य की बात कुछ खटकती है । क्योंकि रसप्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता, इसीलिए इसमें शतपत्रदलभेदन्याय माना गया है । और इसी कारण आनन्दवर्धन ने रसव्यंग्य को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत रखा है। यदि रसप्रतीति में विलम्ब हो गया , उसमें क्रम लक्षित हो गया , तब फिर वह कैसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि हो जाएगा । इसीलिए आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेद प्रभेदों का विभाजन स्पष्ट रूप से कर दिया है ।

१- यदि तु स्वरूपेणैव व्याख्यायते तदा ग्रन्थस्य पूर्वापरस्यासंलक्ष्यक्रमविषयस्य मध्ये ग्रन्थोऽयमसंगतः स्यात् , नीरसत्वं च पांचजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम् ।
लो० पृ० ३८५

२- स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरसः एव परिनिष्ठितां प्राप्तः । लो०पृ० ३८७

– असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत – रसादिव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत –केवल वस्तु और अलंकार व्यंग्य को कहा है । अतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत परम्परा से रसव्यंग्य की बात कैसे सिद्ध होगी ? यह एक जटिल प्रश्न है ।

सम्भवतः अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात उठायी है, उसके मूल में पूर्व प्रतिपादित – एवं वादिनी देवर्षौ[1] इत्यादि उदाहरण हैं। जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के लिए उदाहृत किया है उसमें लज्जा रूप वस्तुव्यंग्य है किन्तु अभिनवगुप्त उसमें भी अपने ढंग से रसप्रतीति की बात करते हैं–

'रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यवसीयमाने भातीति । तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव, लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्'।[2]

यहाँ पर एक तथ्य उल्लेख्य है कि आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उपर्युक्त उदाहरण में इतना अवश्य कहा है –

'इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः'[3]

किन्तु अभिनवगुप्त की भाँति दूर जाकर या परम्परा से रसप्रतीति की बात नहीं करते । यह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है ।

२. प्रबन्ध में कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य साक्षात् व्यंजित हो, तो उसका रसादि में पर्यवसान हो जाता है – यह अभिनवगुप्त का मत है । आनन्दवर्धन का ऐसा आग्रह नहीं है । यदि आनन्दवर्धन को रसादि में पर्यवसान की बात अभीष्ट होती, तो जब प्रबन्ध में अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि का विवेचन कर रहे थे तब इस तथ्य का भी प्रतिपादन करते । किन्तु आनन्दवर्धन ने ऐसा नहीं कहा है । अतः रस में पर्यवसान की बात अभिनवगुप्त की ही सूझ है । वस्तुतः ऊपर जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात कही गई है और रस में पर्यवसान की बात मूलतः एक ही है। केवल उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है ।

सम्भवतः अभिनवगुप्त ने जो रस में पर्यवसान की बात कही है उसके मूल में यह तथ्य हो कि – प्रबन्ध में कोई न कोई एक रस प्रधान होता है । और सब का पर्यवसान उस अंगी रस में ही होता है । यह तथ्य सत्य अवश्य है किन्तु साथ ही यह भी विचारणीय है कि क्या प्रबन्ध में जो भी पद निबद्ध किया जाय उसका पर्यवसान अंगी रस में हो ? क्या यह नहीं हो सकता कि निबद्धपद में केवल

१. ध्व० पृ० २४८.
२. लो० पृ० २५०.

वस्तु या अलंकारव्यंग्य स्वतन्त्र हों ?

अभिनवगुप्त के अनुसार रस में पर्यवसान की बात मान लेने पर तो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। और इस प्रकार तो वह सदैव रस में ही पर्यवसित होने के कारण असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का ही अनुगामी बना रहेगा।

३. 'अलं स्थित्वा' इत्यादि श्लोक में अभिनवगुप्त ने शान्त रस का निर्देश किया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने इसे अनुस्वानोपमव्यंग्यध्वनि के अर्थशक्तिमूलक के लिए उद्धृत किया है। और यह प्रबन्धप्रकाश्यस्वत:सम्भव्यर्थशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य का स्थल है। क्योंकि पूरा प्रकरण वाच्य रूप में तो प्रस्तुत करता है शास्त्रीय ज्ञान को, किन्तु उससे व्यंग्य हो रहा है दोनों पक्षों (गृध्र और शृगाल) का अपना स्वार्थ। गृध्र और शृगाल की जो उक्तियां यहां उपनिबद्ध हैं वे स्वत: और बिना कल्पना के ही इस रूप में सिद्ध तथा सम्भव हैं। इससे जो अर्थ व्यंजित हो रहा है, वह भी एक कथ्य मात्र है, अलंकार रूप नहीं है। इस प्रकार यहां पूरा प्रकरण स्वत:सम्भवी अर्थ प्रस्तुत करता है और उससे वस्तुव्यंग्य हो रहा है। अत: यहां गृध्र और शृगाल का स्वार्थ, प्रबन्ध से प्रकाशित, लोक सिद्ध अर्थ से व्यक्त हो रहा है। अत: महाभारत का यह पूरा प्रकरण प्रबन्धप्रकाश्यस्वत:-सम्भव्यर्थशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य का स्थल है। किन्तु अभिनवगुप्त इसमें भी शान्त रस ढूंढते हैं। आचार्य मम्मट ने भी इस उदाहरण को उद्धृत किया है यद्यपि उन्होंने इसमें शान्तरस का निर्देश नहीं किया है।

अभिनवगुप्त ने रस में पर्यवसान वाले अपने तथ्य की पुष्टि के लिए ही इस उदाहरण में शान्तरस बताया है। क्योंकि महाभारत में अंगी रस - शान्त है। अत: अभिनवगुप्त 'अलं स्थित्वा' इत्यादि का पर्यवसान शान्त रस में देखते।हैं।

४. अभिनवगुप्त ने जो - पूर्वापर सम्बन्ध से अलक्ष्यक्रमविषयक विवेचन के मध्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के विवेचन की असंगति की बात उठायी है - वह व्युत्क्रम हो जाने के कारण ठीक भी है। आनन्दवर्धन चाहते तो प्रबन्ध में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के द्योतन का उल्लेख असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पूर्व या पश्चात् कर सकते थे। किन्तु,

यद्यपि आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रम का विवेचन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के बीच में कर भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि अभिनवगुप्त संलक्ष्यक्रम का भी पर्यवसान(असंलक्ष्यक्रम की भाँति) रसध्वनि में ही मानने लगें। यह तो अभिनवगुप्त अपने मत को आनन्दवर्धन के सिद्धान्त पर बलात् आरोपित कर रहे हैं।

प्रबन्ध में रसादिव्यंजकता के अन्य हेतुओं के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -[1]

प्रबन्ध में रसादिव्यंजक होने में अन्य मुख्य कारण है - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श निर्वहण नामक सन्धियों और उपक्षेप आदि उनके अंगों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना। यथा - 'रत्नावली' नाटिका में।

अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन की उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या के प्रसंग में और ग्रन्थ विस्तार करते हुए काव्य के प्रयोजन का उल्लेख करने लगे - कि काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जो पार्यन्तिक मुख्य फल है रसानन्द उसकी प्राप्ति भी होती है और कर्तव्य अकर्तव्य का उपदेश भी सरल और सरस रीति से हो जाता है। इसलिए कहते हैं -

'स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्राणोपजीवक इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः'।[2]

इसके बाद 'व्युत्पत्ति' और 'फल' का लक्षण करने लगे। कर्ता के आत्मभूत उपायों की पांच अवस्थाओं - स्वरूप, स्वरूपातिरिक्तविघ्नकूलता, कार्यसम्पादनयोग्यता, प्रतिबन्ध्योपनिपातेनाशङ्क्यमानता निवृत्तप्रतिपक्षता बाधकाभावेन सुफलकत्वनिश्चितता - को बताते हुए सन्धि और सन्ध्यंगों के भेद प्रभेदों का सविस्तार प्रतिपादन किया।

यहां एक तथ्य अवधेय है कि आनन्दवर्धन तो केवल प्रबन्धों में रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धि और सन्ध्यंगों को जोड़ने की बात बता रहे हैं, किन्तु अभिनवगुप्त अनेक अवान्तर चर्चाओं को भी इसी प्रसंग में प्रतिपादित करने लगे - जो प्रस्तुत प्रस्थान को स्पष्ट करने में तिलमात्र भी उपयोगी नहीं है। यह तो अभिनवगुप्त का स्वभाव है कि स्थान-स्थान पर तनिक सा भी अवसर पाकर अप्रासंगिक बात कह अवश्य देते हैं, चाहे उसका उस प्रसंग में कोई उपयोग न हो।

सुप्तिङ्वचनकारकसमासादि से रस द्योतन-

ध्व० ३।१६ में आनन्दवर्धन ने सुप्तिङ्वचनकारकसमासादि से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के द्योतन की बात कही है ।

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषैर्वचनविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धितविशेषैः[1] समासैश्चेति । चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते ।

अभिनवगुप्त लोचन में इस कारिका की व्याख्या करते हैं -

एवं रिपदक्तोतनन्तरं सामृतिं कुर्यामहे । सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपः तस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्यालक्ष्यक्रमव्यंग्यो द्योत्यः । क्वचित्क्वचिदिति पूर्वकारिकया सह संगत्य संगतिरिति । सर्वे हि सुबादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव । तथाहुर्णे[2] स्वाभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन्व्यनक्ति ।

लोचन के उपर्युक्त अंश में निम्नलिखित तथ्य उल्लेख्य हैं -

(१) सुबादि से जो वक्ता के अभिप्राय से अनुस्वानरूप व्यंग्य भासित होता है उसका पुनः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप से द्योतन ।

(२) कारिका में प्रयुक्त 'क्वचित्' को लेकर पूर्व कारिका से संगति दिखाना ।

(३) साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात ।

१. सुबादि द्वारा, वक्ता के अभिप्राय से अनुस्वान रूप व्यंग्य भासित होता है उसका पुनः असंलक्ष्यक्रम रूप से द्योतन - यह अभिनवगुप्त का मत है । क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्व० ३।१६ में सुप् आदि का असंलक्ष्यक्रमद्योतन स्वतः प्रतिपादित किया है । इससे पूर्व कारिका (ध्व० ३।१५ में), प्रबन्धों में अनुस्वानोपम (संलक्ष्यक्रम) व्यंग्य के द्योतन की बात कही

१- ध्व० पृ० ३४७ - ३४८ २- लो० पृ० ३४७

गई है । अत: अभिनवगुप्त पूर्व कारिका के साथ संगति बैठाते हुए - श्रुतादि में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कह रहे हैं और फिर उस श्रुतादि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यत्व बता रहे हैं ।

'श्रुतादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते ध्वनिभिप्रायविशेषः अस्यापि श्रुतादिभिर्व्यञ्जितस्यानुस्वानोपमत्वात्क्रमव्यंग्यो द्योत्य: ।'[1]

यहाँ अभिनवगुप्त ने -'श्रुतादि संलक्ष्यक्रम का असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्व' जो बताया है - वह प्रस्तुत प्रसंग को और अधिक उलझा देता है ।

अभिनवगुप्त ने कारिका में प्रयुक्त 'क्वचित्' को लेकर पूर्व कारिका से संगति दिखाई है वह कल्पना की खींचातानी मात्र है । क्योंकि ध्व० ३।१६ का पूर्व की कारिका ध्व० ३।१५ से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

ध्व० ३।१६ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'एतदुक्तं भवति - वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यंजनद्वारेण परम्परयेति तत्र अन्यत्रैतत्परम्परया व्यंजकत्वं प्रबन्धादावनुक्तम् ।'[2]

यहाँ अभिनवगुप्त ने जो साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात कही है वह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहीं भी साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात नहीं कही है । रसप्रतीति साक्षात् नहीं होती । वह तो असंलक्षित होती है । और परम्परा से रस-प्रतीति नहीं होती, उसमें प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि क्रम लक्षित नहीं होता । इसीलिए इसे असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत रखा गया है । यदि क्रम संलक्षित हो जाय, रसप्रतीति में विलम्ब हो जाय तो वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का विषय हो जाता है । जैसे 'एवं वादिनी देवर्षौ' में ।

१- लो० पृ० ३४७   २- वही पृ० ३४७

<u>वर्णों का रस द्योतन -</u>

ध्व० ३।३ और ३।४ में आनन्दवर्धन वर्णों के रस द्योतन का उपपादन करते हुए कहते हैं -

श ष रेफ के साथ संयोग और अनेक बार प्रयुक्त ढकार शृंगार रस के विरोधी होते हैं अत: ये वर्ण रस को प्रकाशित करने वाले नहीं होते हैं, किन्तु जब वे ही श ष रेफ आदि बीभत्स रस में नियोजित किए जाते हैं तब वे रस को दीप्त करते हैं अत: वर्ण रस के द्योतक होते हैं।

आनन्दवर्धन के मत को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

यद्यपि विभावानुभाव व्यभिचारि का संयोग ही रसास्वाद में कारण होता है तथापि विभावादि में प्रयुक्त विशिष्ट वर्णों से रसास्वाद होता है। इस प्रकार अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले, श्रवणमात्र श्रोत्र द्वारा ग्राह्य मृदु अथवा परुष स्वभाव वाले वर्ण रसास्वाद में सहकारी होते हैं।[2] वर्णों की सहकारिता के अभिधान के लिए ही 'वर्ण' पद में निमित्त सप्तमी है।

अर्थात् अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि रसाभिव्यक्ति में विभावादि का संयोग होता है और वर्ण रसाभिव्यक्ति में सहायक मात्र होते हैं।

<u>संघटना का रसाभिव्यंजकत्व -</u>

माधुर्यादि गुणों के आश्रय से, संघटना के रसाभिव्यंजकत्व के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -

रस आदि को वाक्यव्यंग्य मान लेने पर कोई नियत संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती है। इसलिए जिनकी संघटना नियत नहीं है ऐसे शब्द भी व्यंग्यविशेष से अनुगत हो कर गुणों के आश्रय हैं।

उपर्युक्त मत को न मानने वाले पूर्वपक्षी का मत है कि माधुर्य के विषय में इस प्रकार कहा जाय तो ठीक है किन्तु ओजस् का नियत संघटना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे सम्भव है ? क्योंकि असमासा संघटना कभी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती।

१- लो०वृ० ३७४   २- ध्व० पृ० ३१५

सिद्धान्तपक्षी कहता है - रौद्र आदि को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति 'ओजस्' है । वह 'ओजस्' यदि असमासा संघटना में भी हो तो कोई दोष नहीं । इसमें सहृदय द्वारा संवेद्य कोई अचारुत्व नहीं ।[1] अतः गुणों के भिन्न संघटना से रहित, शब्दों के आश्रय होने से कोई क्षति नहीं ।

ध्वन्यालोक के उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'वयं तु ब्रूमः - वर्णपदव्यंग्येऽप्योजसि रौद्रादिरसभावे वर्णपदानामेकाकिनां स्वसौन्दर्येऽपि न तादृगुन्मीलति यावद्यावत्तानि संघटनाश्रितानि न कृतानीति तात्पर्येणायं पूर्वपक्ष इति ।'[2]

अभिनवगुप्त ने 'वयं तु ब्रूमः' कह कर अपना मत रखा है और उसे पूर्वपक्ष कहा है । आनन्दवर्धन का मत है - 'जिसकी संघटना नियत नहीं है ऐसे शब्द ही व्यंग्यविशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय होते हैं ।' आनन्दवर्धन के मत को अभिनवगुप्त अपने ढंग से व्याख्यात करते हैं । अभिनवगुप्त की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को उस प्रकार ग्रहण नहीं करते हैं जिस प्रकार आनन्दवर्धन उसे कहना चाह रहे हैं । अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं --'रौद्रादि रसभाव ओजस् के वर्ण पदव्यंग्य होने पर भी अकेले वर्ण-पदों का अपना सौन्दर्य भी तब तक उन्मीलित नहीं होता जब तक वे वर्णपद संघटना से आश्रित नहीं किए जाते'।

आनन्दवर्धन का यह अभिप्राय नहीं है । आनन्दवर्धन ने तो स्वयं संघटना में ही वर्णपद के व्यंजकत्व की बात कही है, किन्तु 'अनियत संघटना' कहा है । अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि शृंगार में असमासा संघटना ही हो और रौद्र आदि में दीर्घ समासा संघटना । प्रायः इसके विपरीत स्थिति भी देखी जाती है । इसीलिए 'अनियत संघटना' पद का प्रयोग आनन्दवर्धन ने किया है ।

संघटना के नियमन में हेतु वक्तृ वाच्यगत औचित्य के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- ध्व० पृ० ३२५-३२६   २- लो० पृ० ३२६

'वाच्य'- ध्वनि काव्य के प्राणभूत तत्व- 'रस' का अंग अथवा 'रसाभास' का अंग हो सकता है, अभिनेयार्थ अथवा अनभिनेयार्थ उत्तम प्रकृति के आश्रित अथवा उससे इतर के आश्रित, बहुत प्रकार का हो सकता है।

इस पर अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'वाच्यमितिध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्यांगं व्यंजकमित्यर्थः। अभिनेयो वागंगसत्त्वाहार्यैरभिमुखं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यंग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं काव्यं, स एव नाट्यार्थ इत्युच्यते।'[1]

ध्वन्यालोक में 'ध्वन्यात्मरसांगं' में प्रयुक्त 'आत्म' पद का अभिनवगुप्त 'स्वभाव' अर्थ कर रहे हैं और ध्वनि एवं रस को एकरूप मान रहे हैं। किन्तु आनन्दवर्धन को यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। आनन्दवर्धन के अनुसार यहाँ 'आत्म' पद का अर्थ 'प्राण' है।

तात्पर्यशक्ति -

व्यंजकत्व की स्थापना के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने वाच्य-व्यंग्य के पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय का खण्डन किया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने पदार्थ वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए कहीं भी तात्पर्य शक्ति का नाम नहीं लिया है। किन्तु अभिनवगुप्त 'लोचन' में उपर्युक्त प्रसंग के प्रारम्भ में, भूमिका रूप में कहते हैं-

'नन्वेवं मा भूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशंक्याह न चेति।'[1] इत्यादि।

वस्तुतः तात्पर्यशक्ति की स्थापना अभिनवगुप्त की ही सूझ है। आनन्दवर्धन केवल तीन शक्तियों को मानते हैं - वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व[2]। उन्होंने तात्पर्यशक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उद्योत में तात्पर्यशक्ति का विवेचन किया है। ध्व० १।४ के उदाहरण 'भम धम्मिअ' को व्याख्यात करने के प्रसंग में पदार्थों के परस्पर अन्वय की प्रतिपत्ति कराने के लिए तात्पर्यशक्ति को मान रहे हैं -

(१) न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्यव्यापाराभावात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।[3]

---

(२) सिंहो माणवकः इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वय वाक्यार्थोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्ति[1] - स्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति ।

(३) तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो[2] ध्वननद्योतन-व्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।[3]

(४) ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते ।

(५) तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्तिसहायार्था-वबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा-शक्तिः तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभास-सहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्रागवृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन्प्रधानभूतः[4] काव्यात्मेत्याशयेन निर्णयप्रतिज्ञा च प्रयोजनविषयोऽपि निर्णयविषय इत्युक्तम्।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्त ‘तात्पर्य-शक्ति’ को द्वितीय कक्षा निवेशनी मान रहे हैं । कुमारिल भट्ट - अभिहिता-न्वयवादी हैं, वे पदों के अन्वित अर्थ के बोधन के लिए तात्पर्यार्थ को मानते हैं। ‘तात्पर्य’ को शक्ति संज्ञा देने वाले जयन्तभट्ट हैं, जो आनन्दवर्धन से परवर्ती हैं । अतः तात्पर्यशक्ति को अभिनवगुप्त ने जयन्तभट्ट से लेकर यहाँ रखा है अतः प्रस्तुत प्रसंग में अर्थात् काव्यबोध में ‘तात्पर्यशक्ति’ की कल्पना - अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है । अभिनवगुप्त से ही प्रभावित होकर आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में -‘तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्’[5] कहा है ।

संभवतः कुछ लोग यह मानने को तैयार नहीं हों कि - काव्यशास्त्र तात्पर्याख्याशक्ति की सूझ अभिनवगुप्त की अपनी है । यह तो अभिहितान्वय-वादी मीमांसकों द्वारा सुझायी गयी है । उस स्थिति में इतना तो मानना

१-लो० पृ० ५८-५९ २- वही पृ० ६२

३- वही पृ० ५९ ४- वही पृ० ६२-६३

५- काव्यप्रकाश २।६ पृ० ३५

ही पड़ेगा कि अभिनवगुप्त ने तात्पर्यशक्ति को मीमांसकों से लेकर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जोड़ा है । आनन्दवर्धन तात्पर्यशक्ति को नहीं मानते । आनन्दवर्धन केवल तीन शब्द व्यापारों के पक्ष में हैं - १- वाचकत्व, २- गुणवृत्ति , ३- व्यंजकत्व । किन्तु अभिनवगुप्त दूसरे स्थान पर तात्पर्यशक्ति को रखते हैं और चतुर्थ ध्वननात्मिका व्यंजना-व्यापार को माना है । अतः जहाँ तक शब्द व्यापारों का प्रश्न है अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन से मत-भेद रखते हैं ।[1]

शान्तरस-[2]

सभी आचार्य आठ रसों को निष्पक्ष रूप से स्वीकार करते हैं किन्तु नवें शान्त रस के विषय में विद्वानों में मतभेद है । किन्तु आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त शान्त रस को भी स्वीकार करते हैं । आनन्दवर्धन के पूर्व भी शान्त रस कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकार किया गया है किन्तु उसे पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुंचाने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है ।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य जिन्होंने शान्त रस का उल्लेख किया है वे हैं - उद्भट, रुद्रट और आचार्य आनन्दवर्धन किन्तु इन आचार्यों ने शान्त रस का विवेचन उस रूप में नहीं किया, जिस रूप में आचार्य अभिनवगुप्त ने । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के शान्त रस का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने शान्त रस का स्वरूप आनन्दवर्धन से भिन्न रूप में माना है ।

१-(i) डा० मुकुन्द माधव शर्मा भी इस तथ्य से सहमत हैं -

' Ānanda does not conceive of the tātparyaśakti. He conceives tātaparya as the intention of the Speaker in respect of the meaning of the santence. This tātparya is relegated even to the word and the meaning. Which are intent upon conveying the suggested sense. This tātparya is not concived by Ānanda as a function of the words of the same status as that of abhidhā, lākṣanā or vyañjanā--The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics.' Page, 190 .

(ii) यहाँ अवधेय तथ्य यह है कि 'तात्पर्यवृत्ति' वाक्य की शक्ति है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्द-शक्तियों के साथ उसका विवेचन नहीं किया है। इस तथ्य की ओर हेमचन्द्र का ध्यान था, इसीलिए उन्होंने भी शब्दशक्तियों के प्रसङ्ग में तात्पर्यशक्ति की चर्चा करना अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया - 'अभिधानन्तरं च यद्यपि अन्वयप्रतिपत्तिनिमित्तं तात्पर्यशक्तिरप्यस्ति तद्विषयस्तात्पर्यलक्षणोऽर्थः तथापि तौ वाक्यविषयावेवेति नात्रोक्तौ'। का॰ नु॰ शा॰ ६·५८.

२- श्री राघवन् ने अपनी पुस्तक ' Number of Rasaa' में शान्त रस विषयक विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया है ।

अभिनवगुप्त ने लोचन की अपेक्षा अभिनवभारती के षष्ठ अध्याय में इसका विवेचन अधिक विस्तृत रूप में किया है । जिसका संक्षिप्त रूप लोचन में रखा है ।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध शान्त रस के विषय में प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । कुछ लोग शान्त रस को नहीं मानते । कुछ लोगों का मत है कि शान्त रस हो भी तो नाटक में उसका अभिनय नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य में भले ही शान्त रस मान लिया जाए, नाटक में उसका मानना उचित नहीं है । जो लोग शान्त रस को मानते हैं, उनमें इसके स्थायीभाव के विषय में मतभेद पाया जाता है । अभिनवभारतीकार ने शान्त रस विषयक इन विभिन्न मन्तव्यों का विवेचन करके, अन्त में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है ।

शान्त रस का स्थायीभाव-

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों में से , भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध शान्त रस प्रकरण के विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना असम्भव है । उद्भट के 'काव्यालंकार सार संग्रह' में शान्त रस का नामोल्लेख मात्र है । उसका स्थायीभाव नहीं बताया है, प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में 'शम' को स्थायीभाव माना है । उसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में शान्त का स्थायीभाव - सम्यग्ज्ञान माना है । नमिसाधु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रुद्रट 'सम्यग्ज्ञान' को स्थायीभाव मानते हैं ।

आनन्दवर्धन के पूर्व 'शम' और 'सम्यग्ज्ञान' को शान्त का स्थायीभाव कहा जा चुका था, आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' रूप शान्त रस को माना है । इस प्रकार प्रारम्भ से ही शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में विद्वानों के मध्य मतैक्य नहीं था । साथ ही शान्त रस की स्थिति के विषय में भी मतभेद था यह तो आनन्दवर्धन के 'प्रतीयते एव'[2] से भी लक्षित होता है।

१- सम्यग्ज्ञान प्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ।।

सम्यग्ज्ञानं स्थायीभावः - नमिसाधु

2- 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव' इत्यादि.

अत: शान्त रस - शान्त होते हुए भी , विद्वज्जन के मध्य अशान्त, अर्थात् विप्रतिपत्ति का विषय बना हुआ था । शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायीभाव की भाँति उसका कोई निश्चित स्थायीभाव नहीं था ।

तृष्णाक्षयसुख -

आनन्दवर्धन के समय तक शम और सम्यक् ज्ञान शान्त रस के स्थायीभाव कह दिए गए थे । आनन्दवर्धन ने शान्त रस का स्थायीभाव 'तृष्णाक्षयसुख' माना है । अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के तृष्णाक्षयसुख को 'निर्वेद' रूप मानते हैं । :-

'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः'[1]

अहंकार प्रशमैकरूप-

आनन्दवर्धन के समय भी कुछ लोग शान्त को पृथक् रस स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे । 'शान्त' को वीर के अन्तर्गत ही मानते थे । अत: आनन्दवर्धन शान्त को वीर से पृथक् करते हुए कहते हैं -'अहंकारप्रशमैक रूप शान्त रस' होता है -

'अस्य च शान्त अहंकारप्रशमैकरूपतया स्थितेः'

लोचनकार 'अहंकारप्रशमैक' रूप के लिए 'निवृत्ति' पद प्रयुक्त करते हैं । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुवर्ती हेमचन्द्र - आनन्दवर्धन के -'तृष्णाक्षय' को शम के समान कहते हैं -

'तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावः चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः'

सर्वचित्तवृत्तिप्रशम -

कुछ लोग तृष्णाक्षयसुख को न मानकर, समस्त चित्तवृत्तियों के प्रशम को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानते हैं । अभिनवगुप्त कहते हैं कि समस्त चित्तवृत्तियों के प्रशम का अर्थ सभी चित्तवृत्तियों का विरोधी चित्तवृत्तिविशेष है।[2]

१- लो० पृ० ३९० ।

२- अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते ।तदयुक्तम्,भावस्य प्रशमवृत्तिनिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् । पर्युदासे तु अस्मत्पक्ष एवायम् ।(लो० पृ० ३९०)

निर्विशेष चित्तवृत्ति -

कुछ लोग केवल शान्त को मानते हुए कहते हैं - भाव अपना निमित्त पाकर शान्त से प्रवृत्त होता है, परन्तु निमित्त के अभाव होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाता है -

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥[1]

इस प्रकार कतिपय आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के इस वाक्य को प्रमाणार्थ उद्धृत करते हुए, सभी रस का सामान्य स्वभाव शान्त को कहते हुए 'अनुपजातविशेषान्तरचित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायिभाव कहते हैं ।[2]

अभिनवगुप्त का मत है कि तृष्णाक्षय से 'अनुपजातविशेषान्तरचित्तवृत्ति' में अधिक का अन्तर है । 'अनुपजातविशेषान्तरचित्तवृत्ति' - तृष्णा का प्रागभाव है और तृष्णाक्षय तृष्णा का प्रध्वंसाभाव है । फिर भी अभिनवगुप्त इस मत के लिए कहते हैं -

'एतच्च नातीवास्मत्पक्षाद् दूरम्'। किन्तु साथ ही प्रध्वंसाभाव के प्रति ही उनका आग्रह है - 'युक्तस्तु प्रध्वंस एव तृष्णानाम्'।[3]

निर्वेद -

कतिपय विद्वान् 'निर्वेद' को ही शान्त रस का स्थायीभाव मानते हुए कहते हैं - तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रस का स्थायीभाव है । जैसा कि आचार्य भरत सप्तम अध्याय में कहते हैं -

'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजन-वियोगतत्त्वज्ञानादिभिः विभावैः उत्पद्यते'।[4]

१- लो० पृ० ३८१
२- इति भरतवाक्यं पठन्तः सर्वरससामान्यस्वभावं शान्तमाचक्षाणा अनुपजातविशेषान्तरं चित्तवृत्तिरूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते । लो० ३८१
३- लो० पृ० ३८१
४- अभिना० - गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज भाग-२ पृ० ३५७

आचार्य भरत निर्वेद के अनेक कारण दे रहे हैं, किन्तु इन सब में प्रमुख एवं श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान है। किन्तु यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि निर्वेद की गणना तो आचार्य भरत ने व्यभिचारिभावों में की है, तब यह कैसे व्यभिचारिभाव, और स्थायीभाव दोनों होगा ? इसका समाधान यह हो सकता है कि दारिद्र्य या इष्टजन के वियोगादि से उत्पन्न निर्वेद व्यभिचारिभाव होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायीभाव होता है। जैसा शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में कहा है -

स्थायी स्यादिविषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि ।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ ॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद, न केवल दारिद्र्यादि से उत्पन्न निर्वेद से श्रेष्ठ होता है, अपितु अन्य सभी स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों से उत्तम होता है। जैसा कि निर्वेद के प्रसंग में अभिनवगुप्त कहते हैं -

'तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भावेष्वपि सहिष्णुत्वो रित्यादिभ्यः सः परमः स्थायिभावः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः'[1]।

और यही तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव और मोक्ष का साधन है। इसी से भरत मुनि ने व्यभिचारिभावों में इसको सब से पहले स्थान दिया है। यदि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद, दारिद्र्य जन्य निर्वेद से भिन्न और मोक्ष का साधन न होता तो मंगल की कामना करने वाले भरतमुनि व्यभिचारिभावों के आरम्भ में निर्वेद को नहीं रखते।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि निर्वेद तो अन्य रसों में व्यभिचारिभाव माना गया है और भरतमुनि ने स्वयं भी व्यभिचारिभावों में ही उसकी गणना की है तब उसे स्थायिभाव कैसे कह सकते हैं ?

इसका समाधान 'निर्वेद' समर्थक आचार्यगण इस प्रकार देते हैं - एक रस का स्थायिभाव दूसरे रस में व्यभिचारिभाव हो सकता है, इस तथ्य को तो भरत मुनि ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है कि शृंगार रस में जुगुप्सा को व्यभिचारिभाव के रूप में अङ्कित नहीं करना चाहिए। अन्यथा जुगुप्सा का शृङ्गार रस

१- अभि० भा० गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज भाग-२ पृ० ३३४

में व्यभिचारिभाव के रूप में निर्वेद कहना संगत नहीं होता । इसलिए निर्वेद को व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव दोनों मानने में कोई हानि नहीं है । अतः तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव है ।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं, वे तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्त-रस का स्थायिभाव नहीं मानते । क्योंकि ऐसा मानने पर तो एकमात्र तत्त्वज्ञान ही उसका कारण होगा । और तत्त्वज्ञान वैराग्य का कारण या बीज है । तब वैराग्य के मूलभूत तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है । उसमें परम्पराश्रित कारण मानकर यदि विभावरूप व्यवहार किया जाएगा, तब उसमें अति-व्याप्ति दोष आएगा । अतः तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को स्थायिभाव नहीं मानना चाहिए ।

दूसरा तर्क यह है कि समस्त विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि रूप 'निर्वेद' ही वैराग्य का उपाय है । विरक्त पुरुष यह यत्न करता है कि उसे तत्त्वज्ञान हो जाय । क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है । अतः पहले वैराग्य(निर्वेद) होता है, फिर तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञान से मोक्ष । न कि पहले तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके बाद वैराग्य या निर्वेद, और निर्वेद से मोक्ष । क्योंकि निर्वेद या वैराग्य -तत्त्वज्ञान का कारण होता है, कार्य नहीं । अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शान्त रस का स्थायिभाव कहना संगत नहीं है ।

ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है कि 'वैराग्य' से ही मोक्ष नहीं मिलता । केवल जिस साधक को वैराग्य से तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे ही मोक्ष मिलता है । और जिसे वैराग्य से तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, वह प्रकृतिलीन अवस्था को प्राप्त होता है । इसीलिए सांख्य में तत्त्वज्ञान से रहित केवल वैराग्य को 'प्रकृतिलय' का कारण बतलाया है ।

इस पर तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानने वाला पूर्वपक्षी फिर शंका करता है कि -

तत्त्वज्ञानी को अधिक दृढ़तर वैराग्य होता देखा जाता है । जैसा कि पतंजलि मुनि ने योगसूत्र में कहा भी है[2] । तत्त्वज्ञान हो जाने पर गुणों के प्रति भी वैतृष्ण्य

१- वैराग्यात् प्रकृतिलयः - सांख्य कारिका ४५ ।

२- तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् - योगसूत्र १।१६ ।

का भाव होता है वह 'परं वैराग्य' कहलाता है । अत: तत्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं है ।

इस पर कहते हैं[1] - 'यह ठीक है , किन्तु इस प्रकार का वैराग्य तो ज्ञान की चरम अवस्था है । और तत्वज्ञान की श्रृंखला द्वारा परिपोषित होने वाला तत्वज्ञान ही यह परं वैराग्य होता है । इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नहीं है । अपितु तत्वज्ञान ही शान्त रस का स्थायिभाव है'।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में जो तत्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति की बात कही है , वह उन्होंने शान्त रस और स्थायिभाव की दृष्टि से नहीं कही है, वरन् वह सामान्यत: व्यभिचारिभाव रूप निर्वेद को कहा है । और चिरकाल तक प्राप्ति के कारण विषयोपभोगादि की उपादेय बुद्धि को दूर करने के लिए ही निर्वेद के कारण को तत्वज्ञान कहा है । जैसे - 'वृथा दुग्धोऽनड्वान्' इत्यादि में मोक्ष के साधक निर्वेद के प्रति नहीं अपितु खेद रूप निर्वेद के विभाव रूप में ही कहा है । अत: तत्वज्ञान जन्य निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव मानना अनुचित है ।

इस पर तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानने वाला फिर कहता है कि न्यायदर्शन में अक्षपाद (गौतम मुनि) के 'दु:खजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:' इस सूत्र के आधार पर तत्वज्ञान को वैराग्य का कारण सिद्ध करने का यत्न किया गया है । (इस सूत्र का अर्थ है - तत्वज्ञान के पूर्व मिथ्याज्ञान का नाश होता है , उस मिथ्या ज्ञान के नाश होने से राग-द्वेष आदि दोषों का नाश होता है । उसके बाद कर्म प्रवृत्ति अर्थात् धर्म-अधर्म का नाश होता है और उससे जन्म का नाश होने पर दु:ख का नाश होता है ।) अत: तत्वज्ञान से पूर्व मिथ्याज्ञान नाश और उससे जो दोष का नाश कहा है - इसी से तत्वज्ञान को वैराग्य का कारण माना जा सकता है । क्योंकि

१- तत्त्वेन तु प्राप्तं तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा काष्ठा इति पूर्वाभिमुखैर्वक्ताभ्य-भाणि। (अभिनवभारती) ।

मिथ्याज्ञान का नाश रूप तत्त्वज्ञान है और दोष नाश रूप वैराग्य है । अतः तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण मानना सर्वथा उचित ही है । इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं आता ।

इनके अनुसार वैराग्य ही 'निर्वेद' है ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी कहता है कि वैराग्य और निर्वेद सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं । क्योंकि शोक प्रवाह के प्रसार रूप चित्तवृत्ति विशेष का नाम निर्वेद है, वह भाव रूप है और वैराग्य तो रागादि का प्रध्वंस रूप है । अतः दोनों भिन्न हैं ।

अथवा यदि वैराग्य को ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो मिथ्याज्ञान के नाश से उत्पन्न उस दोषाभाव रूप वैराग्य को मोक्ष रूप फल की सिद्धि में प्रत्यासन्नता अर्थात् साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है ।

और दूसरा दोष यह आता है कि तत्त्वज्ञान से, निर्वेद की उत्पत्ति होती है ऐसा कहने पर 'शम' की ही दूसरी संज्ञा निर्वेद हो जाती है । अतः निर्वेद के स्थान पर शम को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए ।

यहाँ यह दोष हुआ कि शम और शान्त तो पर्याय हैं । इस पर कहते हैं कि जैसे हास को अपने समानार्थक हास्य का स्थायीभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है, उसी प्रकार शम को उसके समानार्थक शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । अतः निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव नहीं अपितु शम ही शान्त रस का स्थायिभाव है ।

रत्यादि आठों में से कोई भी शान्त रस का स्थायिभाव

कुछ लोगों का मत है कि विलक्षण रत्यादि आठ प्रकार की चित्तवृत्ति-विशेष (स्थायिभाव), शान्त रस के स्थायिभाव [illegible] हो सकते हैं । अर्थात् स्त्री पुरुषादि रूप विभावों से परिपोषित रति जहाँ शृंगार रस की जनक होती है वहाँ अध्यात्म चर्चा आदि जैसे विभावों से परिपोषित होकर वही रति शान्त रस की जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहले कहे हुए विभावों के बजाय श्रुतादि रूप अन्य विभावों के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति के जनक भी हो सकते हैं । इसलिए उन आठों स्थायीभावों में से कोई एक शान्त रस में स्थायिभाव हो सकता है ।

अतः इस मत से उनके आचार्यों के अनुसार रत्यादि आठों स्थायिभावों का एक रूप अपने अपने मुख्य रस की अनुभूति में काम आता है और दूसरा रूप मोक्ष सिद्धि में उपयोगी होता है अपने इस मत के समर्थन के लिए उन्होंने भरत मुनि को भी रत्यादि के द्विविध स्वरूप का समर्थक सिद्ध करने का यत्न किया है।[1]

इस उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि रत्यादि आठों रसों के स्थायिभाव को शान्तरस का स्थायिभाव मानने पर कभी रति, कभी शोकादि को शान्त रस का स्थायिभाव होना होगा, ऐसा होने पर किसी एक के स्थायिभाव होने पर, दूसरे के स्थायिभावत्व का खण्डन हो जायगा। उपायों के भेद के कारण रति शोकादि का शान्त रस में स्थायिभावत्व कहना अनुचित है। क्योंकि प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न स्थायिभाव मानने पर, शान्त रस के भी अनन्त भेद होने लगेंगे। इस दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि -

स्थायिभावों में भेद रहने पर भी, एक मोक्ष रूप फल के होने पर, रस अभिन्न ही रहेंगे - तब तो वीर और रौद्र रस का भी एक मोक्ष रूप अभिन्न फल होने से उनका भी अभेद हो जायगा। जो ठीक नहीं। अतः रत्यादि आठों में से कोई भी एक शान्त रस का स्थायिभाव हो सकता है यह मत असंगत है।

रत्यादि की समष्टि-शान्त-रस का स्थायिभाव-

इसके बाद एक दूसरा मत रखते हैं कि रत्यादि समस्त स्थायिभावों की समष्टि को शान्त रस का स्थायिभाव कह सकते हैं। जैसे ठण्डाई आदि पानक द्रव्यों का स्वाद मिल कर एक विचित्र आस्वाद को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शान्त रस में रत्यादि समस्त स्थायिभाव पानक-रस-न्याय से मिलकर एक विचित्र प्रकार के शान्त रस के आस्वाद के जनक होते हैं।

इस मत का भी खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं - कि रत्यादि विषयक अनेक चित्तवृत्तियों का एक साथ होना सम्भव नहीं है तथा हास और क्रोध, वीर

१- न चैतन्मुनेर्न सम्मतम्। यावदेव हि विशिष्टान् भावान् परिगणयति रत्यादि शब्देन चशब्देन च तत्प्रकारानेव अन्यान् संगृह्णीते, तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिक हेतुकत्वानां रत्यादीनामनुजानात्येव अपवर्गविषयत्वम्। अभि०भा० -६.२१

और भयानक आदि चित्तवृत्तियों में एक दूसरे की विरोध होने से यह मत ठीक नहीं है ।

सिद्धान्तपक्ष- तत्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मा-

उपर्युक्त समस्त मतों का खण्डन हो जाने पर अभिनवगुप्त अपने मत की स्थापना करते हुए कहते हैं - शान्त रस का स्थायिभाव, तत्वज्ञान है । वही मोक्ष का साधन है अत: तत्वज्ञान ही उसका स्थायी भाव है । और तत्वज्ञान, आत्मज्ञान का ही नाम है । और इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है । आत्मा का ज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार अथवा तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायिभाव है । उसके बाद पुन: अभिनवगुप्त कहते हैं - ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित, विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्तरस का स्थायिभाव है ।

अन्य रसों में आत्मा का स्थायीभावत्व नहीं होता क्योंकि अन्य रसों की स्थिति में उस प्रकार का आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता है जैसा शान्तरस की स्थिति में होता है । योगशास्त्र के अनुसार केवल समाधिकाल में आत्मा का साक्षात्कार होता है, समाधि की स्थिति को छोड़कर अन्य रसों में या व्युत्थानकाल में वृत्ति अनुरूप रूप में आत्मा का ज्ञान होता है ।अत: रत्यादि के अनुभव काल में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता है । इसलिए वहां 'आत्मा' को स्थायीभाव माना कहकहकेहक जा सकता । यदि वहां आत्मा का साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादि का पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अत: केवल शान्तरस में ही 'आत्मा' को स्थायीभाव माना गया है ।

रत्यादि के आस्वाद की अपेक्षा शान्तरस के आस्वाद के विलक्षण होने के कारण उसकी पृथक् गणना की गई है । लोक में आत्मा के स्वरूप की प्रतीति केवल शान्त रस में ही पृथक् रूप से होती है अर्थात् लौकिक अनुभवों के काल में चित्तवृत्तियों का साहचर्य होने से विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती है ।

१- तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयभोगरहितोऽत्र स्थायी।
(अभिनवभारती पृ० ६२१ ।)

निर्विकल्प समाधि काल में विशुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति होती है, परन्तु व्युत्थान काल में (समाधि से उठने पर) फिर वृत्ति सारूप्य अर्थात् चित्तवृत्तियों से अनुरंजित रूप में ही आत्मा की प्रतीति होती है । वृत्तिशून्य रूप में अलग प्रतीति नहीं होती है ,इसलिए स्थायीभाव के रूप में आत्मा की गणना अलग नहीं की गई है । किन्तु शान्तरस में आत्मा की पृथक् प्रतीति होती है । अत: शान्त रस अलग माना गया है ।

आत्मा को शान्तरस का स्थायीभाव मानने वाले आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि उस 'आत्मा' का शम या निर्वेद शब्द से व्यपदेश किया जाय, तो कोई आपत्ति नहीं[1] । आत्मा का स्वरूप तत्त्वज्ञान या ज्ञाता रूप है । किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि 'शम' या 'निर्वेद' चित्तवृत्ति मात्र है, अत: आत्मा ही शान्तरस का स्थायीभाव है ।[2]

१- यदि तु स एव शम शब्देन व्यपदिश्यते निर्वेद शब्देन वा तन्न कश्चिद् बाधः
(अभिनवभारती पृ० ६२६)

२- यहाँ एक तथ्य अवधेय है कि अभिनवगुप्त आत्मा को शान्तरस का स्थायीभाव कैसे कह रहे हैं ? क्योंकि किसी भी रस का स्थायीभाव कोई भाव ही हो सकता है । आत्मा तो भाव नहीं है । यद्यपि साथ ही अभिनवगुप्त बड़ी कुशलता से यह भी कहते हैं कि - आत्मा को शम या निर्वेद से व्यपदेश करने से कोई हानि नहीं है ।तथापि आत्मा को शम और निर्वेद के समानान्तर मानना उचित नहीं है ।

यदि अभिनवगुप्त,आनन्दवर्धन के शान्तरस के स्थायी भाव को ठीक से समझ लेते तो प्रस्तुत स्थल पर कोई न्यूनता नहीं रहती । आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' को शान्त का स्थायीभाव माना है । समस्त तृष्णाएं आत्मा के ही कारण होती हैं । निर्जीव शरीर में, जिसमें आत्मतत्त्व ही नहीं होगा,उसमें तृष्णाओं का अभाव होगा ही । अत: तृष्णाओं का मूल आत्मा है । तृष्णाओं का जब नाश हो जाता है तब आत्मा ही शेष रह जाती है । इस आत्मा के प्रति जो सुखमयी भावना है, वही है शान्तरस का स्थायीभाव । इसे चाहे आत्मरति कहें या आत्मानन्द या आत्मसुख - इनमें से आत्मरति सर्वाधिक सटीक होगा । यही आनन्दवर्धन के शब्दों में -'तृष्णाक्षयसुख' है । सुख का पर्याय रति भी है । अत: यदि अभिनवगुप्त केवल आत्मा को स्थायीभाव कहने के स्थानपर आत्मरति को ही शान्तरस का स्थायीभाव कह देते तो उनके ऊपर आक्षेप का कोई अवसर नहीं आत

अभिनवगुप्त ने शान्तरस का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है :-

ईश्वरानुग्रह आदि शान्तरस के 'विभाव' होते हैं, यम, नियम[1] 'अनुभाव' और लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियों का समुदाय 'व्यभिचारिभाव' है तत्त्वज्ञान रूप 'स्थायीभाव'- शान्तरस कहलाता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि आठ रसों के अतिरिक्त नवाँ शान्तरस भी है । उसकी पृथक् गणना न करने का कारण अभिनवगुप्त बताते हैं - शान्तरस सब रसों में समान रूप से रहता है । सभी रस शान्त से उत्पन्न होते हैं और अन्त में शान्त में ही उनका लय होता है । सभी रसों का आस्वाद प्रायः शान्त के रूप में ही होता है । अन्तर मात्र इतना है कि अन्य रसों की प्रधानता होने के कारण शान्त अन्य वासनाओं[2] से उपहित रहता है । किन्तु, सब रसों के मूल में शान्त रस ही रहता है । इसके प्रमाणार्थ अभिनवगुप्त अपने गुरु भी उत्पलाचार्य के प्रत्यभिज्ञादर्शन से एक श्लोक उद्धृत करते हैं -

अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ।। इति

अतः मोक्ष की प्राप्ति के कारण प्रवृत्त, तत्त्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस् रूप फल से युक्त-शान्तरस को स्वीकार करना चाहिए ।

समीक्षा -

यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से अवधेय है कि अभिनवगुप्त शान्तरस को रसराज मान[3] रहे हैं, तथा सभी रसों का उद्भव और लय भी शान्तरस को बता रहे हैं । इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य है । शान्त रस का प्राधान्य प्रतिपादित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

---

१- यम-अहिंसा,सत्य,अस्तेय,ब्रह्मचर्य,अपरिग्रह ।
नियम- शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय,ईश्वरप्रणिधान ।योगसूत्र-२/३२-३३

२-अभिनवभारती पृ० ६३६-६३७

३- स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।। -लो० पृ० ३६१

(१) मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः[1]

(२) तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो[2]

इस कथन के पीछे, अभिनवगुप्त के स्वभाव में निहित कुछ दार्शनिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि हो रही है। क्योंकि यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि अभिनवगुप्त शैव दर्शन के मूर्धन्य आचार्य हैं। अतः उनके रस-सिद्धान्त का दार्शनिक भावों से प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। उनके काव्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का संयुक्त समन्वय 'रस स्वरूप विवेचन' में पूर्ण परिपक्व अवस्था पर हुआ है। अभिनवगुप्त के अनुसार रस का अर्थ है - 'निर्विघ्न आत्म प्रतीति' और यही शम की परिभाषा है। अतः प्रत्येक रस का पर्यवसान शान्त में होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अभिनवगुप्त का आनन्दवाद आत्मा की इस निर्विघ्न प्रतीति को सहज आनन्दरूप मानता है। वस्तुतः अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर, - 'भावाः विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः'। इस पर विप्रतिपत्ति का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता।

इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त शान्त रस को रसराज मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष रूप फल देने वाला शान्तरस सब रसों में प्रधान है। किन्तु रस की प्रधानता के विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में वैमत्य दिखाई पड़ता है। क्योंकि अभिनवगुप्त लोचन में 'शान्त' को प्रधान रस मान रहे हैं। जब कि आनन्दवर्धन ने 'शृंगार-रस' को प्रधान कहा है।[3]

शृंगार रस में विरोध-अविरोध का निरूपण-

ध्व० ३।३० में शृंगार विरुद्ध रस में उसके अंगों का स्पर्श दूषित नहीं होता - इस तथ्य का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- लो० पृ० ३७४

२- अभिनवभारती पृ० ६३५

३- शृंगाररसः..... सर्वरसेभ्यः...... प्रधानभूतः - ध्व० पृ० ३६७

शृंगार के विरुद्ध रसों में, शृंगार के अंगों का जो स्पर्श है, वह न केवल अविरुद्ध उपकरणों का योग होने पर अनुचित रहता है, बल्कि शिष्यों को उन्मुख करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए उपनिबन्धित किया जाने पर भी दूषित नहीं होता।[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त कारिका में 'वा' पद का प्रयोग 'अथवा' अर्थ में किया है। और दो तथ्यों को पृथक्-पृथक् कहा है - (१) शिष्यों को उन्मुख करने के लिए, अथवा (२) काव्य शोभा के लिए। इन दोनों को अलग-अलग वृत्ति में स्पष्ट भी किया है -

(१) 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'शृंगाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनेयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता'।[2]

(२) 'काव्यशोभार्थं' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'किं च शृंगारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्तदंगसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्णातीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृंगाराङ्गसमावेशो न विरोधी'।[3]

किन्तु अभिनवगुप्त 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं और काव्यशोभार्थं' को पृथक् पृथक् न मान कर दोनों को मिलाकर इस प्रकार अर्थ करते हैं - शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है इत्यादि। और 'वा' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं -

'वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते। तदेव व्याचष्टे - न केवलमिति। वाशब्दस्यैतद्व्याख्यानम्। -------- विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थमपि वा विरुद्धसमावेशः न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते, व्यवधानाव्यवधाने नापि लभ्येते यथान्यैर्व्याख्याते।' इति[4]

१- ध्व० ३।३०

२- वही पृ० ३९८-३९९

३- वही पृ० ३९९

४- लो० पृ० ३९८

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मन्तव्य को उस रूप में व्याकृत नहीं किया जिस अभिप्राय से आनन्दवर्धन ने उसे यहां रखा था । अत: अभिनव का ३।३० की लोचन व्याख्या आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करती । अभिनवगुप्त ने उसे अपनी ही फांक में कुछ अटपटे ढंग से प्रस्तुत किया है ।

काकु से अर्थान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूतव्यंग्यत्व -

आनन्दवर्धन ने काकु का विवेचन ध्व०३।३८वीं कारिका में किया है ।[१] आनन्दवर्धन काकु को गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत मानते हैं । क्योंकि काकु से जो अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है, उसमें व्यंग्य अर्थ का गुणिभाव हो जाता है । और, यह सिद्धान्त है कि 'व्यंग्य से विशिष्ट वाच्य का प्रधान रूप से अभिधान करने वाला काव्य गुणीभूतव्यंग्य है ।'

तदनन्तर, गुणीभाव को दिखाने के लिए शब्द की स्पष्टता को सिद्ध करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि [२] 'अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु काकुमात्र ही नहीं है । वरन् शब्दशक्ति अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति कराती है । और वह अर्थ सामर्थ्य से प्राप्त होता है, इस लिए व्यंग्य रूप ही है । किन्तु जब उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति, वाचकत्व के अनुगमन से होती है, तब उस प्रकार के व्यंग्य अर्थ का द्योतन करने वाले काव्य को गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है'। इसका उदाहरण देते हैं -

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

वेणीसंहार का सूत्रधार कहता है 'धृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हों'। इसे सुनकर भीमसेन क्रुद्ध होकर कहता है - 'मेरे जीते जी धृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हो सकते हैं ?' भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता। उसके इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने पर्याप्त अत्याचा

१- अर्थान्तरगति: काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ।। ध्व० ३।३८

२- द्र० ध्व०पृ० ४७७-४८० ।

किए हैं। किन्तु ये सब अर्थ स्पष्टत: काकु स्वर से निकल रहे हैं। अत: यहाँ गुणीभूतव्यंग्य है।

आनन्दवर्धन ने साकांक्ष और निराकांक्ष काकु का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु, अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर लोचन में साकांक्ष और निराकांक्ष काकु के दो भेद माने हैं। और आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत उदाहरणों की व्याख्या के लिए साकांक्ष और निराकांक्ष काकु का प्रयोग भी किया है।

अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'अन्ये त्वाहु: - व्यंग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकार: अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्वमेवेति। तच्चासत्, काकुयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यंग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्, काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मस्तेन स्पृष्टं 'वोऽर्थं भवित: क्लेशम्' इति 'सन्तोषाभिप्रायकम्' इतिवच्छब्दैनैवानुगृहीतम्।'[1,2]

यहाँ अभिनवगुप्त दो बातें बताना चाह रहे हैं -

(१) पहला तथ्य यह है कि जो आचार्य यह मानते हैं कि काकु के व्यंग्य का गुणीभाव होने पर ही गुणीभूतव्यंग्य होता है अन्यथा व्यंग्य का गुणीभाव न होने पर काकु में ध्वनित्व भी सम्भव है - यह मत ठीक नहीं।

(२) दूसरा तथ्य यह है कि काकु केवल शब्द का ही धर्म है।

(१) यहाँ अभिनवगुप्त अन्ये, किसके लिए कह रहे हैं? उन्होंने किसी का नामोल्लेख नहीं किया है सम्भवत: पूर्व के चन्द्रिकादि टीकाकारों का ही मत रहा होगा। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी काकु का उल्लेख केवल गुणीभूत गुणीभूतव्यंग्य के ही अन्तर्गत किया है।

आचार्य मम्मट काकु को आर्थी व्यंजना के अन्तर्गत भी मानते हैं और गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत भी। 'तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि'[3] इत्यादि उदाहरण को काकु के कारण हुई अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण माना है।

१-लो० पृ० ४७७ २- लो० पृ० ४७८

३- का०प्र० पृ० ८२

तदनन्तर वृत्ति में लिखते हैं - 'यहाँ मेरे ऊपर रोष करना उचित नहीं है।

कौरवों पर रोष करना उचित है, यह काकु से प्रकाशित होता है। यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यह 'काकु' - वाच्य की सिद्धि का अंग है। इसलिए गुणीभूतव्यंग्य काव्य है।' क्योंकि, यहाँ प्रश्नमात्र में ही काकु की विश्रान्ति हो जाती है। इससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता।[1]

गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत काक्वाक्षिप्त का उदाहरण - 'मथ्नामि कौरवशतं-समरे न कोपात्' दिया है।[2]

यहाँ शंका होती है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने भी मम्मटाचार्य की ही तरह काकु को ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत आर्थी व्यंजना क्यों नहीं कहा? केवल गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के ही अन्तर्गत माना?

(२) यद्यपि आनन्दवर्धन ने काकु का उल्लेख केवल गुणीभूतव्यंग्य के ही अन्तर्गत किया है किन्तु उसे केवल शब्द का ही धर्म नहीं कहा है वरन् शब्द व्यापार से उपारूढ़ होकर भी अर्थविशेषरूप शब्द कहा है।[3] किन्तु अभिनवगुप्त - काकु को शब्द का ही धर्म मानते हुए कहते हैं - 'काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धर्मः'।[4]

ध्वनि-सम्मिश्रण - व्यंग्य अर्थ के प्रधान और गुणीभाव के कारण काव्य दो प्रकार होते हैं - ध्वनिकाव्य, और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य। किन्तु कभी-कभी वह ध्वनि अपने प्रभेदों से, गुणीभूतव्यंग्य से और वाच्य अलंकारों से संकर और संसृष्टि रूपेण व्यवस्थित होने पर लक्ष्य में बहुत प्रभेदों वाला देखा जाता है।[5]

यथा- ध्वनि अपने प्रभेद से संकीर्ण, और अपने प्रभेद से संसृष्ट, गुणीभूतव्यंग्य से संकीर्ण, गुणीभूतव्यंग्य से संसृष्ट, वाच्य अलंकारान्तर से संकीर्ण, वाच्य अलंकारान्तर से संसृष्ट, संसृष्ट अलंकार से संकीर्ण और संसृष्ट अलंकार से संसृष्ट-[6] इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

१- का०प्र० पृ० ८४-८५ २- का०प्र० पृ० २१०

३- तथार्हि: काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽर्थविशेषप्रतिपत्त्य इति व्यंग्य एव। ध्व० पृ० ४७६

४-लो० पृ० ४७८ ५- ध्व०पृ० ५०१ ६- वही पृ० ५०४

यहाँ पर उन्हीं भेदों का उल्लेख करेंगे, जिनमें अभिनवगुप्त ने कुछ नया चमत्कार दिखाया होगा।

<u>गुणीभूतव्यंग्यसंकीर्णत्व -</u>

आनन्दवर्धन ने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण का उदाहरण दिया है -

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्यांगराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥[1]

यहाँ 'वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यंग्य' की 'व्यंग्यविशिष्ट वाच्य' का अभिधान करने वाले पदों के साथ सम्मिश्रणता है। और इसीलिए गुणीभूतव्यंग्य के पदाश्रित होने में और ध्वनि के वाक्याश्रित होने में संकीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की भाँति विरोध नहीं है।[2]

अभिनवगुप्त ने इस पद्य में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण पर और भी अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। और कहा है - दोनों उदाहरणों - 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि में और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इत्यादि में, अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से, सन्देहयोग से और एक व्यंजकानुप्रवेश से यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिए।[3]

<u>वाच्यालंकार संकीर्णत्व-</u>

ध्वनि का वाच्य अलंकारों से जो मिश्रण होता है वह अलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उन उदाहरणों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रकट है जिनमें रस भी रहता है और अलंकार भी। जैसे आनन्दवर्धन का निम्नलिखित पद्य -

---

१- ध्व० पृ० ५०४
२- ध्व० पृ० ५०५
३- सा चानुग्राह्यानुग्राहकभावेन सन्देहयोगेनैकव्यंजकानुप्रवेशेन चेति यथासम्भवमुदाहरणद्वये योज्या। लोचन पृ० ५०५
४- ध्व० पृ० ५०७-५०८ ।

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा

दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं

श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ।।[1]

यहाँ विरोधालंकार से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य(नामक) ध्वनि के प्रभेद का संकर है ।

अभिनवगुप्त ने[2] इस पद्य के प्रत्येक पद का मूल्य आंक कर दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है ।

<u>वाच्यालंकारसंसृष्टत्व-</u>

वाच्यालंकार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है । क्योंकि इसमें कुछ पद वाच्य अलंकार युक्त होते हैं और कुछ ध्वनि प्रभेदयुक्त ।[3] यथा -

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां

प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः

शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।।

यहाँ 'मैत्री' पद में अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । क्योंकि मैत्री पद लाक्षणिक पद है । उसका अर्थ है मित्रता । यह चेतन का धर्म है । पवन जड़ है । अतः यह धर्म पवन में असम्भव होने के कारण उसे इस अर्थ को छोड़ना पड़ता है और मात्र सम्पर्क रूपी दूसरा अर्थ अपनाना होता है । फलतः मैत्री पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का व्यंजक है । दूसरे पवन को प्रत्यक्षतः प्रियतम की उपमा दे दी गई है । अतः यहाँ अन्य अलंकार भी सम्भव हैं । यहाँ एक ओर ध्वनि है दूसरी ओर अलंकार हैं । इसी कारण यह वाच्यालंकार और ध्वनि

१- ध्वन्या० पृ० ५०७-५०८ २- तदर्थ द्रष्टव्य लो० पृ० ५०८-५१०

३- ध्वन्या० पृ० ५१०-५११

की संसृष्टि का रूप है ।

अभिनवगुप्त ने इस पद्य की अत्यन्त विस्तार से व्याख्या की है और इसमें उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपकोपमा को भी मूल से स्वीकार किया है ।[1]

ध्वनि संसृष्टालंकार मिश्रण -

यथा-

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
सोहइ पसारिअगिवाणं णच्चिअं मोरवन्दाणं ।।

'लोचन' के अनुसार इसकी संस्कृत छाया दो प्रकार की होगी -[2]

(१) अभिनव-प्रयोग-रसिकेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु ।
शोभते प्रसारितग्रीवाणां नर्तनं मयूरवृन्दानाम् ।।

इन अभिनय के प्रयोग से सरस दिनों में जब पथिक जन सामाजिक का कार्य करते हैं तो मयूरों की टोलियों का ग्रीवा फैला फैला कर नृत्य करना बड़ा ही सुहावना लगता है ।

(२) अभिनव-पयोद - रसितेषु पथिक-श्यामायितेषु दिवसेषु ।
शोभते प्रसारितगीतानां नर्तनं मयूरवृन्दानाम् ।।

नए-नए बादलों की गड़गड़ाहट से भरे (अतएव) पथिकों के लिए श्यामा रात्रि का कार्य कर रहे इन दिनों में मयूरों की टोलियों का जोर-जोर से गाकर नाचना बड़ा ही सुहावना लग रहा है ।

यहां पथिकों पर सामाजिक का आरोप 'रूपक' को बता रहा है तथा पथिकों के लिए दिवसों का श्यामा रात्रि के समान आचरण करना उपमालंकार को । इसी प्रकार 'गिवाणं' पद -'ग्रीवा' तथा 'गीत' - इन दो अर्थों को दे रहा है , इसमें श्लेष है । तथा प्राकृत शब्दों -'अहिणअ' और 'रसिएसु' में क्रमशः अभिनय एवं अभिनव तथा रसिकेषु एवं रसितेषु शब्द गुंथे हुए हैं ।

१- वही पृ० ५२५-५२६ २- ध्व० लो० पृ० ५२५-५२६ ।

इसमें भी श्लेष है । इस कारण उनसे निकलते एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोप भी हो रहा है । फलत: इसमें एक रूपक की प्रतिष्ठा मिल रही है । इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में उपमा भी है और रूपक भी है । आनन्दवर्धन इन दोनों अलंकारों में परस्परनिरपेक्षता देखते हैं । अत: वे इसे संसृष्टि का रूप स्वीकार करते हैं ।[1] इनसे मयूर और मर्कटों का साम्य अनुरणनरूप व्यंग्यार्थ के रूप में प्रकट हो रहा है और पोषण भी पा रहा है । फलत: यहां ध्वनि को संसृष्ट अलंकारों से संसृष्ट मानना होगा ।

अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत पद्य में संकीर्णालंकारसंकीर्णत्व और संकीर्णालंकारसंसृष्टत्व माना है अर्थात् लोचनकार के अनुसार यहां पथिक सामासिक और पथिक-श्यामायित-शब्दों को देने वाले पथिकश्यामायतेषु शब्द में उपमा और रूपक का सन्देहसंकर है । इसी प्रकार इसी अंश को लेकर 'अविच्छिन्नपयोद' से जो अर्थ व्यक्त हो रहा है, वह इन दोनों के सन्देहसंकर से संकीर्ण है । फलत: यह संकीर्णालंकारसंकीर्ण ध्वनि का रूप है ।

तदनन्तर, अभिनवगुप्त संकीर्णालंकारसंसृष्टत्व प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक अस्पष्ट एवं उलझा हुआ विवेचन करते हैं -

'अभिनयप्रयोगरसिक' तथा 'अभिनवपयोदरसित' शब्दों का 'अविच्छिन्नपयोदरसितेषु' श्लेष से उपस्थित हो रहा है तथा प्रवासिजनीतानां एवं प्रवासिक्रीडायाणां का 'पक्षारि-अभिधान' शब्द से उत्पन्न हो रहा है, इन दोनों अर्थों में संसर्गमात्र है, अनुग्राह्यानुग्राहक भाव नहीं । 'पथिकश्यामायतेषु' इस पद में संकीर्ण इन उपमा और रूपक से शब्दशक्तिमूल ध्वनि का संकर एकव्यंजकानुप्रवेश से है । इस प्रकार, संकीर्णालंकार संसृष्ट और संकीर्ण से संकीर्ण है । अस्तु इन दोनों भेदों को भी स्वीकारना चाहिए।

यहां 'श्यामायतेषु' आदि पद शब्दपरिवृत्ति असहत्व हैं अत: इन्हें शब्दशक्तिमूलक मानना होगा ।

१- डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने यहां समासोक्ति अलंकार सुझाया है । और कहा है - वस्तुत: यहां समासोक्ति अलंकार है । मयूरवृन्द इस विशेष्यवाचक पद में श्लेष नहीं है । शेष सभी पदों में श्लेष है । फलत: अभिनय का मयूर-नृत्य पर आरोप प्रतीत होता है । आनन्दवर्धन पृ० २२५ ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि की स्थिति मिश्रित भी रहती है। इस प्रकार ध्वनि के भेद-प्रभेद असंख्य हैं, गणनातीत हैं।

ध्वनि भेद संख्या -

जहाँ तक ध्वनि के भेदों की संख्या का प्रश्न है आनन्दवर्धन केवल इतना कहते हैं :

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥[1]

किन्तु अभिनवगुप्त बड़े यत्न से ध्वनि भेदों की गणना करते हुए लिखते हैं-
ध्वनि के अपने भेदों के साथ, गुणीभूतव्यंग्य के साथ, अलंकारों के साथ प्रकाशित होता है, यह तीन भेद हुए। संकर के भी तीन प्रकार हैं - अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से, सन्देहास्पद होने से और एकव्यञ्जकानुप्रवेश से। इस प्रकार बारह भेद हुए और पहले जो पैंतीस भेद कहे जा चुके हैं वे गुणीभूतव्यंग्य के भी मानने चाहिए। वे पैंतीस अपने प्रभेद अलंकार में भी, इस प्रकार सत्तर भेद हुए। यहाँ तीन संकर और संसृष्टि में गुणन करने पर २८० भेद हुए। उनके साथ पैंतीस मुख्य भेदों का गुणन करने पर ७४२० से अधिक होंगे।[2] तथा अलंकारों के आनन्त्य से ध्वनिभेद असंख्य हो जाता है।

आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी ध्वनि भेद, प्रभेदों की कोई निश्चित संख्या का निर्देश नहीं किया है।

१- ध्व० ३।४४
२- लोच पृ० ५०८-५०९

ख

लोचन व्याख्यान में आए हुए भामह, उद्भट, वामन प्रभृति आचार्यों के मत को दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत की तृतीय कारिका में प्रतिज्ञा कर ली है कि - 'काव्यात्मभूत सहृदयश्लाघ्य [illegible]-अर्थ के वाच्यांश का विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि उसके उपमादि प्रसिद्ध प्रकारों का पूर्ववर्ती आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है। अतः उपयोगानुसार अर्थात् ध्वनि स्थापना के प्रसंग में उनका अनुकथन मात्र करेंगे'।[1]

किन्तु, आचार्य अभिनवगुप्त कहीं कहीं अवसर पाकर, पूर्व के आचार्यों के ग्रन्थों से बड़े मनोयोग के साथ उनका सोदाहरण उद्धरण छांट-छांट कर अपने व्याख्यान को अथवा ध्वनिकार के ही अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर प्रायः ध्वनिकार के मत की पुष्टि हो जाती है। किन्तु, कभी कभी ध्वनिकार के मत की पुष्टि होने की अपेक्षा, उल्टे पूर्वाचार्यों के कथन का मूल्य घट भी जाता है। अतएव भामह, उद्भट, वामनादि के कथन, जो लोचन में यत्र तत्र विकीर्ण हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण करेंगे।

:१: प्रथम उद्योत में ध्वनिविरोधी अभाववाद को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

'शब्दगत चारुत्वहेतु अनुप्रासादि और अर्थगतचारुत्वहेतु उपमादि हैं और संघटनाधर्म माधुर्यादि गुण हैं। इन गुणालंकार से अभिन्न रहने वाली वृत्तियां और रीतियां हैं, जो किन्हीं आचार्यों द्वारा उपनागरिकादि और वैदर्भी आदि नामों द्वारा कही गई हैं।[2]

१- तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः -
काव्यलक्ष्मविधायिभिः।
- ततो नेह प्रतन्यते॥
केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति। ध्व० १।१

२- ध्व० पृ० १९-२०।

आनन्दवर्धन ने पूर्वपक्ष के रूप में इसका ही प्रतिपादन किया है , किन्तु अभिनवगुप्त यह भी बताना चाहते हैं कि वे आचार्य कौन हैं, जिन्होंने गुणालंकार से भिन्न उपनागरिकादि वृत्तियां और वैदर्भी आदि रीतियां प्रतिपादित की हैं। अतः 'नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्' इस सिद्धान्त को सिद्ध कर इसकी पुष्टि हेतु कहते हैं - अनुप्रासादि से वृत्तियों के पृथक् न होने के कारण ही भामह ने वृत्तियों का पृथक् व्यवहार नहीं किया है ।[1]

उद्भटादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु, अनुप्रासादि से अभिन्न रूप में ही । तदर्थ अभिनव उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह का प्रमाण देते हैं -

सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।[2]
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।।

नागरिका, उपनागरिका और ग्राम्या - इन तीनों वृत्तियों में सजातीय व्यंजनों के उपनिबन्धन द्वारा पृथक्-पृथक् अनुप्रास होते हैं । प्रथम यह वृत्ति नागरिका कहलाती है, जो परुष वर्णों से युक्त होने के कारण परुषानुप्रासा होती है । मसृण(स्निग्ध) वर्णों के अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका कहलाती है । इसे ललिता भी कहते हैं । मध्यमा अंक तृतीया वृत्ति ग्राम्या कहलाती है,क्योंकि ग्राम्य वनिता की भांति यह भी वैदग्ध्यविहीन होती है , इसमें न सुकुमारता ही होती है और न परुषता[3] ही । भट्टोद्भट के अनुसार ग्राम्यावृत्ति की इस अर्थ में कोमला संज्ञा भी है । इस प्रकार परुषानुप्रास - नागरिका, मसृणानुप्रास- उपनागरिका और कोमलानुप्रास ग्राम्यावृत्ति होने के कारण ही वृत्तियों को अनुप्रास की जातियां ही कहा गया है । इसलिए वे अनुप्रास से पृथक् नहीं रहती ।

इस प्रकार यद्यपि उद्भटादि आचार्यों द्वारा वृत्तियों का विवेचन किया गया है किन्तु लोचनकार उद्भट के विवेचन को नगण्य मानते हुए, आनन्दवर्धन के-

---

१- लो० पृ० १६

२- काव्यालंकारसारसंग्रह १।८

३- वृत्तेः अस्याः कोमलसंज्ञा च भट्टोद्भटेन दर्शिता (बालप्रिया पृ० १८)

'गता: श्रवणगोचरमिति' इस अंश से अभिप्राय ले सकते हैं - 'उद्भटादि द्वारा वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ श्रवणपथ पर अवतीर्ण नहीं होता' - अभिनव के इस प्रकार कहने पर एक तो उद्भट के व्याख्यान का महत्व घटता है। और दूसरा, यदि अन्त में अभिनव को उद्भट के कथन को महत्त्वहीन ही कहना था तब फिर उन्होंने क्यों वृत्तियों को अनुप्रास की जातियां सिद्ध करने के लिए उद्भट की ही शरण ली ? जब अपने कथन की पुष्टि के लिए कोई आचार्य नहीं मिला तो उद्भट के कथन को उद्धृत कर दिया , अथवा प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर , अन्त में कह दिया- 'वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ श्रवणपथ पर अवतीर्ण नहीं होता ।'

यदि ऐसा ही था तो आनन्दवर्धन के समान अभिनव भी 'उद्भट' का नाम न लेते ।

:२: इसी प्रकार ध्वनिविरोधी भाक्तवाद के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने किसी भाक्तवादी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त यह खोज निकालते हैं कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में कौन से आचार्य हैं जो अमुख्य वृत्ति द्वारा काव्य में व्यवहार करते हैं और ध्वनिमार्ग का किंचित् स्पर्श कर रहे हैं केवल ।[1] अभिनव ने इसके लिए भट्टोद्भट और वामन के कथन को उद्धृत किया है ।

'ननु कैश्चित् ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशंक्याह....... भट्टोद्भट वामनादिना । भामहोक्तं - शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे - 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति ।'[2]

यहां पर अभिनवगुप्त अलंकारवादियों को ही भाक्तवादी भी कह रहे हैं । आनन्दवर्धन की दृष्टि में न जाने कौन भाक्तवादी आचार्य थे । और फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया है - 'परिकल्प्यैवमुक्तम् - भाक्तमाहुस्तमन्ये इति।'
यहाँ पर अभिनव का स्पष्टतः आनन्दवर्धन पर स्वाभिमतारोप है।

१- लो० पृ० ४१

२- लो० पृ० ४२ ।

:३: अलंकारों में (अर्थात् वाच्य वाचक भाव में) ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले अलंकारवादियों को , ध्व० १/१३ की वृत्ति में उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आश्रित , ध्वनि का वाच्य-वाचक के चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि , जहाँ वाच्य अर्थ अपने को गुणीभूत करके, व्यंग्यार्थ को प्रधानतः अभिव्यक्त करता है - वह ध्वनि का विषय है । क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर ही ध्वनि होती है । अलंकारों में व्यंग्य के प्राधान्य का अभाव होता है । अतः प्रधानता वाच्य की ही होती है। उनमें व्यंग्य अर्थ का कोई महत्त्व नहीं होता । अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । इस तथ्य की पुष्टि के लिए - समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त-विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक,संकरालंकारादि जैसे अलंकारों का विवेचन किया गया है - जहाँ व्यंग्य अर्थ रहते हुए भी प्रधानता वाच्य की रहती है । आनन्दवर्धन ने इन अलंकारों का लक्षण नहीं दिया है ,क्योंकि उन्होंने पहले(ध्व० १।१ में)ही निश्चय कर लिया है कि 'उपमादि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है । अतः उनका प्रतिपादन नहीं करेंगे । केवल उपयोगानुसार उनका अनुवदनमात्र कर देंगे।' किन्तु अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में आए सभी अलंकारों का लक्षण और उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से लेकर अपने 'लोचन' को सम्पन्न किया है । इससे लोचन के स्वरूप में भी अभिवृद्धि हो गई है ।

:३क: आनन्दवर्धन ने सर्व प्रथम समासोक्ति का उदाहरण दिया है -

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तयाऽपुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ।।

इसमें व्यंग्य से अनुगत वाच्य ही प्रधान रूप से प्रतीत हो रहा है , और यहाँ निशा और शशि ही मुख्य वाक्यार्थ हैं । प्रधान वाक्यार्थ - निशाशशि, पर ही नायक नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है । अतः यह ध्वनि का विषय नहीं है - यह आनन्दवर्धन का अभिप्राय है ।

अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के मन्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए सर्व प्रथम 'उपोद्बलनेन' को गुणीभूतव्यंग्य का स्वरूप बता रहे हैं और फिर अलंकार चर्चा करते हुए भामह के समासोक्ति के लक्षण को उद्धृत करते हैं -

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः

सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥[1]

अर्थात् जहाँ प्रस्तुत के अतिरिक्त अन्य अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ समान विशेषणों से प्रतीत होता है, उसे विद्वान् लोग संक्षिप्तार्थ होने से समासोक्ति कहते हैं ।

अभिनव द्वारा उद्धृत, भामह के इस लक्षण में, आनन्दवर्धन द्वारा कथित - 'व्यवहार समारोप' की बात नहीं है । अतः अभिनव द्वारा उद्धृत , भामह के लक्षण में आनन्दवर्धन का सम्पूर्ण अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं होता । भामह, उद्भट दण्डी और वामन में से किसी ने भी व्यवहार समारोप की बात स्पष्टतः नहीं कही है । दण्डी ने कुछ विस्तृत चर्चा अवश्य की है किन्तु उससे भी अधिक व्यवस्थित विवेचन 'अलंकारसर्वस्वकार' आचार्य रुय्यक ने जो आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं किया है । सम्भवतः 'व्यवहार समारोप' की प्रेरणा रुय्यक को आनन्दवर्धन से ही मिली हो ।[2]

अभिनवगुप्त , आनन्दवर्धन के मतानुसार उपोद्बलनेन की व्याख्या करते हैं - यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं है ,क्योंकि व्यंग्यार्थ (नायक नायिका का व्यवहार) श्रृंगार रस के विभाव रूप में वर्णित - इन निशा और शशि को ही अलंकृत करते हुए ,स्वयं अलंकाररूप ही रह जाता है। इस प्रकार विभावरूप वाच्यार्थ- निशाशशि द्वारा ही चारुत्व की प्रतीति हो रही है ।

१- भामह २, ७९

२- (१) अधुना विशेषणविच्छित्त्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते । तत्रादौ विशेषण-साम्यावष्टम्भेन समासोक्तिमाह-(अलंकारसर्वस्व- पृ० १४०)

(२) विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते । अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः ।रूपसमारोपे ह्यवच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपकपरित्यागाद्रूपकमेव । (वही पृ० १४१-१४२)

इसके अनन्तर अभिनवगुप्त 'यस्तु व्याचष्टे'[1] द्वारा अपने किसी पूर्ववर्ती व्याख्याता के मत में दोष-दर्शन करते हुए कहते हैं - 'तथा' अर्थात् निशा-मुख प्रवृत्त है और क्योंकि अकेला रात्रि में प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः इन निशा-शशि शब्दों द्वारा नायक-नायिका व्यवहार यहाँ उत्प्रेक्षित या कल्पित होने के कारण वाच्यार्थ रूप है, व्यंग्य नहीं। और इसीलिए, यह समासोक्ति है। इस व्याख्याता ने वृत्त्यंश के 'व्यंग्येनानुगतम्' पर ध्यान नहीं दिया है।

और, इस पूर्ववर्ती व्याख्या के अनुसार 'व्यंग्येनानुगतम्' की उपेक्षा करके नायक-नायिका के व्यवहार को अभिधेय मानने पर एक दूसरा दोष अभिनवगुप्त यह भी बताते हैं कि - यहाँ एकदेशविवर्तिरूपक होगा, समासोक्ति नहीं। क्योंकि अभिधेय रूप से नायक-नायिका का अर्थ करने पर 'तिमिरांशुक' पद में तिमिर रूप अंशुक इस प्रकार रूपक समास करना पड़ेगा, जो एकदेशविवर्ति रूपक होगा। क्योंकि फिर तिमिरांशुक पद में दो अर्थ चन्द्ररश्मियों से किंचित् अंधकार और दूसरा अर्थ नवोढा वधू के योग्य नील वर्ण की ओढ़नी - यह दोनों अर्थ नहीं हो सकेंगे। फिर इसमें समासोक्ति नहीं हो सकेगी। जैसे - 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरो-नृपाः' में तुल्य विशेषणों[1] के अभाव के कारण, समासोक्ति नहीं है। एकदेश-विवर्तिरूपक है।

अभिनव 'समासोक्ति' के पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं कि समासोक्ति के लक्षण में अभिधा व्यापार के निराकरण के लिए 'गम्यते' पद प्रयुक्त है। अतः यहाँ नायक-नायिका पक्ष को अभिधेय मानना युक्ति संगत नहीं। अतः नायिका का नायक के प्रति जो व्यवहार है वह निशा में समारोपित किया गया और नायिका के प्रति नायक का व्यवहार शशि में समारोपित है। अतः 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोः' इस वृत्त्यंश में नायिका और नायक में एकशेष (समास) का प्रश्न ही नहीं उठता। (यद्यपि व्याकरण के 'पुमान् स्त्रिया' नियम के अनुसार एकशेष हो सकता था।)

यह सत्य है कि यहाँ एकशेष नियम की उपेक्षा से समासोक्ति का जो

१- लो० पृ० ४६५

सौन्दर्य बन पड़ा है उसे अभिनव की तत्त्वाभिनिवेशीसूक्ष्मदृष्टि ही पकड़ सकी है । जब कि पंडितराज जगन्नाथ इस स्थल पर स्खलित हो गए, उन्होंने वहां रसदोष कह ही दिया है ।

किन्तु प्रस्तुत स्थल पर आनन्दवर्धन द्वारा कथित प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए - 'यस्तु व्याचष्टे' से लेकर 'नैवोपपन्नं:'[1] तक का लोचन व्याख्यान व्यर्थ का विस्तार मात्र प्रतीत होता है । क्योंकि यहां पर आनन्दवर्धन अलंकार का प्रसंग केवल 'व्यंग्येनानुगत वाच्य की ही प्रधान प्रतीति' दिखाने के लिए प्रारम्भ किया है । न कि अलंकार विषयक विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु । किन्तु अभिनवगुप्त यह सोच कर कि उनकी अपनी बात भी कहीं अकथित न रह जाय, जहां तनिक भी अवकाश मिलता है, अपनी बात कह देते हैं । और जब उनकी संगति नहीं बैठती, तो प्राय: 'इत्यलमवान्तरेण बहुना' कह कर अपने व्याख्यान को आगे बढ़ाते हैं ।

:३ख: आक्षेप अलंकार के प्रसंग में भी आनन्दवर्धन केवल इतना ही कहते हैं - शब्दोपारूढ़, विशेष अभिधान की इच्छा से, जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है, वही वाच्यार्थ व्यंग्यविशेष को व्यक्त करता हुआ, मुख्यकाव्य शरीर है । और प्राधान्यत: वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है । अत: व्यंग्यविशेष का आक्षेपक करने वाले, वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष के कारण प्राधान्य होता है ।[2]

वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्वोत्कर्ष के ही आधार पर होती है ।[3]

इसकी पुष्टि हेतु आनन्दवर्धन उदाहरण देते हैं -

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सर: ।
अहो दैवगति: कीदृक् तथापि न समागम: ।।

यहां नायक-नायिका के असमागमविषयक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण, उसी का प्राधान्य है ।[4] आनन्दवर्धन इसके अतिरिक्त इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते कि उक्त उदाहरण में समासोक्ति

१- लो० पृ० ११०-१११
२- ध्व० पृ० १११-११४
३- ध्व० पृ० ११४
४- ध्व० पृ० ११५

है अथवा आक्षेप अलंकार ।

किन्तु, अभिनवगुप्त बड़े विधिविधानपूर्वक इन प्रश्नों पर विचार करते हैं - कि अनुरागवती सन्ध्या में वामन के अभिप्राय से आक्षेप है और भामह के अभिप्राय से समासोक्ति, इसी कारण ग्रन्थकार[1] ने [illegible] दोनों - आक्षेप और समासोक्ति का एक ही उदाहरण दे दिया है ।

इसके लिए भामह और वामन के ग्रन्थों से आक्षेप का लक्षण[2] और उदाहरण भी देते हैं । भामह के काव्यालंकार से आक्षेप का लक्षण दे देने के बाद, आक्षेप के दो भेदों - (१) वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप और (२) उक्तविषय-आक्षेप[3] में से प्रथम का उदाहरण 'अहं त्वां यदि नेक्षेय' इत्यादि भामह के काव्यालंकार से दिया है किन्तु दूसरे भेद का उदाहरण भामह से नहीं लिया, वरन् स्वयं अभिनव का स्वरचित पद्य - 'भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ' इत्यादि[5] है । इसके बाद अभिनव, वामन के काव्यालंकारसूत्र[6] से भी आक्षेप का लक्षण और उदाहरण अपने व्याख्यान में उतार लेते हैं । किन्तु 'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण' इत्यादि उदाहरण, जिसे वामन ने 'उपमानाक्षेपः' के लिए उद्धृत किया है, उसमें अभिनवगुप्त समासोक्ति बताते हुए कहते हैं -

'इत्यत्र च विवक्षितानुरागान्तरमुपमानमापि नापि वाच्यार्थमेवालंकरोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव ।'[7]

वस्तुतः प्रस्तुत प्रसंग में आनन्दवर्धन के अभिप्राय को 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' को दृष्टि में रखते हुए, यहाँ पर भामह और वामन के आक्षेप-अलंकार का लक्षण और उदाहरण देने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं और वामन के 'आक्षेप' के उदाहरण में समासोक्ति है या कोई अन्य

१- वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत् । लो० पृ० ११६

२- द्र०, भामह- काव्यालंकार - २।६८, २।६९

३- लो० पृ० ११२

५- का०सू० ४.३.२७.

६- लो० पृ० ११३-११४

७ - लो० पृ० ११४

अलंकार - इन समस्याओं को कहने का अवसर भी नहीं । किन्तु, अभिनवगुप्त इन विभिन्न तथ्यों के ऊहापोह में व्यस्त हैं । 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में वामन के अनुसार 'आक्षेप' है और भामह के अनुसार 'समासोक्ति' - इतना ही कहते हैं, तथापि निष्कर्ष रूप में उनके अनुसार कौन अलंकार है यह न बता कर, आनन्दवर्धन के मन्तव्य को भी अपने अनुसार मोड़ते हुए कहते हैं - ग्रन्थकार ने यहां दोनों अलंकारों का एक ही उदाहरण दिया है । और अन्त में, यह भी कहते हैं - 'यहां चाहे आक्षेप हो या समासोक्ति, इससे हमें क्या प्रयोजन । हमारा साध्य तो अलंकारों में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के प्रति गुणीभाव बताना है ।'[1]

उपर्युक्त ढंग से तर्क करने पर, भामह और वामन के कथन को लोचन में रखने का क्या महत्त्व रह गया, और दूसरे जब अभिनवगुप्त को यह भलीभांति ज्ञात है कि यहां क्या 'साध्य' है, तब भी वह व्यर्थ की अवान्तर चर्चा करके अपने व्याख्यान को उलझा देते हैं । और जब उनका व्याख्यान बहुत अधिक उलझने लगता है या बहुत अवान्तर चर्चा होने लगती है, तब अन्त में प्राय: 'इत्यलंबहुना' या 'एषापि समासोक्तिर्वाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्' और 'न: साध्यमित्यलमवान्तरेण ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपित:' - इस प्रकार कह कर आनन्दवर्धन के मन्तव्य को एक पंक्ति में स्पष्ट कर, अपने व्याख्यान में गति लाते हैं ।

:3ग: ध्व० १।१३ की वृत्ति में आनन्दवर्धन 'चारुत्वोत्कर्ष निबन्धन' के आधार पर वाच्य और व्यंग्य में से किसी एक के प्राधान्य के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं - जिसकी प्राधान्येन प्रतीति होती है उसी के नाम से उसे अभिहित किया जाता है । जैसे, दीपक अपह्नुति आदि में व्यंग्यत्वेन उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यतया उसकी विवक्षा न होने के कारण, उसे 'उपमा' संज्ञा से अभिहित नहीं किया जाता ।

यहां पर अभिनवगुप्त भामह के काव्यालंकार २।२५ से 'दीपक' अलंकार का उदाहरण देते हैं -

'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते'

१- लो० पृ० ११५

इसका उदाहरण देते हैं -

'मणि: शाणोल्लीढ: समरविजयी हेतिदलित:'

और अन्त में केवल इतना कहते हैं -

'इत्यत्र दीपकमूलमेव चारुत्वम्'

जब अभिनवगुप्त भामह के 'काव्यालंकार' ३।२५ से ही दीपक का लक्षण दे रहे थे, तब इसमें काव्यालंकार २।२६ की यह पंक्ति भी जड़ देते हैं -

'अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्'

इस पंक्ति से आनन्दवर्धन के - 'प्राधान्येन विवक्षितत्वात् तथा व्यपदेश:' के अभिप्राय की किंचित् पुष्टि हो जाती ।

:3घ: इसी प्रकार अपह्नुति के विषय में भी अभिनवगुप्त भामह के काव्यालंकार ३।२१ से अपह्नुति के लक्षण की प्रथम पंक्ति - 'अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा' - लेकर कहते हैं - 'तत्रापह्नुत्यैव शोभा' और उदाहरण देते हैं -

'नेयं विरौति भृंगाली मदेन मुखरा मुहु: ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनि: ।।' ३।२२

अभिनवगुप्त जब लक्षण देते हैं तो, न जाने क्यों पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से एक पंक्ति उतार लेते हैं और दूसरी पंक्ति छोड़ देते हैं । यदि दूसरी पंक्ति व्यर्थ होती तो उसे छोड़ देते । किन्तु, जब उस पंक्ति से आनन्दवर्धन के मन्तव्य की पुष्टि होती है तब भी उस उपयोगी पंक्ति की उपेक्षा करते हैं । वास्तव में तो लोचन व्याख्यान इन्होंने आनन्दवर्धन के 'आलोक' के स्पष्टीकरण के लिए किया है । तथापि अवसर पाकर वे अवान्तर चर्चा कर अपनी बात स्पष्ट कर देते हैं, किन्तु आनन्दवर्धन के कथ्य को छोड़ देते हैं । उदाहरणार्थ दीपक अलंकार के प्रसंग में इसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार अपह्नुति के प्रसङ्ग में भी अभिनवगुप्त भामह के काव्यालंकार से अपह्नुति अलंकार का अपूर्ण लक्षण उद्धृत करते हैं । भामह ने स्पष्ट रूप से अपह्नुति के व्यपदेश का कारण बताते हुए अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार दिया है -

अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्या: क्रियते चाभिधा यथा ।। ३।२१

किन्तु अभिनवगुप्त मात्र पहली पंक्ति ही उद्धृत करते हैं । और केवल इतना कहते हैं - 'तत्रापह्नुत्यैवशोभा' । किन्तु यहां पर काव्यालंकार ३।२१ की दूसरी पंक्ति का भी महत्त्व है क्योंकि प्रस्तुत स्थल पर - आनन्दवर्धन का मन्तव्य है - 'प्राधान्येन

विवक्षा अनुसार अलंकारों का व्यपदेश होता है'। 'उपमा' का यहां प्राधान्य न होने के कारण इसकी उपमा संज्ञा नहीं है। प्रत्युत: दीपक और अपन्हुति का प्राधान्य है, अत: दीपक और अपन्हुति संज्ञा है।

:३८: इसके बाद आनन्दवर्धन अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति[1] का उदाहरण देते हैं - 'आहूतोऽपि सहायै:' इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने यह उदाहरण उद्भट से लिया, भामह से नहीं। क्योंकि भामह ने जो विशेषोक्ति का लक्षण दिया है, वह बहुत स्पष्ट नहीं है, और न ही इन्होंने विशेषोक्ति के प्रकारों का विवेचन किया है, जब कि उद्भट 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में विशेषोक्ति का स्पष्ट लक्षण[2] देते हुए उसके दो भेद बताते हैं -

१- उक्तनिमित्त,
२- अनुक्तनिमित्त[3]

इन दोनों में से अनुक्तनिमित्त में व्यंग्य का सद्भाव होने के कारण आनन्दवर्धन ने इसका उल्लेख किया है।

किन्तु, अभिनवगुप्त अपने 'लोचन'[4] में उद्भट का विशेषोक्ति अलंकार का लक्षण न देकर, भामह का ही विशेषोक्ति अलंकार का लक्षण देते हैं -

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थिति: ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥ ३।२३

तथा विशेषोक्ति के ये तीन प्रकार स्थिर करते हैं - अचिन्त्यनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता। यद्यपि भामह ने इन प्रकारों का उल्लेख नहीं किया है।

इसके बाद ये उदाहरण देते हैं -

१- ध्वन्या० पृ० ११७

२- यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥ का०अ०सा०सं० ५।४ (५५)

३- दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च ।
तस्य बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मक: ॥ वही ५।५(५६)

४- लो० पृ० ११६-११७ ।

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

यह उदाहरण भामह ने मात्र 'विशेषोक्ति अलंकार' के लिए प्रयुक्त किया है, किन्तु अभिनवगुप्त इसमें 'अचिन्त्यनिमित्ताविशेषोक्ति' बताते हैं, और कहते हैं, इसमें व्यंग्य का सद्भाव नहीं है। इसी प्रकार उक्तनिमित्ताविशेषोक्ति में भी वस्तु के स्वरूपमात्र में अलंकार का पर्यवसान हो जाने के कारण, इसमें भी व्यंग्य के सद्भाव की शंका नहीं करनी चाहिए। अभिनवगुप्त द्वारा दिया गया इसका उदाहरण द्रष्टव्य है -

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने[1] ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥

यहां पर शक्तिमान कामदेव का हेतु 'अवार्यवीर्य' उक्त है।

विशेषोक्ति के तृतीय प्रकार - 'अनुक्तनिमित्ताविशेषोक्ति' को आनन्दवर्धन ने व्यंग्य के सद्भाव के कारण प्रस्तुत किया है। और इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

आहूतोऽपि सहायैः ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि[2] ।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥

इसके अनन्तर आनन्दवर्धन वृत्ति भाग में कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में प्रकरण के सामर्थ्य से व्यंग्य की किंचित् प्रतीति हो जाती है। किन्तु इस प्रतीति से कोई चारुता नहीं आती। अतः यहां व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त उदाहरण का व्याख्यान करते हुए[3] कहते हैं - 'यहां भट्टोद्भट के अनुसार - न उठने का कारण, शीत है'।

'कुछ रसिकों[4]' ने यह निमित्त कल्पित किया है कि - 'गमन की अपेक्षा स्वप्न को प्रिया-समागम का उपाय समझकर पथिक निद्रागम के विचार से सिकुड़ा पड़ा है' - रसिकों द्वारा दिए गए इस निमित्त को आलंकारिकों ने चारुत्व हेतु

१- लो० पृ० ११६ २- वही पृ० ११७ ३- वही

४- अभिनवगुप्त ने 'रसिकैः' द्वारा सम्भवतः हृदयदर्पणकार 'भट्टनायक' या किसी अन्य आचार्य पर कटाक्ष किया है।

नहीं स्वीकार किया, अपितु अभिव्यंज्यमान निमित्त - (स्वजन में कान्तासमागम की बाधा अथवा शीतकृत कष्ट) से अलंकृत विशेषोक्ति - (संकोचं नैव शिथिलयति) में ही यहां चमत्कार है । अन्यथा यहां विशेषोक्ति अलंकार ही नहीं होगा ।' - इतना कह कर अभिनवगुप्त कहते हैं : आनन्दवर्धन ने यहां -'न तु तत्प्रतीतिनिमित्त काव्यचारुत्वनिष्पत्ति' - इस कृत्यांश को उद्भट और रविक दोनों के अभिप्राय से लिखा है ।

यदि आनन्दवर्धन ने उद्भट और रविकों के अभिप्राय से कृत्यांश को लिखा होता , तो आनन्दवर्धन नि:सन्देह उद्भट और रविकों का उल्लेख कर देते , जैसा कि प्राय: अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन ने किया है । यहां पर भले ही अभिनवगुप्त कुछ भी अभिप्राय निकालें, किन्तु आनन्दवर्धन के अनुसार यहां प्रस्तुत मुख्य प्रतिपाद्य विषय है -'अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ के रहने पर भी , उससे वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण, व्यंग्य का अप्राधान्य बता कर वाच्य का प्राधान्य प्रतिपादित करना'। और , यदि यह मान भी लिया जाए कि आनन्दवर्धन ने उद्भट और रविकों के अभिप्राय से प्रतिपादन किया है , तब अभिनवगुप्त अपने लोचन में क्यों भामह का ही उदाहरण देते हैं ? उद्भट का क्यों नहीं देते ?

सम्भवत: अभिनवगुप्त के समक्ष उस समय भामह के काव्यालंकार पर उद्भट विरचित 'भामह-विवरण' रहा हो - जिसमें -'आहूतोऽपि' इत्यादि उदाहरण उद्भट ने दिया हो और उसी आधार पर अभिनव ने भामह के अनुसार विशेषोक्ति का उदाहरण देकर, 'आहूतोऽपि' की व्याख्या की हो ।

:३च: पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -'यदि पर्यायोक्त में व्यंग्य की प्राधान्येन प्रतीति होगी , तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा , न कि ध्वनि का पर्यायोक्त अलंकार में । क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र व्यापक है और ध्वनि अंगी भी है । और, पूर्वस्माक्षु या भाम्नं भुंक्ते इत्यादि पर्यायोक्त का भामह ने जो उदाहरण दिया है उसमें वाच्यार्थ का उपसर्जनीभाव विवक्षित न होने के कारण व्यंग्य का प्राधान्य नहीं दीख पड़ता ।'[१]

१- ध्व० पृ० ११८. ११९.

आनन्दवर्धन इतना ही कहते हैं । किन्तु अभिनवगुप्त वृत्तिभाग की उपर्युक्त तीन चार पंक्तियों की विस्तृत व्याख्या करते हैं । सर्वप्रथम उद्भट के 'काव्यालंकारसार-संग्रह' से पर्यायोक्त का लक्षण[1] इस प्रकार उद्धृत करते हैं -

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।।'[2]

उदाहरणार्थ -

शत्रुच्छेदृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ।।

यहाँ भीष्म का प्रभाव, भार्गव अर्थात् परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला है - यह व्यंग्य प्रतीत होता है । फिर भी इस व्यंग्य से वाच्यार्थ - 'देशिता धर्मदेशना' वाच्यार्थ ही अलंकृत हो रहा है ।

तदनन्तर, उक्त उद्भट के पर्यायोक्त के लक्षण में आए हुए 'प्रकारेणाभिधीयते' और 'अवगमात्मना' का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं -

'पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्,[3] पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अलंकारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते'।

इस स्थल पर उद्भट को मानने वाले यह कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने पक्ष की पुष्टि हेतु इस प्रकार का व्याख्यान किया है । साथ ही इस प्रकार की शंका भी कर सकते हैं कि जब 'अवगमात्मना' है तब 'प्रकारेणाभिधीयते' का 'प्रतीयते' यह अर्थ क्यों नहीं किया गया ? किन्तु इसके पूर्व ही अभिनवगुप्त कहते हैं-

'यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्राधान्येनेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि । तदालंकारत्वमेव दूरे व्यङ्ग्यात्मतायां पर्यवसानात् । तथा चालंकारमध्ये गणना न कार्या'।[4]

१- लो० पृ० ११७ २- का०अ०सा० सं० ४।६
३- लो० पृ० ११८ ४- वही

अर्थात् यदि 'अभिधीयते' का प्रधानतया 'प्रतीयते' अर्थ करें तब 'पर्यायोक्त' की गणना अलंकारों में न होगी। उसका 'आत्मा' में पर्यवसान हो जायगा।

यहाँ तक तथ्य अवश्य है कि आनन्दवर्धन तो व्यंग्य के प्राधान्य के अवसर पर पर्यायोक्त अलंकार का 'ध्वनि' में अन्तर्भाव बता रहे हैं।

किन्तु, अभिनवगुप्त 'ध्वनि' पद के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करते हुए 'ध्वनि में पर्यवसान' के स्थान पर 'आत्मा में पर्यवसान' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त यहाँ 'आत्मा' पद का प्रयोग 'ध्वनि' पद के पर्याय के रूप में कर रहे हैं। या फिर 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के आधार पर अभिनवगुप्त ऐसा प्रयोग कर रहे हैं। यदि अभिनवगुप्त का यहाँ 'आत्मा' पद से अभिप्राय स्वभाव या प्रकार से है, तब तो ठीक है, किन्तु यदि 'आत्मा' पद का अर्थ 'जीवितभूत या प्राणतत्त्व' से है, तब तो ध्वनि काव्य का आत्मा-व्यंग्य अर्थ है उस व्यंग्यार्थ में पर्यवसान की बात कैसे बैठेगी ?

हमारे विचार से अभिनवगुप्त यहाँ पर 'आत्मा' पद का प्रयोग ध्वनि के पर्यायरूप में कर रहे हैं।

(3 छ) आक्षेप अलंकार के प्रसंग में, दृष्टान्त रूप से अपह्नुति और दीपक अलंकार का विवेचन हो चुका है। किन्तु, अभिनवगुप्त पुनः प्रतिपादन हेतु उपस्थित करते हैं -

'........ उद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थकृता योजयितुं पुनरप्युक्तम्'[2]

अर्थात् आनन्दवर्धन ने 'समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, संकरालंकारादि'[3] - इस क्रम से अलंकारों को गिनाया था, जिनमें प्रतीयमान अर्थ अस्फुट प्रतीति होने के कारण उन्हें ध्वनि का विषय नहीं माना गया। अलंकारों के इस क्रम में व्युत्क्रम हो जाने के कारण ही अभिनवगुप्त कहते हैं- ग्रन्थ में आए पदों की संगति बैठाने के लिए आनन्दवर्धन ने पुनः प्रकारान्तर से यहाँ दीपक और अपह्नुति का उल्लेख करते हुए व्यंग्य के अप्राधान्य के कारण इनमें ध्वनि

१- (१) आत्मतायां पर्यवसानात् - लो० पृ० ११८

(२) आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालंकारः स्यादित्यर्थः - लो० पृ० ११९

२- लो० पृ० १२०   ३- वही पृ० १०८

का निराकरण किया है । -

प्रस्तुत स्थल पर अभिनवगुप्त का इतना कहना ही पर्याप्त था । किन्तु, इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त अपने व्याख्यान में उद्भट के भामह विवरण में कथित 'दीपक अलंकार का अर्थ उपमा से अन्वित न होने का' विवेचन करने लगे । यद्यपि इस विषय में 'अभिनव' का 'उद्भट' से इस मत में साम्य नहीं है, अभिनवगुप्त स्वयं कहते हैं -

'यत्तु विवरणकृत् - दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहूदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं श्रुतिकटु च ।'[1]

इसके लिए वे दो उदाहरण भी देते हैं -

(१) मदो जनयति प्रीतिं सानंगं मानभंगुरम् ।
स प्रियासंगमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥[2]

यहाँ यद्यपि पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर (मद से प्रीति) उत्पन्न हो रहा है तथापि उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव कल्पित किया जा सकता है । क्योंकि, यह कोई नियम नहीं है कि - क्रमिक वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव नहीं होता ।

(२) राम इव दशरथोऽभूद्दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः ।[3]
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम् ॥

इस उदाहरण में भी परस्पर राम और दशरथ इत्यादि में, क्रम होते हुए भी उपमानोपमेय भाव ही है । अतः क्रमिकता अथवा जन्यकारणिकता से उपमा अवरुद्ध होती है - यह कहना ठीक नहीं । इतना कहने के अनन्तर अभिनव कहते हैं -

'इत्यलं भट्टोद्भटानुकथनेन ।'[4]

यद्यपि अभिनवगुप्त को यह ज्ञात है कि भामह विवरणकार 'उद्भट' के विरुद्ध उपर्युक्त जो व्याख्यान किया गया है । उसका प्रस्तुत स्थल पर कोई उपयोग नहीं है । तथापि अभिनवगुप्त ने उसका विवेचन करके व्यर्थ का विस्तारमात्र किया है ।

१- लो० पृ० १२० २- वही पृ० १२०-१२१

३- वही पृ० १२१ ४- वही

३ ज. संकरालंकार -

संकर अलंकार के प्रसंग में भी आनन्दवर्धन अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार उसके भेदों को नहीं गिनाते किन्तु अभिनवगुप्त अपने स्वभावानुसार आचार्य उद्भट का अनुकरण करते हुए संकरालंकार के भेदों को बताते हुए अपने व्याख्यान को सम्पन्न करते हैं -

सर्वप्रथम सन्देह संकर का लक्षण उन्होंने उपस्थित किया है -

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः ॥[१]

आचार्य उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में सन्देह-संकर का लक्षण इसी प्रकार किया है, अन्तर केवल इतना है कि 'विरुद्धालंक्रियोल्लेखे' के स्थान पर उद्भट ने -'अनेकालंक्रियोल्लेखे' कहा है ।[२]

इसका उदाहरण अभिनवगुप्त का स्वरचित पद्य है -

शशिवदनासितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपंक्तिरियम् ।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥ इति

इसमें 'शशी एवं वदनं यस्या सा शशिवदना' ऐसा समास करने से रूपक और 'शशिवत् वदनं यस्याः' - यह समास मानने से उपमा होती है । किन्तु दोनों का एक साथ होना असम्भव है, अतः उपमा और रूपक दोनों में से क्या माना जाय - इसका कोई निर्णायक प्रमाण न होने के कारण यहाँ सम्पूर्ण सन्देह संकर अलंकार है । इसके बाद अभिनवगुप्त अपने पक्ष के साथ सन्देह संकर की संगति बैठाने के लिए कहते हैं -

अब यह निश्चय ही नहीं है कि कौन अलंकार वाच्य है और कौन अलंकार व्यंग्य तब इसमें ध्वनि की सम्भावना क्या की जाय ।[४]

१- लो० पृ० १२९

२- अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे । एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः
का०अलं०सा०सं०(५२) पृ० ३८९

३- लो० पृ० १२९ ४- वही

संकर का वो दूसरा प्रकार - एकवाचकानुप्रवेश है, उसमें शब्दालंकार और अर्थालंकारों की एक साथ सत्ता होती है । यथा -

'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिंगनात्' । इति में स्मर-स्मर पदावृत्ति से यमक रूप शब्दालंकार और 'स्मरमिव' में उपमा अर्थालंकार का एकवाचकानुप्रवेश संकर है । यहां भी प्रतीयमान की शंका का अवसर नहीं ।

संकर के तृतीय प्रकार में - जहां एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालंकार हों, वहां भी दोनों में वाच्य रूप साम्य होने से, व्यंग्य की सम्भावना नहीं हो सकती। यथा -

तुल्योदयावसानत्वादगतेऽस्तं प्रति भास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ।। इति

इस पद्य को भामह ने अपने काव्यालंकार ३।४८ में उत्प्रेक्षावयव के लिए उद्धृत किया है किन्तु अभिनवगुप्त इसे 'संकरालंकार' के तृतीय प्रकार के उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

उक्त पद्य में स्वामि-विपत्ति के समय समुचित कृत्यकरण के लिए प्रयत्नशील कुलीन पुत्र का रूपण 'तमोगुहाम्' पद में स्थित एकदेशविवर्ति रूपक कर रहा है । इसके अतिरिक्त 'इव' शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा भी है । किन्तु यहां रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों के समान रूप से वाच्य होने के कारण, दोनों में से किसी को व्यंग्य कहा ही नहीं जा सकता ।

कुछ लोग संकर के उपर्युक्त दूसरे और तीसरे प्रकार को अलग-अलग नहीं मानते । किन्तु अभिनवगुप्त इन दोनों का विवेचन करने के बाद उनका लक्षण देते हैं -

शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र वर्तिनः[1] ।
संकरश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ।।

यह लक्षण भी अभिनवगुप्त ने उद्भट से ही लिया है । यद्यपि दोनों में किंचित् पाठभेद है । उद्भट के 'एकत्र भासिनः'[2] के स्थान पर अभिनव ने 'एकत्र-वर्तिनः' कहा है ।

१- लो० पृ० १२२ ।
२- शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः।संकरश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ।।इति का०अ०सा०सं० ११-१२(६३) पृ० ३८८-३८९ ।

इसके बाद संकरालंकार का चतुर्थ प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहकभाव कहते हैं -

जहाँ अलंकारों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव(अर्थात् अपनी स्थितिप्रकाशना में परमुखापेक्षित्व) हो वहाँ यह भेद होता है । यथा-

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगांगनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगांगनाभिः ॥

यहाँ मृगांगनाओं की दृष्टि के समान पार्वती की दृष्टि है - यह उपमा यद्यपि व्यंग्य है, तथापि यह 'उपमा' सन्देहालंकार रूप वाच्य को ही उत्पन्न कर अनुगृहीत करती है । अतः उपमा स्वयं गुणीभूत हो जाती है ,क्योंकि उसका पर्यवसान सन्देह की पुष्टि में ही हो रहा है । इसके लिए उद्भट के 'काव्यालंकार-सारसंग्रह'[1] से 'अनुग्राह्यानुग्राहकसंकर' का लक्षण उद्धृत करते हैं -

जहाँ अनेक अलंकार परस्पर उपकारक भाव से स्थित हों, उन्हें स्वतंत्र रूप से आत्मलाभ न हो, वहाँ भी (अंगांगिभाव) संकर होता है ।

आनन्दवर्धन द्वारा कथित - 'संकरालंकारेऽपि' पर अभिनवगुप्त ने संकरालंकार का — स्वरूप भेदों सहित उनके उदाहरण और लक्षण सभी प्रस्तुत कर दिया है । ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ,आनन्दवर्धन द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थानों की पूर्ति कर रहे हैं ।

अभिनवगुप्त ने 'संकर-अलंकार' इत्यादि से लेकर 'तत्र व्यंग्यस्य प्राधान्यं ध्वनिरूपत्वात्'[3] तक का जो व्याख्यान है , वह आनन्दवर्धन के अभिप्राय को बहुत ही सटीक एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है ।

आनन्दवर्धन ने क्रम से संकरालंकार के भेदों को नहीं कहा है ।उपर्युक्त 'यदा-अलंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति' द्वारा अनुग्राह्यानुग्राहक भाव को कहा है । 'अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यंग्ययोः समं प्राधान्यम्' द्वारा सन्देह संकर को और 'यदा वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानम्' इत्यादि द्वारा अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के दूसरे पक्ष को कहा है । आनन्दवर्धन के इस अभिप्राय को साधारणत

१- परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।स्वातंत्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः । का०अ०सा०सं० १३(४) पृ० ७०
२- लो० पृ० १२२ ३- वही पृ० १२३-१२४ ।

साधारणतः समझना कठिन होता है, किन्तु अभिनवगुप्त की कुशलेक्षिका आनन्दवर्धन के मन्तव्य को इस स्थल पर समझने में सफल हुई है।

: ३ अः अप्रस्तुतप्रशंसा -

अप्रस्तुतप्रशंसा के विवेचन के अवसर पर अभिनवगुप्त इसका उदाहरण देते हैं -

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥

इसकी प्रथम पंक्ति तो भामह और उद्भट की ही पदावली में इसी रूप में अभिनव ने रख दी है, किन्तु दूसरी पंक्ति में अभिनवगुप्त ने किंचित् परिवर्तन किया है। लोचनकार के 'त्रिविधा परिकीर्तिता' के स्थान पर भामह के अनुसार 'सा चैव कथ्यते यथा'[1] है। और उद्भट के अनुसार 'प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी,'[2] है। अभिनवगुप्त ने इस परिभाषा में आनन्दवर्धन के अभिप्राय को भी जोड़ने का प्रयत्न करते हुए - 'त्रिविधा परिकीर्तिता' कहा है। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का उल्लेख नहीं किया। आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य कुन्तक ने अप्रस्तुतप्रशंसा की ओर संकेत करते हुए कहा था - 'जहां साम्य का सहारा लेकर अथवा कार्यकारण भाव आदि अन्य सम्बन्धों का सहारा लेकर प्रस्तुत के सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाला अप्रस्तुतपरक वर्णन किया गया हो - वहां यह अलंकार होता है'। किन्तु, आनन्दवर्धन ही पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा को नए रूप में प्रस्तुत किया। आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों की निश्चित संख्या नहीं बताई है। किन्तु अभिनवगुप्त ने उनके व्याख्यान के आधार पर इसके तीन भेदों को निकालकर, भामह के द्वारा दिए गए -

---

१- अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ॥ भामह काव्यालंकार ३।२९ पृ० ७८

२- अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी ॥ उद्भट काव्यालंकारसारसंग्रह ८(५६) पृ० ८०

अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में संशोधन करके - 'त्रिविधा परिकीर्तिता' अपनी ओर से जोड़ दिया और उसके तीन प्रकार इस प्रकार बताए -

१- सामान्यविशेषभावात्

२- निमित्तनिमित्तिभावात्

३- सारूप्यात्

अभिनव ने इन सभी का सोदाहरण विवेचन करते[1] हुए आनन्दवर्धन के मन्तव्य को निम्नप्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

१- सामान्यविशेषभावात् -

यह दो प्रकार का होता है -

(१) एक तो वह है, जब सामान्य अप्रस्तुत होता है और वाच्य द्वारा कहा जाता है , तथा उससे प्रस्तुत विशेष का आक्षेप (व्यंग्य) होता है । यथा-

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

यहाँ 'केवल दैव का ही प्राधान्य है' - यह अप्रस्तुत सामान्य अंश प्रतिपाद्य होकर किसी विनष्ट हुए प्रस्तुत विशेष का आक्षेप कर रहा है ।

(२) और, जहाँ विशेष अप्रस्तुत वाच्य होकर, प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप (व्यंग्य) करता है । वहाँ सामान्यविशेषभाव का द्वितीय प्रकार होता है । यथा-

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अंगुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

यहाँ 'अनुचित स्थान में महत्त्व की सम्भावना रूप' प्रस्तुत सामान्य रूप व्यंग्य है, तथा 'जलबिन्दु में मुक्तामणित्व सम्भावना रूप' - अप्रस्तुत विशेषरूप वाच्य है । यहाँ सामान्य और विशेष का अप्राधान्य होने पर भी कोई विरोध नहीं क्योंकि सामान्यविशेष का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होता है ।

१- ध्व० लो० पृ० १२४-१२८ ।

२- निमित्तनिमित्तिभावात् -

इसके भी दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत कारण वाच्य होकर प्रस्तुत रूप कार्य का आक्षेप(व्यंग्य) करता है । यथा-

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च ।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः ॥

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्बान्धवकथा निमित्तरूपेण वाच्य होकर नैमित्तिक रूप प्रस्तुत - सुहृद् बान्धव के सहायकत्व को व्यक्त कर रहा है ।

यहाँ कार्यरूप व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी, कारणरूप वाच्य ही प्रधान है, क्योंकि वह वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ[1] रूप कार्य का अनुप्राणक है । अतः यहाँ व्यंग्य और व्यंजक का समप्राधान्य है ।

(२) कभी कार्यरूप अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा, कारण रूप प्रस्तुत का आक्षेप होता है । यथा -

सर्वं अवारितावं कौस्तुभलक्ष्मिहरासिवं मधुमथस्य हरम् ।
स्मराणि मथनपुरतो अनुबन्धं च हरकण्ठपन्नगम् ॥

यहाँ पर वासवदत्ता के कौस्तुभमणि और लक्ष्मी से रहित हरि के वक्षःस्थल आदि के स्मरण रूप अप्रस्तुत कार्य (नैमित्तिक) के वर्णन द्वारा, निमित्तभूत प्रस्तुत उनकी पूर्वदर्शिता, चिरंजीविता, व्यवहारकुशलता आदि जो उनके भविष्य में उपादेय हैं - को व्यक्त कर रहा है ।

यहाँ पर भी उपर्युक्त उदाहरण की भाँति वाच्य और व्यंग्य का सम-प्राधान्य है, क्योंकि व्यंग्यार्थ स्वयं तो प्रधान था ही, वाच्य को भी सुन्दर बना रहा है ।

१- केवल व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाने मात्र से ही ध्वनि नहीं होती, परन् व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के साथ वाच्यार्थ का गुणीभाव भी होना चाहिए । किन्तु यहाँ वाच्यार्थ - अप्रस्तुत निमित्त, प्रतीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक का अनुप्राणक होने के कारण गुणीभूत न होकर प्रधान हो रहा है । इस प्रकार यहाँ व्यंग्य और व्यंजक का समप्राधान्य है ।

३- वाच्यात् -

इसके भी दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है , और प्रस्तुत व्यंग्य वाच्य का मुखापेक्षी होता है । यथा- अभिनवगुप्त के गुरु भट्टेन्दुराज का यह श्लोक -

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापित:
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽपि विदधे यस्त्वत्सपर्यामपि
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां
भ्रात: प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ।।

यहाँ यद्यपि सादृश्य के द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य कृतघ्न पुरुष का आक्षेप हो रहा है, तथापि यहाँ अप्रस्तुत वाच्यरूप वेतालवृत्तान्त में ही चमत्कार है ।

(२) अप्रस्तुत के वर्णन की अपेक्षा , आक्षिप्यमाण प्रस्तुत के अधिक चारुत्वपूर्ण होने पर , वह वस्तु व्यंग्य का उदाहरण हो जाएगा । यथा-.

भावप्रांत ज्योत्स्नास्य पूर्वान्याक्रम.बन्धितम्
मंत्रीभिर्विधिवानिरात्मकृत्यं पृच्छाय संक्रीडते ।
स त्यागात वदं तत: बहुकलङ्कवत्सु:शिशिरांशो
मन्येऽमुष्य महात्मता स्तुतिपदं त्वत्त्वाम्बकम्भावनात् ।।

यहाँ अचेतन चन्द्रमादि अप्रस्तुत वाच्य के वर्णन की अपेक्षा आक्षिप्यमाण प्रस्तुत में अधिक चमत्कार है, क्योंकि बहुकलङ्कवन्त लोग वह से भी अधिक पापी हैं - यह वस्तु-व्यंग्य है ।

जब वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य का प्राधान्य होगा , तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा , अन्यथा वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही रहेगा ।

ध्व० १।१३ की वृत्तिभाग में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति पर्यायोक्त , अपह्नुति, दीपक, संकर - इतने अलंकारों को गिनाया था । आनन्द- वर्धन ने इन समस्त अलंकारों का विवेचन करने के [illegible] बाद , अप्रस्तुतप्रशंसा को भी जोड़ा है । किन्तु ,अभिनवगुप्त ने अलंकारों की संख्या में अभिवृद्धि की तथा व्याजस्तुति और भावालंकार-इन दो अन्य अलंकारों को भी जोड़ दिया ।

अभिनवगुप्त , जैसे अभी तक सभी अलंकारों का उदाहरण देते आए हैं, वैसे

'व्याजस्तुति' का लक्षण नहीं देते केवल उदाहरण देते हैं -

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

यहाँ राजा की प्रशंसा रूप जो व्यंग्यार्थ निकल रहा है, उससे वाच्यार्थ ही अलंकृत हो रहा है ।

इसके बाद अभिनव ने एक और व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है - 'आचीन्नाथ पितामही तव मही....' इत्यादि जो सम्भवतः उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य का है या किसी पूर्ववर्ती ध्वन्यालोक के टीकाकार का । अभिनव ने इसमें ग्राम्यत्व दोष बताया है और उस उदाहरण की उपेक्षा भी की है ।

तदनन्तर अभिनव रुद्रट के अनुसार भावालंकार का लक्षण और उदाहरण देते हैं । रुद्रट ने भावालंकार के दो प्रकार बताए हैं ।[1] अभिनव ने, रुद्रट के इन दोनों प्रकारों में से[2], प्रथम का केवल लक्षण लिया और दूसरे का केवल उदाहरण । और लोचन में इस प्रकार कहा[3] -

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावो सौ ॥

इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं -

'यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिविकारोऽप्रतिबन्धो नियतः[4] प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्दृष्टोपयोग्यत्वादि-लक्षणोऽसौ भावालंकारः' ।

यथा-

१- रुद्रट काव्यालंकार पृ० ८२-८३

२- लो० पृ० १२६-१३०

३- लोचन में- 'प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु' पाठ मिलता है, किन्तु रुद्रट के काव्यालंकार में 'प्रभवन्नप्रतिबद्धेन' पाठ है ।

४- 'अप्रतिबन्धो नियतः' के स्थान पर 'अप्रतिबद्धो नियतः' पाठ अधिक उपयुक्त है ।

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ।।

अभिनव के अनुसार यहाँ एक एक पद है जो व्यंग्यार्थ निकल रहा है, वह वाच्यार्थ को ही उपस्कृत कर रहा है । अतः यहाँ वाच्यार्थ ही प्रधान है।

यदि व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता तो यह अलंकार की कोटि में नहीं आता इसे वे पहले कह चुके हैं - इतना कह कर अभिनव कहते हैं - 'इत्यलं बहुना'। अभिनव जब आनन्दवर्धन द्वारा कथित पर अलंकारों के अतिरिक्त अलंकारों की चर्चा करने लगे तब 'इत्यलं बहुना' कह कर पुनः प्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करते हैं । अभिनव को स्थान स्थान पर 'इत्यलं बहुना' कहना पड़ता है । किन्तु आनन्दवर्धन को इस प्रकार के प्रयोग का कहीं अवसर ही नहीं, क्योंकि उनका विवेचन प्रवाहमय एवं सरल है, उसमें कहीं अव्यवस्था, उलझन या अवान्तर चर्चा नहीं है

:४: <u>रसादि अलंकार</u> -

यद्यपि अन्य आचार्यों ने रसवदलंकार का उल्लेख किया था किन्तु आनन्दवर्धन ने उसके विषय में नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा 'जिस काव्य में अन्य अर्थ प्रधान रूप से वाक्यार्थ हो और उसके जो रसादि अंग हों वे रसादि अलंकार के विषय होते हैं । जैसे कि चाटु के विषय में 'प्रेयोऽलंकार' के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अंगभूत देखे जाते हैं ।'[2]

१- डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय के मत में - 'दूसरे प्रकार के भावालंकार के उदाहरण में रुद्रट ने अर्थान्तर का अवगमन कह कर विशुद्ध व्यंजना का ही प्रकारान्तर से उल्लेख किया है और उनके उदाहरण में तो आर्थी व्यंजना की स्पष्ट झलक मिलती है । टीकाकार ने इसी उदाहरण में व्यंग्य को वाच्योपकारी दिखाने की चेष्टा की है किन्तु हमारी दृष्टि में यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण [redacted] न होकर विशुद्ध ध्वनि का उदाहरण प्रतीत होता है ।' ध्वनि०सि०वि०वि०आ०-पृ० २०

२-(१) ध्व०लो० १९१-१९२ (२) यहाँ एक तथ्य अवधेय है- आनन्दवर्धन ने रसादि अलंकार पद का प्रयोग किया है किन्तु अभिनवगुप्त इसे रसवदलंकार संज्ञा से अभिहित करते हैं।

आनन्दवर्धन ने रसादि-अलंकार के प्रसंग में जो प्रेयोलंकार को उदाहरणार्थ रखा है उस पर आक्षेप करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं क्योंकि भामह के अनुसार -'गुरु,देवता, नृप एवं पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन[1] प्रेयोलंकार है' अतः उनके अनुसार प्रेयोऽलंकार का विग्रह इस प्रकार होगा-

'तत्र प्रेयानलंकारो यत्र स प्रेयोलंकारोऽलंकरणीय श्लोक:'

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में प्रेयोऽलंकार के मुख्य वाक्यार्थ होने के कारण वह अलंकार नहीं बल्कि[2] स्वयं अलंकरणीय है। इसलिए यहां पर अलंकार का वाक्यार्थत्व ठीक नहीं है।

किन्तु, उद्भट के मतावलम्बी इसका वाक्यभेद करके व्याख्यान करते हैं अतः उनके अनुसार यहां रसवद्-अलंकार का विषय भी है और प्रेयोलंकार का भी है। यह तात्पर्य 'अपि' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है। अतः यहां रसादि अलंकार[3] से रसवत्, प्रेय:, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार उपलक्षित हो रहे हैं।

:5: आनन्दवर्धन (ध्व०३।३६ में) कहते हैं वाच्यालंकारों में व्यंग्यांश का अनुगमन होने पर अतिशय शोभा आ जाती है। जैसे - दीपक, समासोक्ति आदि अलंकारों में प्राय: व्यंग्य अलंकारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले देखे जाते हैं। क्योंकि सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति गर्भता हो सकती है, और महाकवियों द्वारा योजित होने पर तो निश्चय ही उसमें अपूर्व शोभा आ जाती है।[4] जैसा भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में कहा है -

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। [5]
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

१- लोचन पृ० १६२
२- 'न त्वलंकारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्' - वही पृ० १६२
३- जहां भी रसादि शब्द का प्रयोग है उससे रस के साथ भाव, तदाभास तथा भावशान्त्यादि गृहीत होते हैं। ये रसादि किसी के अंग के रूप में होने पर क्रमशः रसवत्, प्रेय:, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार कहलाते हैं।
४- ध्व०पृ० ४६४-४६५ ५- भामह - काव्यालंकार २।८५

अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन द्वारा कथित- सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति गर्भता पर ,और उसकी पुष्टि हेतु उद्धृत भामह के कथन पर शंका करते हुए कहते हैं -

'गर्भातिशयोक्ति: सर्वालंकारेषु व्यंग्यतयान्तर्लीनैवास्ते इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो भामहोऽतिशयोक्तिं सर्वालंकारसामान्यरूपामवादीत् । न च सामान्यं शब्दाद्विशेष प्रतीते: पृथग्भूततया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यंग्यत्वमित्याशंक्याह-भामहेनेति। भामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्ध: ।'[1]

अर्थात् अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में व्यंग्यरूप से अन्तर्लीन रहती है - यह कथन कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि भामह अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का सामान्य रूप कहते हैं । सामान्य शब्द से विशेष की प्रतीति नहीं होती । अत: इसका व्यंग्यत्व कैसे होगा ? - इतना कहने के बाद अभिनवगुप्त इसका एक समाधान देते हैं-

भामह ने जो कहा है , वहाँ यह समझना चाहिए कि यह दूर से सम्बन्ध है, इसका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है ।

प्रस्तुत स्थल पर दूर से सम्बन्ध वाली बात वस्तुत: अस्पष्ट है । और भामह के कथन में जो शंका अभिनवगुप्त ने उठाई है उसका समाधान भी नहीं किया है ।

(6) संघटना-

आनन्दवर्धन - 'गुणाश्रित संघटना' मानते हैं । अभिनवगुप्त भट्टोद्भट के निम्न कथन को - उद्धृत करते हुए कहते हैं -

'आश्रयभूतानिति । संघटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादय:, धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्ग:'[2]

इस प्रकार भट्टोद्भट के कथन से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि आनन्दवर्धन और भट्टोद्भट में गुणाश्रित संघटना के विषय में मतैक्य है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने अपनी प्रतिज्ञा[3] अनुसार पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के वाच्य-भाग का विस्तृत विवेचन नहीं किया है । उपयोगानुसार उनका अनुवचन-मात्र किया है । किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने

१- लो० पृ० ४६६-४६७ २- वही पृ० ३२०

३- ध्व० १।३

अवसर पाकर सभी का विस्तृत विवेचन किया है। ध्वन्यालोक के व्याख्यान के प्रसंग में अभिनवगुप्त का यह प्रयत्न नि:सन्देह स्तुत्य है। इस से प्रतीत होता है कि उनके हृदय में पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति आस्था है। इसीलिए अवसर आने पर उनका स्मरण अवश्य कर देते हैं। किन्तु जब वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकारों के उदाहरण का विश्लेषण करते हुए उनमें दोषदर्शन कराने लगते हैं, तब वह व्यर्थ का विस्तार मात्र प्रतीत होता है।

-----:o:-----

कारिका और वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के कारिका भाग एवं वृत्तिभाग के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा एक ही, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । इस प्रकार के विद्वानों के दो वर्ग हो जाते हैं -

(१) पहले वह जो कारिका और वृत्तिभाग के कर्ता को भिन्न मानते हैं । तथा

(२) दूसरे, वह जो कारिका और वृत्तिभाग के कर्ता को अभिन्न मानते हैं ।

भिन्नकर्तृत्व विषयक समस्या का प्रारम्भ सर्वप्रथम डा० बूलर ने 'कश्मीर-रिपोर्ट' में किया था ।[१] तदनन्तर, महामहोपाध्याय श्री पी०वी० काणे ने अपने सुप्रसिद्ध अलंकार-साहित्य के इतिहास में भिन्नकर्तृत्व की समस्या उठाई और अनेक प्रमाणों के आधार पर भिन्नकर्तृत्व के पक्ष को उपस्थित किया । इस भिन्नकर्तृत्व के समर्थक आचार्यों में डा० सुशीलकुमार दे, प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान हैं ।

इसके विपरीत, कारिकाभाग एवं वृत्तिभाग के लिए अभिन्नकर्तृत्व के समर्थक विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी था । जिनमें महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री, डा० सातकरी मुकर्जी, डा० शंकरन्, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डा० कृष्णमूर्ति आदि विद्वान हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कारिकाभाग और वृत्तिभाग के भिन्नकर्तृत्व एवं अभिन्नकर्तृत्व विषयक प्रश्न विद्वानों के मध्य बहुचर्चित विषय रहा है । अतः इस विषय में कुछ भी कहना पिष्टपेषण ही होगा । तथापि लोचन के मूल्यांकन के प्रसंग में इस तथ्य पर भी कुछ कहना अनिवार्य है ।

१- "From Abhinavagupta's tika it appears that verses (कारिका) are the composition of some older writer, whose name is not given, but it is remarkable that they contain no मंगलाचरण (पृ० ६५ श्री विष्णुपाद भट्टाचार्य के ध्वन्यालोक पर introduction से उद्धृत) ।

(१) भिन्नकर्तृकत्व -

भिन्नकर्तृकत्व विषयक समस्या के स्रोत का मूल आधार अभिनवगुप्त का 'लोचन' ही है। अभिनवगुप्त स्थल-स्थल पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हैं। इसके प्रमाणार्थ 'लोचन' के निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं -

१- ध्वन्यालोक के तीन प्रकार के ध्वनि विरोधी कहे गए हैं - अभाववादी, अन्तर्भाववादी एवं अनिर्वचनीयतावादी। इनमें से प्रथम उद्योत में प्रथम दो का विवेचन तो मिलता है किन्तु तृतीय का निरूपण केवल वृत्ति में मिलता है। इस असंगति और पूर्ति पर प्रथम उद्योत में लोचन में अभिनवगुप्त लिखते हैं -

'एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अतएव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति'।[१]

तदनन्तर प्रथम उद्योत के अन्त में कहते हैं -

'तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत् 'स च द्विविधः' इति।'[२]

२- ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में ध्वनि भेदों का विवेचन किया गया है, किन्तु प्रथम उद्योत में भी ध्वनि के सामान्यतः दो भेद बतला दिए गए थे - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अतः द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में उस पूर्वोल्लिखित प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए कहा गया है -

'एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते' -

---

१-लो० पृ० १६२-१६३

२- वही पृ० १६३।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥[1]

इस पर अभिनवगुप्त लिखते हैं -[2]

(१) वृत्तिकारः संगतिमुपक्रमते रचितमित्यादि ।

(२) प्रकाशित इति मया वृत्तिकारेण सतीति भावः ।

(३) न चैतन्मयोत्प्रेक्षितम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति । तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते । यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः ।

(४) यद्वा तत्रेति पूर्वशेषः, तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षित-वाच्यस्य यः प्रभेदोऽर्थान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते ।

(५) तदर्थान्तरमेवप्रतिपादनद्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदः विवक्षितान्यपरवाच्यात् प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते, भवति मुख्यो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः ।

३- द्वितीय उद्योत में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उभयध्वनि भेदों को ध्वन्याभासों से पृथक् करके, अन्त में यह कारिका लिखी - यतः,

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।

यद् व्यंग्यस्यांगिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥[3]

अन्तिम कारिका की संगति लगाने के लिए वृत्तिकार ने 'यत्' पद का प्रयोग किया । इस 'यतः' पर लोचनकार लिखते हैं -

'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदति इत्यभि-प्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति यत् इति'।[4]

४. तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में कहा गया है -

एवं व्यंग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यंजकमुखेनैतत्प्रकाश्यते[5]

१- ध्व० पृ० १६५ २- लो० पृ० १६५-१६६

३- ध्व० पृ० २८६ ४- लो० पृ० २८६

५- ध्व० पृ० २८८-२८९

इस पर अभिनवगुप्त आपत्ति करते हैं -

'यस्तु व्याचष्टे - व्यंग्यानां वस्त्वलंकाररसानां मुखेन इति च एवं प्रष्टव्यः एतत् तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम् , वृत्तिकारेण तु दर्शितम्, न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति, तदस्य इदं कृतमिदं क्रियत इति कथमिदे का संगतिः ? न चैतावता वक्तव्यातमनुगन्यसंगतिः कृता भवति ।'[1]

५- व्यंजकों के भेदों का प्रतिपादन करते हुए कारिका में कहा गया है -

'श ष रेफ संयोगयुक्त अनेक ढकार शृंगार के विरोधी होते हैं किन्तु वे ही बीभत्सादि के लिए अनुकूल होते हैं।'[2]

इसमें पहले अभाव दिखलाया गया है और पीछे सद्भाव । वृत्तिभाग में कहा गया है -

कारिकाओं के द्वारा - अन्वय व्यतिरेक प्रस्तुत करते हुए वर्णों की व्यंजकता का विवेचन किया गया है ।[3]

यहां 'अन्वय' का उल्लेख पहले किया गया और 'व्यतिरेक' का बाद में । अन्वय= सद्भाव और व्यतिरेक= अभाव है । इस प्रकार 'कारिका' क्रम 'वृत्ति' में उलट गया । इस पर अभिनव गुप्त लिखते हैं -

'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेकः उक्तः .... पश्चादन्वयः वृत्तिकारेण तु..... अन्वयः पूर्वमुपात्तः'[4] ।

६- कारिका में कहा गया कि 'रस आदि के आधार पर बनाया गया काव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाता है' फिर लिखा गया 'मधुमास में वृक्षों के समान दृष्टपूर्व अर्थ भी रसपरिग्रह के कारण नवीन प्रतीत होने लगते हैं' ~~रसपरिग्रह के कारण~~ । इन दोनों के बीच सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि दूसरा वक्तव्य प्रथम वक्तव्य के समर्थन के लिए है । इस पर लोचनकार ने लिखा -

'यद्यप्यानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः'[5]

१- लो० पृ० २८९-२९०

२- ध्व० ३।३ और ३।४ पृ० ३०३

३- वही पृ० ३०३

४- लो० पृ० ३०४

५- लो० पृ०

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथनों को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारिका और वृत्ति में भिन्नकर्तृकत्व की समस्या का समाधान करने का सम्पूर्ण दायित्व अभिनवगुप्त पर ही है। साथ ही, भिन्नकर्तृकत्व स्वीकार करने पर दोनों भाष्यों के ग्रन्थ नाम एवं कर्ता नाम विषयक अनेक असंगत समस्याओं का उद्भव होता है। अतः भिन्नकर्तृकत्व वाला पक्ष ठीक नहीं है।

२. अभिन्नकर्तृकत्व -

अभिन्नकर्तृकत्व वाला पक्ष ठीक है। वस्तुतः कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न नहीं लगते। क्योंकि -

अभिनवगुप्त ने 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्'[1] की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' का अर्थ तो आनन्दवर्धन किया किन्तु सहृदय का अर्थ तन्नामक कोई व्यक्ति नहीं किया, प्रत्युत यही कहा कि इस ग्रन्थ के रचयिता (आनन्दवर्धन) सहृदयचक्रवर्ती हैं क्योंकि उनका मन अतिस्वच्छ है। अभिनवगुप्त ने यहाँ आनन्दवर्धन को ही ग्रन्थकृत कहा है। यह तथ्य उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है -

(१) 'आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां गच्छत्विति भावः'[2]।

(२) 'तथा मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृदयचक्रवर्तित्वमित्ययं ग्रन्थकृत इति यावत्'[3]

इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन को ही सहृदय कह रहे हैं।

यदि आनन्दवर्धन वृत्तिभाग के रचयिता हैं तो ऐसी कौनसी रुकावट थी जो उन्होंने 'सहृदय' शब्द की व्याख्या में यह स्पष्ट नहीं लिखा कि यह कारिकाकार का नाम है।

१- ध्व० पृ० ३८ २- वही पृ० ४१

३- वही पृ० ४१

वस्तुतः कारिकाकार एवं वृत्तिकार अभिन्न हैं फिर भी अभिनवगुप्त इन्हें भिन्न मान रहे हैं । सम्भवतः अभिनवगुप्त यह चाहते हों कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार पृथक् पृथक् रख कर देखे जाएं । अभिनवगुप्त अभेद जानते हुए भी भेद करके बोलने के आदि हैं ।

यदि ध्वन्यालोक ग्रन्थ दूसरे आचार्य का बनाया हुआ होता तो आनन्दवर्धन अपने ऊपर सम्पूर्ण ग्रन्थ का श्रेय क्यों लेते ? आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं -

सत्काव्यतत्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥[1]

यदि मूलग्रन्थ आनन्दवर्धन का न होता तो आनन्दवर्धन उसके विषय में कुछ न कुछ अवश्य संकेत करते । एक आचार्य के पक्ष में इस प्रकार दोनों भागों- कारिका और वृत्ति में भेद मानना सर्वथा अन्याय है ।

वस्तुतः उस समय की यह शैली ही थी । वामन ने स्वयं सूत्र लिखा और उस पर वृत्ति लिखी । उसी प्रकार आनन्दवर्धन ने भी कारिका और वृत्ति लिखी अतः यहां विप्रतिपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं ।

निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक की कारिकाओं के रचयिता और उसकी वृत्ति के रचयिता वे अभिन्न हैं । भेद की दिशा अभिनवगुप्त की देन है ।

निष्कर्ष -

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का अध्ययन करने पर निम्नलिखित स्वतन्त्र तथ्य सामने आते हैं :-

१. विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ अभिनवगुप्त अपने अनुसार करते हैं ।

१- ध्व० पृ० ५५२-५५३ ।

२. व्यंग्यार्थ के त्रिविध भेद- वस्तु, अलंकार एवं रस को व्यंग्य का भेद न कह कर ध्वनि का भेद मानते हैं।

३. ध्वनि के पांच अर्थ करते हैं - व्यंग्य अर्थ, वाचकशब्द वाच्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और समुदाय रूप काव्य।

४. ध्वनि के उपभेदों में जहां आवश्यकता पड़ी अपने अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेते हैं।

५. अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के अतिरिक्त तात्पर्य शक्ति को भी मानते हैं।

६. शान्तरस का स्वरूप और उसके स्थायीभाव का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से किया है। और शान्त रस को रसराज माना है।

७. और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है - अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त। जिसे उन्होंने शैवाद्वैत के रंग में रंग दिया।

८. अभिनवगुप्त के लोचन में अलंकार के प्रसंग में विशेष रूप से भामह, उद्भट, वामन आदि को उद्धृत किया है, जिससे उनकी व्याख्या सम्पन्न हो गई है और आनन्दवर्धन का मन्तव्य भी स्पष्ट हो गया है। किन्तु कभी-कभी व्यर्थ का विस्तार सा प्रतीत होने लगता है।

९. ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्तिभाग के रचयिता आनन्दवर्धन ही हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में कारिका और वृत्ति भाग के कर्ता को भिन्न-भिन्न माना है।

-----:o:-----

पंचम - अध्याय

क्षेमेन्द्र का परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव

पिछले अध्याय में लोचन के विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में अपने अभिनव मतों को गुप्त ढंग से सन्निवेशित किया है, जिसका प्रभाव परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर स्पष्टत: परिलक्षित होता है। अत: पिछले अध्याय में अभिनवगुप्त के जिन नवीन तथ्यों को खोजा गया है, उन्हीं तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के मतों का विश्लेषण करेंगे।

व्यंग्य अर्थ और ध्वनि में ऐक्य की भ्रान्ति :-

व्यंग्य के तीन भेद हैं - वस्तुव्यंग्य, अलंकार-व्यंग्य एवं रसादिव्यंग्य। किन्तु अभिनवगुप्त इन्हें वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसादिध्वनि संज्ञा से अभिहित करते हैं, जिससे व्यंग्य अर्थ एवं ध्वनि के स्वरूप में ऐक्य की भ्रान्ति होती है। वस्तुत: ध्वनि एवं व्यंग्य अर्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अभिनवगुप्त की व्याख्या से इन दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है। परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों के पार्थक्य को समझ लिया, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो अभिनवगुप्त का ही अनुकरण करते हैं।

आचार्य मम्मट की दृष्टि 'तत्व का अन्वेषण' करने में बड़ी पैनी है। वह अभिनवगुप्त के मत को उसी स्थान पर अपनाते हैं, जहां उन्होंने कोई विशेष बात कही हो, अन्यथा वह आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं। व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन ध्वनि के साथ करते भी हैं, तो बड़े विवेक के साथ। यथा-

'संक्षेपेण पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा:, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि

विवक्षितं किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्वन्यथा । तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति । अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलंकाररूपम् । ..... रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः[1] ।

इन पंक्तियों में 'अस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः' - पर अभिनवगुप्त का कोई प्रभाव नहीं है, जो ध्वनि के तीन भेद: वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि आनन्दवर्धन के अनुसार मानते हैं। आचार्य मम्मट ने जो इस प्रकार कहा है -

'संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्' ।

इसका तात्पर्य यह है कि - ध्वनि तो अनन्त भेदों वाला है, किन्तु उसमें वस्तु, अलंकार एवं रसादि त्रिविध रूप से व्यंग्य होते रहते हैं ।

हेमचन्द्र काव्यानुशासन में व्यंग्यार्थ का उदाहरण इस प्रकार देते हैं -

'मुख्याव्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः'[2] ।

और इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं -

'मुख्यगौणलक्ष्यार्थव्यतिरिक्तः प्रतीतिविषयो व्यंग्योऽर्थः । स च ध्वन्यते द्योत्यते इति ध्वनिरिति पूर्वाचार्यैः संज्ञितः । अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रिधा'[3] ।

हेमचन्द्र अतिकुशलता से वस्त्वलंकार एवं रसादि का प्रतिपादन कर रहे हैं । किन्तु यदि 'अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रिधा' इस पंक्ति को 'व्यंग्योऽर्थः' के ठीक बाद रख देते तो यह स्पष्ट हो जाता कि यह त्रिविध भेद व्यंग्यार्थ के लिए ही कहे गए हैं, 'ध्वनि' के लिए नहीं ।

श्री विद्याधर एकावली के प्रथम उन्मेष में ध्वनि की स्थापना के प्रसंग में ध्वनि और व्यंग्यत्रय को बड़े विवेक के साथ प्रस्तुत करते हैं - 'तस्मादस्ति ध्वनिः । अयं च वस्त्वलंकाररसादि रूपतया भवन्न त्रैविध्यमतिवर्तते'[4] ।

किन्तु अभिनवगुप्त के प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते । उपर्युक्त पंक्तियों के साथ इतना और कह देते हैं - 'वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिः रसादिध्वनिश्चेति'[5] ।

१- काव्यप्रकाश पृ० २१६-२१७ २- काव्यानुशासन पृ० ३०

३- काव्यानुशासन, पृ० ३१ ४- एकावली पृ० ५२-५३

५- एकावली पृ० ५२-५३

यदि इसी तथ्य को एकावलीकार इस प्रकार कहते -

'तस्मादस्ति ध्वनि: । अयं च वस्त्वलंकाररसादिरूपतया (व्यंग्य) भवन्न त्रैविध्यमतिवर्तते । वस्तुव्यंग्य अलंकारव्यंग्य, रसादिव्यंग्यश्चेति'।

तो अधिक उपयुक्त होता । क्योंकि वस्तु,अलंकार एवं रसादिरूपेण व्यंग्य होता हुआ ध्वनिकाव्य अनन्त प्रकार का हो जाता है । वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहने पर ये ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं वस्तुत: यह ध्वनि के भेद नहीं, व्यंग्यार्थ के भेद हैं ।

आचार्य विश्वनाथ भी ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के पार्थक्य को नहीं समझ पाए । उन्हें भी दोनों में ऐक्य की भ्रान्ति हो ही गई ,इसी कारण वे कहते हैं-

'यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्- काव्यस्यात्मा ध्वनि: इति तत्किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनि: काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ?.....

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनि: काव्यस्यात्मा, तदा -

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि । मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जिहिसि ।

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ?[1] इत्यादि ।

वस्तुत: ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का सिद्धान्त इतना सरल है कि उसमें किसी प्रकार की शंका का अवकाश नहीं है । किन्तु फिर भी आचार्य विश्वनाथ ध्वनिकार पर आक्षेप कर रहे हैं । यदि अवधानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका के ही कारण साहित्यदर्पणकार उपर्युक्त शंका कर रहे हैं । क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त वस्तु, अलंकार एवं रसादि रूप त्रिविध व्यंग्यार्थ को क्रमश: वस्तुध्वनि,अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहते हैं , जिसके कारण यह ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं । इसी कारण आचार्य विश्वनाथ काव्यस्यात्मा ध्वनि: पर इस प्रकार शंका करते हैं कि -

'वस्तु,अलंकार एवं रसध्वनि तीनों को काव्य की आत्मा माना जाए अथवा केवल रसध्वनि को । यदि रसध्वनि मात्र को काव्य की आत्मा माना जाएगा तो

१- साहित्यदर्पण पृ० १७

वस्तु एवं अलंकारध्वनि कैसे काव्य की आत्मा बनेंगे ?

वस्तुत: आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के वास्तविक स्वरूप को आनन्दवर्धन के अनुसार नहीं समझा है।[१] उनका ध्यान अभिनवगुप्त की व्याख्या की ओर अधिक है, इसी कारण उन्होंने इस प्रकार की शंका की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि जहां तक ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के स्वरूप के पार्थक्य का सम्बन्ध है, लगभग सभी परवर्ती आचार्य, आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त से अधिक प्रभावित हुए हैं।

कविकर्णपूरगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ अलंकारकौस्तुभ में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के पांच अर्थों[२] - व्यंग्यार्थ, वाचकशब्द, वाच्य अर्थ, व्यंजना-व्यापार और समुदाय रूप काव्य पर आक्षेप करते हुए कहते हैं -

'न तु ध्वननं ध्वनिरिति भावसाधनं, तथा सति ध्वन्यर्थविषयज्ञानेऽपि ध्वनि: व्यवहारापत्ते: । न वा ध्वन्यतेऽनेनेति करणसाधनं, तथा सति ध्वनिकरणे काव्येऽपि 'ध्वनि' व्यवहारापत्ते: । न वा ध्वन्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणसाधनं, रसादयध्वनेरन्ये ध्वनयस्तु प्राणा, रसादयस्तु ध्वनिरात्मेत्यदोष: ।'[३]

१- आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के पार्थक्य का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि एक 'काव्य प्रकार' है और उस ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व त्रिविध 'व्यंग्यार्थ' है। अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि काव्य सामान्य का आत्मा ध्वनि काव्य विशेष है और उस ध्वनिकाव्य का रहस्यभूत तत्त्व त्रिविध व्यंग्यार्थ है।

२- अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादित लो० पृ० १०५-१०६

तेन वाच्योऽपि ध्वनि: वाचकोऽपि शब्दो ध्वनि:, द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । सम्मिकृते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनि:, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्द: [redacted] शब्दव्यापार:, न चासावभिधादिरूप: अपि त्वात्मभूत:, सोऽपि ध्वनि: । काव्यमितिव्यपदेश्यश्च योऽर्थ: सोऽपि ध्वनि: । उक्तप्रकार ध्वनि-

कविकर्णपूरगोस्वामी ने [redacted] 'ध्वननं ध्वनिः' 'ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः' एवं 'ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनिः' का निराकरण करते हुए , केवल 'ध्वन्यते यावदिति ध्वनिः' - इस प्रकार ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है ।

और एक नई सम्भावना भी इन्होंने की है - वे 'रस' को आत्मा और 'ध्वनि' को प्राण कहते हैं । इनकी यह बकुला बड़ी विचित्र है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राण और आत्मा के माध्यम से आनन्दवर्धन के 'योऽर्थः सकृदयवत्ताप्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' और 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' (ध्व. १/२) में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के अर्थ को स्पष्ट करना चाह रहे हैं । क्योंकि पहली कारिका में वस्तु अलंकार एवं रसादि व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा गया और ध्व० १।४ में 'रसव्यंग्य' का ध्वनिकाव्य में प्राधान्य बताया गया है । इसी दृष्टि से कविकर्णपूरगोस्वामी रसादि को ध्वनिकाव्य का प्राण और रस को ध्वनि की आत्मा कह रहे हैं । इससे कुछ हद तक आनन्दवर्धन का मन्तव्य स्पष्ट होता है किन्तु उनकी शब्दावली में अस्पष्टता है ।

'रसाद्यध्वनेरेवे ध्वनयस्तु प्राणा' - इस पंक्ति द्वारा कविकर्णपूरगोस्वामी पर भी अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है । क्योंकि यह भी 'रसाद्यध्वनि' पद का प्रयोग कर रहे हैं ।

<u>रस - प्रक्रिया -</u>

अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त का परवर्ती आचार्यों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सभी ने अभिनवगुप्त की दुहाई देकर रस प्रक्रिया को स्वीकार किया । यह बात दूसरी है कि कुछ आचार्यों ने एकाध स्थान पर थोड़ा बहुत शास्त्रीय भेद उपस्थित किया, और कुछ ने अभिनव की रस-प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार कर लिया है ।

ध्वनि विरोधी आचार्य धनंजय धनिक एवं महिम भट्ट जहां एक ओर ध्वनि का विरोध करते हैं वहीं वे दूसरी ओर रस का समर्थन करना नहीं भूलते । यथा-

धनंजय और धनिक ने रस की स्थिति सहृदयगत ही मानी है और यह स्वीकार किया है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा सहृदयगत

स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है ।[1] किन्तु वे व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार नहीं करते । अत: वे काव्य अथवा उसमें वर्णित विभावादि के साथ रस का, अभिनवगुप्त के समान व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध न मानकर भट्टनायक की भांति भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं ।[2] परिणामत: उनके मतानुसार 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति:' इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ 'भाव्य-भावक सम्बन्ध' है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भावित होना' है ।

महिमभट्ट ने 'रस' को काव्य की आत्मा माना ।[3] उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उसकी स्थिति सहृदयगत होती है । सहृदय ही स्थायीभावों का रस रूप में आस्वादन करता है, किन्तु ये स्थायीभाव वासना रूप में सहृदय के चित्त में विद्यमान नहीं होते वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब-कल्प होते हैं :

'तैरेव कारणादिभि: कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरवगत एव रत्यादय: प्रतिबिम्बकल्पा: स्थायीभावव्यपदेशभाज: कविभि:. प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वादत्वमुपयन्त: सन्तो रसा इत्युच्यन्ते'।[4]

इसका भावार्थ यह है कि रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता में नहीं होती, वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित या काव्य में वर्णित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब होते हैं । कवि कृत्रिम कारण रूप विभावादि के द्वारा इन्हें प्रमाता की प्रतीति का विषय बनाता है और तब उसकी सहृदयता के कारण आस्वाद्य होकर ये प्रतिबिम्बकल्प स्थायीभाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं ।

किन्तु इस प्रक्रिया का आधार व्यंजना नहीं है , रस अनुमान से ही सिद्ध हो

१- (१) क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभि: ।
स्वोत्साह: स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभि: ।। दशरूपक ४।४१,४२

(२) विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि: ।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस: स्मृत: ।। वही ४।१,

२- अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभाव:, किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्ध:। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादय: ।(दशरूपकावलोक पृ० १५८)

४- व्यक्तिविवेक - पृ० ७६

जाता है, विभावादि गमक हैं और रत्यादि भाव, जो अनन्तर: रस रूप हो जाते हैं, गम्य हैं ।[१]

अत: महिमभट्ट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति और संयोग का अर्थ हुआ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध । इस प्रकार रस के स्वरूप के विषय में महिमभट्ट का मत जहां अभिनवगुप्त के अनुकूल है, वहां प्रक्रिया के विषय में वे शंकुक से ही सहमत हैं ।

मम्मट ने भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक एवं भट्टनायक के मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करते हुए अन्त में अभिनवगुप्त के ही मत पर अपनी आस्था प्रकट की है। मम्मट का स्पष्ट उद्देश्य काव्यशास्त्र की रचना करना था, अत: उनकी दृष्टि काव्य के विवेचन पर ही केन्द्रित रही है - दर्शन का उपयोग भी उन्होंने यथास्थान किया है किन्तु उसकी सूक्ष्मताओं में वे कहीं नहीं उलझे । फलत: उनके ग्रन्थ में विशेष मौलिक स्थापना नहीं है- उन्होंने अपने ढंग से, स्वच्छता के साथ किन्तु संक्षेप में- दार्शनिक जटिलताओं से बचकर अभिनवगुप्त के मत के प्रकाश में रस-निष्पत्ति का व्याख्यान मात्र कर दिया है । 'संयोग' का अर्थ वही व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है।

मम्मट का ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि अभिनवगुप्त के मूल सिद्धान्तों को भी उसने आच्छादित कर लिया और रस-प्रसंग क्रमश: अपने आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत से विच्छिन्न होता गया । उधर भारत में शांकर वेदान्त का प्रचार और प्रसार बढ़ रहा था जिसका प्रभाव साहित्य तथा साहित्यशास्त्र पर भी पड़ा । फलत: रस-सिद्धान्त पर शैवाद्वैत का प्रभाव कम और शांकराद्वैत का रंग गहरा होने लगा । इस परिवर्तन के संकेत थोड़े बहुत विश्वनाथ में भी मिल जाते हैं, यद्यपि विश्वनाथ दार्शनिक की अपेक्षा साहित्य-रसिक ही अधिक थे, किन्तु

१- त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमका: । त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्या: ।

चरम परिणति मिलती है पण्डितराज जगन्नाथ में जिन्होंने अभिनव के रस-सिद्धान्त को नव्य-न्याय से परिपुष्ट करके वेदान्त में सर्वथा निमज्जित कर दिया। विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के स्वर में ही कहा :

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम् ॥[1]

अर्थात् सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासनारूप रति आदि स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

यहां एक तथ्य अवधेय है : कि आचार्य विश्वनाथ यह नहीं मानते कि जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है उसी प्रकार विभावादिकों से रस व्यक्त होता है, बल्कि उन्होंने 'व्यक्तः'[2] का अर्थ किया - दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना। कहने का अभिप्राय यह है कि 'निष्पत्ति' का वास्तविक अर्थ विश्वनाथ 'परिणति' ही मानते हैं, यद्यपि 'व्यक्ति' या 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग वे बराबर करते हैं और अभिनव के उद्धरण से ही अपने मन्तव्य की पुष्टि करते हैं :

तदुक्तं लोचनकारैः रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः। इति।[3]

आगे चलकर विश्वनाथ रस का स्वरूप वर्णन करते हैं :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥[4]
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥[5]

१- साहित्यदर्पण ३।१

२- व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर परिणतो व्यक्तिकृत एव रसः । न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते । वही पृ० ४७

३- वही पृ० ४७ ४-५, वही पृ० ३।२,३।३, पृ० ४८-४९

जो अखण्ड स्वयंप्रकाशरूप, आनन्दमय, चिन्मय, अन्य ज्ञान के स्पर्श से शून्य एवं ब्रह्मास्वाद के अत्यन्त समकक्ष हैं और लोकोत्तर चमत्कार जिसका सार है, ऐसे रस का कोई (पुण्यवान्) वासनात्म्य संस्कार से युक्त सहृदय व्यक्ति स्वाकारवत् अभिन्नत्वेन आस्वादन करता है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पुनः भट्टनायक की ही शब्दावली है- 'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय..... परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति'- जिसमें अभिनव के सिद्धान्त के प्रकाश में संशोधन कर दिया गया है । ये संशोधन सत्वोद्रेक की व्याख्या में तथा स्वाकारवत् एवं अभिन्नत्वेन पदों के प्रयोग में निहित हैं । भट्टनायक जहां रस की स्थिति में रजोगुण और तमोगुण का अनुबन्ध भी स्वीकार करते हैं, वहां विश्वनाथ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः' को अनिवार्य मानते हैं । इसी प्रकार रस का आस्वादन आत्मा के निजी रूप के आस्वादन से अभिन्न है - अर्थात् रसास्वाद आत्मास्वाद का ही रूप है । ये दोनों संशोधन अभिनव के मतानुसार ही किए गए हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

एक स्पष्ट भेद और भी है -'चमत्कार' का अर्थ विश्वनाथ ने 'विस्मय' किया है जो अनधिकृत है और पूर्वाग्रह का परिणाम मात्र है । विश्वनाथ ने अभिनव की शब्दावली को छोड़ कर सामान्य वेदान्ती शब्दावली का ही प्रयोग किया है ।

रस-प्रसंग में अन्तिम प्रसिद्ध नाम पण्डितराज जगन्नाथ का है । पण्डितराज ने रस गंगाधर के प्रथम आनन में रस-विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख एवं विवेचन किया है उनकी विवेचना से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के मत में उनकी पूर्ण आस्था है । अभिनव का रस-सिद्धान्त अद्वैत पर आश्रित है, परन्तु यह प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित शैवाद्वैत है जो आत्मतत्व के साथ-साथ उसकी आभासरूप प्रकृति को भी सत्य एवं आनन्दमय मानता है । पण्डितराज ने अभिनव के अद्वैत और उसके परिणामी आनन्द-सिद्धान्त को तो यथावत् ग्रहण किया है, किन्तु उसे रंग दिया शांकर वेदान्त के रंग में । इस अन्तर को स्वयं उन्होंने ही बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :

अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों के अनुसार अज्ञानरूप आवरण

से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस है किन्तु 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वस्तुतः रति आदि स्थायी-भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरण मुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को ।

जहाँ तक रस के स्वरूप का सम्बन्ध है, दोनों में कोई मूल अन्तर नहीं है । दोनों ही मतों में रस की नित्यता और स्वप्रकाश्यता सिद्ध है । अन्तर केवल इतना ही है कि अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण और स्थायी भाव विशेष्य है, जब कि पण्डितराज के मत में स्थायीभाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है । और यही शैवाद्वैत या शांकराद्वैत में भेद है - शैवाद्वैत में प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायीभावों में भी, चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण आनन्द की स्थिति मान्य है। किन्तु शुद्ध(शांकर) अद्वैत सिद्धान्त केवल चैतन्य को ही आनन्दरूप मानता है । इस प्रकार पण्डितराज ने अभिनव के मत को तत्त्व रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु उसकी व्याख्या में वेदान्त के अनुसार संशोधन कर दिया है ।

अभिनव के मत के अतिरिक्त पण्डितराज ने दो अन्य मतों को भी रखा है । जिनके प्रति उनकी आस्था स्पष्ट है, यद्यपि उन्होंने कहीं इस प्रकार का संकेत नहीं दिया है, फिर भी जिस आग्रह के साथ इन्होंने इसका मण्डन किया है उससे विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि ये नवीन मत विशेष कर इनमें से प्रथम मत पण्डितराज का अपना मत है । वह मत इस प्रकार है :

'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वाच्छादिते स्वात्मन्य-

---

१- इत्थं चाभिनवगुप्त मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाण श्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।

- रस गंगाधर पृ० १७

ज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्ड: समुत्पद्यमानो निर्वचनीय: साक्षि-भास्य-अनुत्तराचित्तविषयकरत्यादिरेव रस:[1] ।

अभिप्राय यह है कि -

(१) स्थायीभाव ही रस रूप में आस्वादित होता है ।

(२) व्यंजना व्यापार की सहायता से ही सहृदय को विभावादि के द्वारा स्थायी भाव की अवगति होती है ।

ये दोनों तथ्य अभिनवगुप्त के मत के अनुकूल ही हैं ।

(३) एक ओर काव्य के गुणों और दूसरी ओर उसके अपने सहृदय के गुणों के कारण प्रमाता के चित्त में एक विशेष भावना-रूप दोष का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके प्रभावयश उसकी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जा त है ।यहां दो नवीन तथ्य सामने आते हैं :

(क) भावना रूप दोष की कल्पना । और

(ख) आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना ।

(क) भावना रूप दोष की कल्पना का आधार है - नव्यन्याय द्वारा पुष्ट वेदान्त । अपने को दुष्यन्त समझने की भावना वस्तुत: यथार्थ नहीं है, इसीलिए इसे दोष कहा गया है । यह भावना वास्तव में आधुनिक आलोचना शास्त्र की समानुभूति के निकट है जिसमें कल्पना और अनुभूति दोनों का संयोग रहता है - इसे केवल कल्पना कहना पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि इसका आधार भाव है । मनोविज्ञान के अनुसार यह यथार्थ है, भ्रम नहीं है। किन्तु मायावादी शांकरवेदान्त तो आत्मानुभूति में से केवल आत्मन् को ही सत्य मानता है , अनुभूति को नहीं । इसके अनुसार जब प्रत्यक्ष जागरित अनुभूति भी पारमार्थिक दृष्टि से भ्रम है, तो कल्पित रत्यादि की अनुभूति की अयथार्थता में तो सन्देह ही क्या हो सकता है ? नव्य मत के अनुसार काव्य का अनुभव कल्पित भाव का अनुभव है जो विद्यमान न होने से असत् और अनुभूयमान होने से सत् - अत: अनिर्वचनीय है और स्वप्रमाण्य

१- रस गंगाधर, पृष्ठ -११०

से तुलमय है । वास्तविक अनुभूति और काव्यानुभूति दोनों ही इस दर्शन के अनुसार अज्ञान-रूप हैं । भेद केवल मात्रा का है क्योंकि द्वसरे में अज्ञान का आवरण अंशत: हट जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन सभी विद्याओं का आधार है और दर्शनों में भी शांकर वेदान्त सर्वाधिक सूक्ष्म-गहन एवं बुद्धि सम्मत है । किन्तु केवल बुद्धि का आंचल पकड़े रहने से साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की क्या दुर्गति हो सकती है , इसका प्रमाण पण्डितराज जैसे रसज्ञ का यह दार्शनिक रस-विवेचन जो कम से कम सहृदय का परितोष नहीं कर सकता ।

उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं के आधार पर निष्पत्ति के दो अर्थ सामने आते हैं । पहला अर्थ है अभिनव अथवा मम्मट द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्ति या व्यक्ति । व्यक्ति का अर्थ पण्डितराज के अनुसार व्यंजना नहीं है, व्यक्ति का अर्थ है आवरण से मुक्त चैतन्य का प्रकाश ।[1] जब स्थायीभाव इसी शुद्ध चैतन्य का विषय बन जाता है तो रस निष्पन्न हो जाता है । इस प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ 'आवरण मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय होना' । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अर्थ सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थों से भिन्न, शुद्ध दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है । नवीन मत के आधार पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के दो अंग हैं : एक तो व्यंजना-व्यापार के द्वारा विभावादि से आलम्बन के प्रति आश्रय के स्थायीभाव का ज्ञान 'दुष्यन्त: शकुन्तलाविषयकरतिमान्' अर्थात् दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता है और दूसरा भावना दोष के उदय से कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित सहृदय की आत्मा द्वारा शकुन्तला विषयक रति का आस्वादन जो काव्यगुण आदि के कारण अंशत: आवरणमुक्त हो जाती है । इस प्रकार व्यंजना द्वारा पहले तो आश्रयगत स्थायीभाव प्रकट होता है और फिर तादात्म्यभूत सहृदय की आत्मा द्वारा आस्वादित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है । यहां भी 'निष्पत्ति' के मौलिक अर्थ में कोई भेद नहीं है - यहां भी वह व्यक्ति की ही वाचक है जिसका अर्थ 'चित् शक्ति का विषय होना' केवल प्रक्रिया की दार्शनिक व्याख्या में ही भेद हो गया है ।[2]

१- व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित् - रसगंगाधर, पृ० ६०

२- रस-सिद्धान्त पृ० १७७-१८३ ।

इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य - मम्मट, विश्वनाथ, एवं पंडितराज जगन्नाथ के रस-सिद्धान्त के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को दार्शनिक पीठिका पर आसीन करके जिस नवीन परम्परा का भी गणेश किया था, उससे परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है ।

रस संख्या -

जहां तक रसों की संख्या का प्रश्न है - इस विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में मतैक्य है दोनों ही काव्य में नौ रस मानते हैं । इनके परवर्ती आचार्यों ने भी काव्य में नौ रस माने हैं । कुछ आचार्यों ने भक्तिरस और वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है । किन्तु नौ रस सर्वसम्मत हैं :-

१- श्रृंगार

२- हास्य

३- ~~करुण~~ करुण

४- रौद्र

५- वीर

६- भयानक

७- वीभत्स

८- अद्भुत तथा

६- शान्त

उक्त रसों में से आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रत्येक का पूर्ण विवरण नहीं दिया केवल दो रसों श्रृंगार और शान्त के विषय में उन्होंने पर्याप्त उदारता दिखाई है और इनके विषय में अवान्तर तथ्य प्रस्तुत किए हैं ।

टीकाकार होने के कारण अभिनवगुप्त ने भी अन्य रसों की अपेक्षा इन्हीं दोनों का विस्तृत विवेचन किया है । और इन दोनों में से भी शान्त के प्रति उनमें अधिक श्रद्धा है । इस तथ्य की पुष्टि अभिनवभारती के शान्त-रस विवेचन से होती है ।[१]

१- इसका विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है ।

शान्त रस-

परवर्ती आचार्यों में से धनंजय और धनिक ने नाट्य में शान्त रस का कम कर विरोध किया है । धनंजय के मत में नाट्य में शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण ये आठ ही रस होते हैं । शान्त रस के स्थायीभाव शम का अभिनय नहीं हो सकता क्योंकि शम में व्यक्ति की समस्त लौकिक प्रवृत्तियों का लोप हो जाता है और एक वीतराग, समाधिदशा उसमें पाई जाती है । इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है । अत: अभिनय की असफलता के कारण ही धनंजय नाटकादि में शान्त रस की स्थिति स्वीकार नहीं करते ।

जो आचार्य शान्त रस को स्वीकार करते भी हैं उनमें उसके स्थायी-भाव के विषय में वैमत्य है ।

भोज 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में धृति को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं-
'धृतिस्थायीभाव: वस्तुतत्त्वालोचनादिभि: व्यभिचारिभावैः वागारम्भादिभि-रनुभज्यमान: निष्पन्न: शान्त इत्यभिधीयते ।'

'अन्ये पुनरस्य शमं प्रकृतिमामनन्ति, स तु धृतेरेव विशेषो भवति ।'[१]

धृति का अर्थ भोज के अनुसार 'सन्तुष्टि' है । यथा- 'सर्वा: सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् । उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भू: ।।'

वी. राघवन् के अनुसार भोज की 'सन्तुष्टि' तृष्णाभावयुक्त अथवा शम के ही निकट है । अन्य आचार्यों की ही भांति भोज भी शम को मानते हैं किन्तु उनके अनुसार 'शम' धृति के ही अन्तर्गत आता है । क्योंकि नाट्यशास्त्र में ४६ व्यभिचारियों में शम की गणना नहीं की गई है, धृति की गणना की गई है इसीलिए वे धृति के अन्तर्गत शम को मानते हैं । कहीं-कहीं पर भोज शम को मतिविशेष के व्यभिचारी के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।[२] 'मति'- तत्त्वज्ञान का ही प्रकार है जो शम से भिन्न नहीं है । किन्तु शृंगारप्रकाश में भोज धृति को छोड़ कर शम को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं ।

१- सरस्वतीकण्ठाभरण पृ०.५१४-५१५ । २- मतिविशेष: शमो यथा-वही पृ०५२१

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद मानते हैं।[1] निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानने पर इसकी द्विविध स्थिति हो जाती है। एक ओर यह व्यभिचारि-भाव है और दूसरी ओर शान्त रस का स्थायीभाव भी। क्योंकि इसकी गणना स्थायीभावों के तुरन्त बाद और व्यभिचारिभावों की सूची में सब से पहले की गई है अतः इसकी स्थिति द्वार की देहली पर दीप[2] की भांति है जो अपने दोनों भागों में समान रूप से प्रकाश प्रस्तुत करता है।

एकावलीकार विद्याधर निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि आचार्य भरत को भी शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद ही मान्य है, और क्योंकि निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव भी है और व्यभिचारिभाव भी, इसीलिए उन्होंने स्थायीभावों और व्यभिचारिभावों के मध्य में[3] इसका नामोल्लेख किया है।

अभिनवगुप्त की ही भांति विद्याधर भी शान्त रस को अपवर्ग रूप फल देने वाला मानते हैं और उसका उदाहरण इस प्रकार देते हैं :-

भवभंगुरताविभावनादिविभावः पुलकस्तनितरंगताद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी निर्वेदः शान्तः[4]।..... ततश्चिन्मात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मकोऽपवर्गफलः शान्तः।

१- आचार्य मम्मट शान्त का लक्षण करते हुए कहते हैं -

'निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि - स्थायिताऽभिधानार्थम्। तेन -

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।'

यहां एक तथ्य विचारणीय है-आचार्य मम्मट का निर्वेद को 'अमंगलप्राय' कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि निर्वेद की उत्पत्ति तत्त्वज्ञान से होती है, जो सर्वथा मंगलरूप है। इस तथ्य की पुष्टि भट्ट गोपाल के कथन से भी होती है।- तत्त्वचिंतायां तु निर्वेदस्य न किंचिदमंगलप्रायत्वम्, प्रत्युत मंगलप्रायत्वमित्याह। पृ० The Number of Rasas. P-९९

२- वही

३- निर्वेदस्य शान्तरसस्थायित्वप्रकाशनायैव मुनिना व्यभिचारिषु प्रथमं निर्दिष्टत्वात्।.... इति स्थायिव्यभिचारिमध्येऽस्य पठनादुभयरूपत्वमस्याभिमतमिति मुनेराशयस्य लक्ष्यमाणत्वाच्च। एकावली पृ० ९७-९८

४- वही पृ० ९९

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शान्त-रस का स्थायीभाव 'शम' है । संसार की असारता का ज्ञान आलम्बन-विभाव है, आश्रम, पवित्र तीर्थ-स्थान, रमणीय एकान्तवन तथा महात्माओं का संग आदि उद्दीपन-विभाव हैं । रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं । निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव हैं ।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार 'निर्वेद'[3] शान्त रस का 'स्थायीभाव' है । सम्पूर्ण प्रपंचरूप संसार 'आलम्बन' है । सब पदार्थों में साम्य का भाव 'अनुभाव' है । मति आदि 'संचारीभाव' हैं ।[2]

इस प्रकार शान्त रस के स्थायीभाव के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों का अनुशीलन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शम और निर्वेद को शान्त-रस के स्थायीभाव के रूप में विशेष रूप से स्वीकार किया गया है । यदि निर्वेद का अन्तर्भाव शम में कर लिया जाय तो अन्य रसों की भांति शान्त रस का भी एकमात्र स्थायीभाव शम हो सकता है ।

आचार्यों में शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में वैमत्य होते हुए भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से शान्त रस का समर्थन किया है । और काव्य में नौ रस माने हैं ।

शब्द शक्तियां -

शब्द शक्तियों के प्रसंग में अभिनवगुप्त से परवर्ती आचार्य कहां तक प्रभावित हुए हैं - इस का परीक्षण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

अभिधाशक्ति - आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की चर्चा कहीं नहीं की है । किन्तु अभिनवगुप्त ने दो स्थलों पर विशेष रूप से उल्लेख किया है ।

१- साहित्यदर्पण पृ० १२१ २- द्र० रसगंगाधर पृ० १३६

३- वही पृ० १५६

(१) 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि की व्याख्या के प्रसंग में ।

(२) शब्द शक्तिमूला- अनुरणनरूप- व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ के विवेचन के प्रसंग में ।

(१) अभिनवगुप्त ने 'भ्रम धार्मिक' की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसमें 'भ्रमो' इस विधि रूप अर्थ के बाद ही 'मा भ्रमो' यह जो निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, ये दोनों विधि-निषेध रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं । विरुद्ध होने के कारण दोनों की युगपत्(एक समय में) वाच्यता नहीं है । क्योंकि अभिधा जब एक विधि रूप अर्थ को बता चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुन: निषेध रूप अर्थ में नहीं होगी ।[1] - यह नियम है कि अभिधा के विरत हो जाने पर उसका पुन: व्यापार नहीं होता ।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।'

(२) ध्वनि के भेद - शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूप व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ का विवेचन आया है । इसमें प्रथम प्राकरणिक अर्थ अभिधेय है । अत: अभिधा एक अर्थ देकर विरत व्यापारा हो जाती है, फिर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ अभिधा से नहीं निकलता, वह व्यंजकत्व व्यापार से निकलता है । यहां पर आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की चर्चा नहीं की है, केवल इतना कहा है -

'वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीत्'

अर्थात् अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात प्रसक्त न हो कि वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है, इसलिए अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिए ।[2] इत्यादि ।

१- (१) तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात् । 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधा-व्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात् । लो० पृ० ५२

(२)..... नाभिधाशक्त्या, तस्या: पदार्थ-प्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्या-व्यापारात् । वही पृ० ५८

२- ध्व० पृ० २५४ ।

किन्तु अभिनवगुप्त ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिधा के नियमन की बात एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट की है ।

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान: फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकाल:' ।

इसमें 'महाकाल' प्रभृति शब्दों से प्राकरणिक ग्रीष्म ऋतु विषयक अर्थ का बोध अभिधा-शक्ति से हो रहा है । इसके साथ अप्राकरणिक- शिव - विषयक अर्थ भी निकल रहा है । उसकी प्रतीति व्यंजना-व्यापार द्वारा ही होगी ।क्योंकि अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर उसका पुन: व्यापार नहीं होता ।[2]

परवर्ती आचार्य मम्मट ने भी अभिनवगुप्त के ही स्वर में स्वर मिला कर कहा - शब्दशक्तिमूला व्यंजना में अभिधा का संयोगादि द्वारा एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , अनभिधेय जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है,[3] उसका और उसके साथ उपमादि अलंकार का व्यंग्यत्व निर्विवाद है ।

इसी प्रसंग में श्री विद्याधर भी अभिधा के नियमन की चर्चा करते हुए कहते हैं-

जहां संयोगादि के द्वारा अभिधा की शक्ति कुंठित(अर्थात् प्रकृतार्थ में - नियन्त्रित) होने के कारण अन्यार्थ को देने में कुण्ठित हो जाती है , वहां अर्थान्तर का अवगमन कराने में व्यंजना ही समर्थ होती है ।[4]

१- ध्व० पृ० २५६

२- अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाव्यापारा:, अतएव अवयवप्रसिद्धे: समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतय: शब्दा एतमेवार्थमभिधाय - कृतकृत्या एव । तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात् ।लो०पृ० २५६-२६०

३- शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलंकारस्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम् । काव्यप्रकाश पृ० ११८

४- संयोगादिभिरभिधा कुंठिता यत्र कुण्ठतामेति ।
अर्थान्तरावगमने व्यंजनमेव क्षमं तत्र ।।

..... इत्थं संयोगादिभिरभिधायां नियमितायां यदनेकार्थस्य शब्दस्यार्थान्तरमपि यत्र क्वचन प्रतीतिगोचरीभवति तत्र व्यंजनाव्यापार एव प्रगल्भते। ह० एकावली पृ० ५८-६०

यथा -

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा -

माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृंगम् ।

मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-

मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ।।

यहाँ महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत का वर्णन किया है । नगेशम् प्रभृति शब्दों से प्राकरणिक रैवतक पर्वत विषयक अर्थ का बोध अभिधा शक्ति से हो रहा है । किन्तु साथ ही अप्राकरणिक शिव-विषयक अर्थ भी निकल रहा है जिसे बोधित कराने में अभिधा शक्ति असमर्थ है । क्योंकि वह प्राकरणिक अर्थ देकर विरत-व्यापारा हो गई है । अभिधा के अतिरिक्त उस अर्थ को तात्पर्य और लक्षणा भी देने में असमर्थ हैं । अतः उस अप्राकरणिक-शिव-विषयक अर्थ की प्रतीति कराने में व्यंजनावृत्ति ही समर्थ है ।[१]

आचार्य विश्वनाथ ने भी व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में अभिधा के नियमन की चर्चा करते हुए कहा है :-

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस न्याय से अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीनों वृत्तियों की अर्थबोधन-शक्ति के उपक्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ बोधित होता है , वह शब्दनिष्ठ अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ व्यंजना-शक्ति कहलाती है । इसके व्यंजन, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि अनेक नाम हैं ।[२]

तदनन्तर अभिधामूला व्यंजना के विषय में कहते हैं कि संयोगादि के द्वारा अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति

१- (१) अत्र तावन्न श्लेषः ।..... इत्यभिधातात्पर्यलक्षणारूपव्यापारत्रितयातिवर्ती ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादिव्यपदेशनिरूपितश्चतुर्थो व्यापारो दुरपह्नव एव । ततश्च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्याभिधानस्य ध्वनेर्महिम्ना नगेशं नगेशमिवेत्यत्रोपमालंकारः प्रतीयते । द्र० एकावली पृ० ६०-६१

(२) द्र० वही० पृ० १११

२- द्र० साहित्यदर्पण पृ० ४० ।

होती है, वह अभिधामूला व्यंजना कहलाती है।

यथा -

दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः।।

यह पद्य 'उमा' नामक महारानी के पति राजा भानुदेव की प्रशंसा में लिखा गया है। अतएव प्रकरण के द्वारा उमावल्लभः शब्द का 'उमा नामक महादेवी के वल्लभ भानुदेवनृपति' - इस अभिधेय अर्थ का बोध होता है। किन्तु शब्द रचना इस प्रकार की है जिससे गौरीवल्लभ -शंकर परक अर्थ भी व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है। और अन्त में इन दोनों (राजा और शिव) का उपमानोपमेय भाव व्यक्त होता है।[1]

लक्षणामूलक -

काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में आचार्य मम्मट ने व्यंजना से लक्षणा का भेद ध्वन्यालोक १।१७ के लोचन के अनुसार किया है। किन्तु लक्षणा के भेदों की संख्या के विषय में अभिनवगुप्त और मम्मट में किंचित भेद है। अभिनव गुप्त कहते हैं -

'अनया लक्षणया पंचविधया विश्वमेव व्याप्तम्।'[2]

किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं - 'लक्षणा तेन षड्विधा'[3]।

संभवतः आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का निरूपण 'अभिधावृत्तिमातृका' के आधार पर किया हो। क्योंकि लक्षणा का छः प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद किए हैं। वे सोलह भेद इस प्रकार हैं - पहले रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती

१- (१) द्र० साहित्य दर्पण पृ० ४०-४१ (२) द्र० वही पृ० १३४

२- लो० पृ० १५१ ३- काव्यप्रकाश -पृ० ६६

लक्षणा के दो भेद हुए । फिर इन दोनों के उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा के भेद से , दो-दो भेद होकर चार भेद हुए । फिर इन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए । फिर इन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए । मुकुलभट्ट और मम्मट ने केवल छ: भेद ही किए हैं । इस भेद का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट ने उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा ये दोनों भेद केवल शुद्धा के माने हैं, गौणी के नहीं । विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं । उनको मम्मट के छ: भेदों में मिलाकर देने पर आठ भेद बन जाते हैं । विश्वनाथ ने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजन से दो भेद करके सोलह भेद बनाये हैं । मुकुल भट्ट और मम्मट ने ये भेद नहीं किए हैं इसीलिए लक्षणा-भेद की संख्या में अन्तर हो गया है।

तात्पर्यशक्ति -

अभिनवगुप्त ने व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में व्यंजना-विरोधी - अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के तात्पर्यार्थ का खण्डन करते हुए तात्पर्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यशक्ति का प्रयोग किया है । काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त पहले आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्यशक्ति- इस संज्ञा का प्रयोग किया है । आनन्दवर्धन ने वक्ता के तात्पर्य को व्यंग्य मानते हुए , 'तात्पर्य' पद का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु तात्पर्यशक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उद्योत में तात्पर्यशक्ति का विवेचन करते हुए इसे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से भिन्न तात्पर्याख्या शक्ति माना है ।[१] इसका प्रभाव सभी परवर्ती

१- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना - तो शब्द की शक्तियां हैं किन्तु तात्पर्य वाक्य की शक्ति है । इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तियों के साथ तात्पर्यशक्ति को नहीं रखा है । किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में अनेक स्थलों पर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य तात्पर्याख्या-शक्ति की भी गणना की है और उसे द्वितीय कक्षा निविष्ट माना है । एवं व्यंजना शक्ति को चतुर्थ कक्षा में रखा है । जो आनन्दवर्धन के मत से बिल्कुल साम्य नहीं रखता । क्योंकि आनन्दवर्धन शब्दशक्तियों की केवल तीन कोटियां मानते हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ।

आचार्यों पर पड़ा । मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ आदि सभी ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के साथ तात्पर्यशक्ति का भी उल्लेख किया है । अभिनवगुप्त के ठीक परवर्ती आचार्य धनंजय और धनिक ने तो व्यंजनावृत्ति का मुक्त: खण्डन करते हुए, एकमात्र तात्पर्यार्थ को ही माना । यद्यपि धनंजय-धनिक ध्वनि विरोधी आचार्य हैं तथापि इनके द्वारा विवेचित तात्पर्यार्थ को दृष्टि में रखते हुए, यहां इनका भी विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्यंजना विरोधी धनंजय तथा धनिक एकमात्र तात्पर्यार्थ के ही पक्ष में हैं । उनके मतानुसार विभावादि तथा स्थायीभाव, रस के प्रतिपादक हैं और रस-भाव उनके प्रतिपाद्य । काव्यरूप वाक्य का एक ही कार्य अथवा प्रयोजन है - सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना । यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायीभाव के ही कारण होती है । इस प्रकार काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादकशक्ति (तात्पर्य-शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्त्व रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है । इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य-शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही तात्पर्यशक्ति रस-प्रतीति करा के पर्यवसित होती है । अत: संक्षेप में रस-प्रतीति की सरणि में काव्यप्रयुक्त पदार्थ - विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायीभाव काव्य का वाक्यार्थ है । अतएव स्थायीभाव तथा रस की प्रतीति व्यंग्य न होकर काव्य का वाक्यार्थ है और वह व्यंजना-शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का विषय है ।[1]

रस आदि को वाक्यार्थ रूप में निरूपित कर देने पर, केवल अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यशक्ति द्वारा समस्त श्रूयमाण-अश्रूयमाण पदार्थ की प्रतीति हो जाती है इसलिए व्यंजना शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है ।[2] क्योंकि काव्य में प्रतीयमान अर्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो जाता है । जहां वक्ता का तात्पर्य श्रूयमाण नहीं है, उसका काव्य में साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है, ऐसे स्थल पर भी अश्रुत-पदार्थ में तात्पर्यार्थ ही मानते हैं । क्योंकि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान वक्ता के

१- द्र० दशरूपकावलोक- पृ० २४७-२४८

२- वही पृ० २४८-२४९ ।

के प्रयोजन(कार्य) तक रहता है ।[1] जहां तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा । यथा 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि में वक्ता का प्रयोजन 'निषेधरूप' है । अत: यहां पर तात्पर्यशक्ति की सीमा निषेधार्थ तक मानी जायगी । उसका बोध कराने के बाद ही तात्पर्यशक्ति क्षीण होगी ।

इस प्रकार ध्वनि विरोधी की यह अभीष्ट है कि जब अश्रूयमाणपद-निषेधार्थ को ध्वनिवादी भी वक्ता का तात्पर्य मानते हैं तब उसे वाच्यार्थ ही मानना चाहिए , व्यंग्यार्थ नहीं ।

ध्वनिवादी का मत है - जहां वाक्य में स्वार्थ(अर्थात् वाक्य का तात्पर्यार्थ) एक बार विश्रान्त हो गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थ भिन्न प्रतीयमान अर्थ का आश्रय ले । वहां ध्वनि होगी । जैसे 'भ्रम-धार्मिक' इत्यादि में तात्पर्यार्थ विध्यर्थ में ही विश्रान्त हो जाता है , तदनन्तर निषेध रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजनावृत्ति द्वारा होती है । इस प्रकार वाक्य में स्वार्थ-विश्रान्ति की सीमा तक ही तात्पर्य माना जाएगा ।

इस बात से ध्वनि विरोधी सहमत नहीं हैं । धनिक का कहना है कि किसी भी वाक्य के तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति सीमा का निर्धारण करना असम्भव है । वह वक्ता के प्रयोजन पर ही जाकर विश्रान्त होता है । अत: तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नहीं कहा जा सकता है इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु जहां तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा वहां तक तात्पर्यार्थ भी होगा, अत: वक्ता के तात्पर्य के लिए व्यंग्यार्थ को मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस स्थल पर एक तथ्य अवधेय है कि आनन्दवर्धन ने तात्पर्यशक्ति का नाम नहीं लिया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है ।इसीलिए धनिक ने व्यंजनावृत्ति का खण्डन करते हुए कहा है कि ध्वनिवादी जब तात्पर्यार्थ और तात्पर्यशक्ति को स्वीकार कर ही रहे हैं तब उससे अतिरिक्त

१- दशरूपकावलोक पृ० २४६-२५० ।

व्यंजनावृत्ति को मानने से कोई लाभ नहीं।[1] क्योंकि जो अर्थ व्यंजनावृत्ति से निकलता है वह तात्पर्यशक्ति द्वारा ही मिल जाता है।

आचार्य मम्मट ने भी शब्दार्थ-स्वरूप का निरूपण करते हुए तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है। किन्तु उनकी शब्दावली से परिलक्षित होता है कि वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रतिपादक वाचक, लक्षक और व्यंजक रूप त्रिविध शब्दार्थ सभी ध्वनिवादियों को निर्विवाद रूप से मान्य हैं। किन्तु कुछ आचार्य वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-अर्थ के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ को भी मानते हैं।[2]

वस्तुत: यह तात्पर्यार्थ अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का है, जिनके अनुसार सर्व प्रथम पदों से केवल अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से तात्पर्यार्थ द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। वे व्यंजनावृत्ति के बिना ही वाक्यार्थ द्वारा ही सारा अर्थ निकालना चाहते हैं।

तात्पर्यार्थ का विवेचन करते हुए, आचार्य मम्मट ने बड़ी कुशलता से इस तथ्य की ओर भी संकेत कर दिया है कि जो आचार्य काव्य में तात्पर्यार्थ को मानते हैं वे मात्र अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के ऋणी हैं क्योंकि वे ही पदार्थान्वय के लिए तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करते हैं। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मीमांसकों के ऋणी इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे अन्वित पदार्थों में ही शक्ति मानने के कारण अन्वय की प्रकाशिका तात्पर्यशक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार पूरा वाक्यार्थ अभिधा द्वारा विज्ञप्त होने के कारण वाच्यार्थ ही है।[3]

इसी प्रसंग में इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में आचार्य मम्मट ने अपना मीमांसा और न्याय-विषयक

१- तात्पर्यातिरेकाच्च व्यंजकीयस्य न ध्वनि:. - दशरूपकावलोक पृ० २५६

२- स्याद्वाचको लाक्षणिक: शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।

वाच्यादयस्तदर्था: स्यु: तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।। काव्यप्रकाश २।६पृ०३४-३५

३-वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिन: - काव्यप्रकाश- पृ० २७

ज्ञान का परिचय काव्यप्रकाश के पंचम-उल्लास में दे दिया है । [1] उनका 'निमित्तानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते, सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घ व्यापार:' और 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' ध्वन्यालोक के 'भम धम्मिअ' के लोचन पर आधृत है। [2]

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने भी तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है -

'ध्वनिकार: पुनरभिधा-तात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यंजनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद्वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद्विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्'। [3]

यहाँ आचार्य रुय्यक पर भी अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्टत: पड़ा है क्योंकि वे भी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य तात्पर्य-व्यापार का नामोल्लेख कर रहे हैं । यहाँ एक तथ्य विशेषत: अवधेय है कि आचार्य रुय्यक ने ध्वनिकार(आनन्दवर्धन) की दुहाई देकर अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप व्यापारत्रय से भिन्न चतुर्थ- व्यंजन-व्यापार की स्थापना की है, वह सर्वथा असंगत है । क्योंकि ध्वनिकार-आनन्दवर्धन ने तात्पर्य को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना रूप शब्द-व्यापार के मध्य नहीं रखा है । यह अभिनवगुप्त की सूझ है ।

एकावलीकार श्री विद्याधर ने भी तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है किन्तु आचार्य मम्मट के ही अनुसार बड़ी कुशलता से अभिधावृत्ति के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं -

'अनुवाद्यानामन्वयिनां विधेयार्थपरत्वं तात्पर्यमिति व्यापारान्तरं परैरभ्युपगतम्' । यथा -

'उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रम:'

इत्यत्र दर्शनस्य चक्षु:करणकत्वाव्यभिचारात्तदुपादानं तद्विशेषणार्थं तदेव चात्र विधेयं तत्परत्वमेव तात्पर्यम्' । [4]

१- द्र० काव्यप्रकाश- पृ० २२६-२३७

२- द्र० लोचन पृ० ६४-६६

३- अलंकारसर्वस्वम्- पृ०-११

४-एकावली पृ० ५६

शब्दशक्तिमूला अनुरणन रूप व्यंग्य के प्रसंग में भी विद्याधर ने तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है -

'इत्यभिधातात्पर्यलक्षणारूपव्यापारत्रितयातिवर्ती ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादिव्यपदेशनिरूपितश्चतुर्थो व्यापारो दुरपह्नव एव'।[1]

एकावली की उपर्युक्त पंक्ति के साथ लोचन की पंक्ति- तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः'[2]। के साथ तुलना करने पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि विद्याधर की उपर्युक्त पंक्ति लोचन पर आधृत है । आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है । जब वे त्रिविध वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-अर्थ की क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना- वृत्तियों का विवेचन कर चुके हैं, तब तात्पर्यशक्ति के विषय में कहते हैं -

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने[3]।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।।

आचार्य विश्वनाथ ने शब्द-शक्तियों से पृथक् तात्पर्य-शक्ति का विवेचन किया है । इससे यह प्रतीत होता है कि इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि तात्पर्य वाक्य की शक्ति है और अभिधा,लक्षणा तथा व्यंजना शब्द की शक्तियां हैं ।

किन्तु व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में वे अन्य आचार्यों की ही भांति तात्पर्यवृत्ति की भी गणना अभिधा,लक्षणा और व्यंजना के मध्य करते हैं -

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्[4] ।
अंगीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ।।

तात्पर्य से व्यंजना का भेद बताते हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के मतों को समेटने का प्रयत्न किया है । यहां तक कि तात्पर्यार्थ को मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का भी खण्डन किया है । इस प्रकार साहित्य-

---

१- एकावली पृ० -६१
२- लोचन पृ० ६१-६२
३- साहित्यदर्पण पृ० ४६
४- वही पृ० १५६

दर्पण में व्यंजना-विरोधी मीमांसकों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित करके उनका खण्डन किया है -[1]

१- अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्य-शक्ति का,

२- अभिधा-शक्ति का व्यापार बाण के समान दीर्घदीर्घतर मानने वाले अन्विता-
भिधानवादियों का,

३- और, तात्पर्य से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ को न मानने वाले धनिक के 'यावत्कार्य-प्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्,'[1] का

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' इस न्याय से खण्डन किया है ।

उपर्युक्त न्याय को नहीं मानने वाले मीमांसकों को उत्तर देते हैं - यदि अभिधा के इस दीर्घ-दीर्घ व्यापार से ही व्यंग्यार्थ का बोध मानते हो तो लक्षणाशक्ति के मानने की भी क्या आवश्यकता है, उसे भी छोड़ दो । अपने दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों अर्थों को निकाल लेना । किन्तु मीमांसक लक्षणाशक्ति को मानते हैं इसलिए उन्हें व्यंजना शक्ति भी माननी पड़ेगी । अत: उनका अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध मानना ठीक नहीं है ।

आचार्य विश्वनाथ, 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' इस न्याय को मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करने के पूर्व उनसे प्रश्न करते हैं कि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है - यहां पूछना है कि तत्परत्व क्या वस्तु है ? क्या तात्पर्य का मतलब तदर्थत्व है ? अथवा तात्पर्य नामक वृत्ति से बोधित होना यदि पहला पक्ष मानें तो कोई विवाद ही नहीं । क्योंकि व्यंग्य होने पर भी तदर्थत्व का अभाव नहीं होता । तदर्थत्व का मतलब है, उस पद का अर्थ होना । इससे यह तो निकलता ही नहीं कि कौन सी वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिए । चाहे किसी भी वृत्ति से निकला हुआ अर्थ उस शब्द का तदर्थ कहला सकता है । इसलिए व्यंजना-शक्ति के द्वारा प्रतीत हुआ निरतिशयानन्द भी यदि तदर्थ कहलाए तो कोई क्षति नहीं, क्योंकि इससे ध्वनिवादियों की मानी हुई व्यंजना-वृत्ति का खण्डन नहीं हो सकता, अत: इस पक्ष में हमें विवाद करने की भी कोई आवश्यकता नहीं । यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो यह बतलाएं कि यह तात्पर्य नामक वृत्ति कौन सी है ? क्या अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की मानी हुई

१- द्र० साहित्यदर्पण पृ० १२७ ।

मानते हैं तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति से पदार्थों का सम्बन्धमात्र बोधन होता है। उसके बाद वह परिक्षीण हो जाती है, अतः उससे फिर व्यङ्ग्य-अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। यदि उससे अतिरिक्त वृत्ति मानकर उसका नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखते हैं तो नाममात्र में विवाद रहा। पूर्वसम्मत अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तो तुम्हारे मत में भी सिद्ध हो ही गई। भेद केवल इतना है कि हम चौथी वृत्ति को व्यंजना कहते हैं और तुम तीसरी तथा चौथी दोनों को तात्पर्यवृत्ति कहते हो'।[१]

'अभिहितान्वयवादियों की सम्मत तात्पर्यशक्ति से ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (विभावादि का संसर्ग) और रसादि का ज्ञान यदि एक साथ ही प्रकाशित हो जाय तो क्या हानि है ? इस प्रकार चौथी वृत्ति भी नहीं माननी पड़ेगी और काम भी चल जाएगा। केवल तात्पर्यशक्ति से ही दोनों का प्रकाश मान लें।'

उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'विभावादि के संसर्ग को रस का कारण माना गया है और रसज्ञान को विभावादि ज्ञान का कार्य माना गया है। कार्य और कारण कभी एक साथ हो नहीं सकते। कारण पहले होता है और कार्य उसके पीछे, अतः एक वृत्ति से इन दोनों का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। इन दोनों का कार्य-कारण भाव भरतमुनि ने कहा है - विभावानुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से अर्थात् इन कारणों से रस की निष्पत्ति अर्थात् रसरूप कार्य की सिद्धि होती है। पहले सिद्ध किया है कि रस कार्य नहीं होता, अतः यहाँ पौर्वापर्य के कारण इन शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है. अथवा आवरण भंग के कारण को उपचार से रस का कारण कह दिया है। यदि विभावादि ज्ञान और रस-ज्ञान का सहभाव (एक ही काल में उत्पन्न होना) माना जाय तो कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। एक साथ निकले हुए किसी पशु के बाएं और दाहिने सींग एक दूसरे के कार्य और

१- तत्र प्रष्टव्यम् - किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः, व्यंग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु - केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः ? अभिहितान्वयवादिभिरंगीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाममात्रे विवादः। तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। (साहित्य दर्पण पृ० १५८-१५९)

और कारण नहीं हुआ करते । जहां पौर्वापर्य हो वहीं कार्य-कारण भाव होता है। उसके विपर्यय में नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि तात्पर्यवृत्ति से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता'।

इस प्रकार सभी ने 'तात्पर्य' अर्थ के लिए तात्पर्य-शक्ति का प्रयोग अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर किया है ।

व्यंजना-व्यापार - ध्वन्यालोक के आधार पर व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार है -

'शब्द-प्रयोक्ता कभी वाच्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी प्रयोजन की अपेक्षा से [redacted] अनभिधेय रूप से अर्थ प्रकाशन करना चाहता है ।[1] किन्तु प्रतिभाशाली वक्ता या कवि का जो चारुत्वमय प्रयोजन होता है उसकी अवगति वह श्रोता को अभिधेय रूप से कभी नहीं कराना चाहता । प्रयोजन को अभिधेय बना कर तो सारा चमत्कार या वैचित्र्य ही नष्ट हो जाता है ।[2] फलतः वह [redacted] उस प्रयोजन प्रतीति को रमणीय रूप देने के लिए अनभिधेय ही रखता है । ऐसी अवस्था में उसके इस अनभिधेय अभिप्राय- विशेष की रमणीय प्रत्यायना जिस शक्ति से होती है उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं ।'[3]

व्यंजना-शक्ति के विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में मतैक्य है । परवर्ती आचार्यों ने भी व्यंजना का स्वरूप आनन्दवर्धन के ही अनुसार प्रतिपादित किया है ।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में व्यंजनावृत्ति का विशद निरूपण किया है । व्यंजना के मूलतः दो भेद हैं - शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ । इन्हीं को क्रमशः शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना भी कहते हैं । शाब्दी व्यंजना के पुनः दो भेद हैं -

---

१- प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देन अर्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् - ध्व० पृ० ४४६-५०

२- चारुत्वो त्कर्षः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति, प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन । ध्व० पृ० ५३३

३- द्र० ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं पृ० ७९ ।

अभिधामूला तथा लक्षणामूला । मम्मट ने सप्रयोजन लक्षणा के विवेचन के प्रसंग में प्रयोजन की निष्पत्ति कराने वाली लक्षणामूला व्यंजना का यह लक्षण किया है-

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ।।[1]

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्, न चात्र व्यंजनादृतेऽन्यो व्यापार: ।[2]

'गंगायां घोष:' में शैत्यपावनत्वादि प्रयोजनभूत विषय के बोधन में लक्षणा शक्ति के क्षीण हो जाने पर अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा से व्यतिरिक्त एक चतुर्थ-व्यापार[3] अवश्य मानना पड़ेगा और वही है व्यंजना-व्यापार जिसके द्योतन ध्वनन आदि अपर पर्याय हैं ।[4]

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना - अनेकार्थक शब्दों के स्थल में संयोगविप्रयोगादि[5] अभिधानियामकों द्वारा अभिधा के नियमन हो जाने पर भी सहृदयों की प्रतिभा बलात् जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, इस प्रतिभैव अन्य-अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार को व्यंजना-व्यापार कहते हैं ।[6] यथा-

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नते: कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगते: परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग: सततं करोऽभूत् ।।

१- का०प्र० २।१४ २- वही पृ० ५६

३- आचार्य मम्मट ने व्यंजना-व्यापार को चतुर्थ कक्ष्या-निवेशी माना है - यह अभिनवगुप्त का प्रभाव है ।

४- तटादौ ये विशेषा: पावनत्वादयस्ते चाभिधा- तात्पर्य- लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्या तच्च व्यञ्जन- ध्वनन- द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् । काव्यप्रकाश ७६.

५- संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ: प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि: ।।
सामर्थ्यमौचिती देश:कालो व्यक्ति: स्वरादय: ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव: ।। वाक्यपदीय

६- अनेकार्थस्यशब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम् ।। काव्यप्रकाश २।१९

इसमें कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है । प्राकरणिक होने के कारण राजपक्षीय अर्थ की ही प्रथम प्रतीति होती है । यही वाच्य अर्थ है । इसके अनन्तर प्रतीत होने वाला गजपक्षीय अर्थ व्यंजनाव्यापार के द्वारा बोधित होगा क्योंकि प्रकरणवशात् अभिधा का नियमन तो राजपक्ष अर्थ में हो चुका और एक अर्थ दे देने के बाद अभिधा पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती । यदि यहाँ पर प्रकरण अज्ञात रहता तो अभिधा अनियन्त्रित ही रहती फलत: दोनों ही अर्थ वाच्य हो जाते और इस प्रकार यह श्लेष अलंकार का विषय हो जाता । हस्तिवर्णन रूप अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ की प्राकरणिक राजपक्षीय वाच्य अर्थ के साथ असम्बद्धता के निरासार्थ दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है । फलत: यहाँ पर उपमा अलंकार भी व्यंग्य होगा ।

आचार्य मम्मट शाब्दी व्यंजना की परिभाषा में शब्द की अनेकार्थता तो स्वीकार करते हैं किन्तु शब्दश्लेष के प्रसंग में वाच्यभेद के कारण शब्दभिन्नता ही मानते हैं । एक शब्द के अनेक वाच्यार्थ नहीं स्वीकार करते । यहाँ पर 'अर्थभेदेन - शब्दभेद:' इस मत के पोषक बन जाते हैं । उनके इन दोनों मतों पर परस्पर विरोध पड़ता है । अत: 'अर्थभेदेन शब्दभेद:' इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वपक्षी 'भद्रात्मन:' आदि उपमाध्वनि के स्थलों में यह शंका उठा सकता है - 'अर्थभेदेन शब्दभेद:' इस न्याय से यहाँ पर भी दो वाचक शब्द माने जायं । एक शब्द के द्वारा राजा वाले अर्थ का अभिधान होने पर अभिधा का नियमन हो गया तदनन्तर दूसरे शब्द से दूसरे हाथी वाले अर्थ का बोध हो जाएगा क्योंकि दूसरे शब्द की अभिधा का तो नियमन हुआ नहीं, इसलिए व्यंजना नामक वृत्यन्तर की कल्पना ठीक नहीं है । इस शंका का समाधान विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' में किया है । वे कहते हैं कि 'यदि यहाँ पर शब्दद्वय की कल्पना करोगे तो प्रकृत अर्थ की प्रथम प्रतीति कैसे होगी, क्योंकि दोनों ही अर्थों को अभिधेय मानने पर दोनों की समकक्षता हो जाएगी और उनमें पूर्वपश्चाद्भाव की नियतता असम्भव हो जाएगी । अत: दूसरे अर्थ को वाच्य न मान कर व्यंग्य मानना ही ठीक होगा और द्वितीय अर्थ के बोधन के लिए एक दूसरे वाचक शब्द की कल्पना करने की अपेक्षा उसी शब्द में

व्यापारान्तर की ही कल्पना करना श्रेयस्कर होगा[1]। वस्तुत: यहां पर पार्यन्तिक उपमा अलंकार व्यंग्य है । मद विषयक अर्थ को ही पार्यन्तिक व्यंग्य मानने में एक आपत्ति है, वह यह कि दोनों अर्थों की परस्पर असम्बद्ध रूप से प्रतीति होने पर वाक्य में असंगति हो जायगी । इसी लिए आचार्य आनन्दवर्धन वस्तुद्वय की प्रतीति को ध्वनि का विषय न मान कर केवल श्लेष का ही विषय मानते हैं। वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहीं पर मानते हैं[2] जहां कि शब्द सामर्थ्य से अलंकारान्तर आक्षिप्त हो, वस्तु मात्र नहीं । आचार्य मम्मट का इस विषय में ध्वनिकार से मतभेद दिखाई देता है क्योंकि वे शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य को भी स्वीकार करते हैं और निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ।।
अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।। (का०प्र० पृ० १३३)

शब्द शक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य के भी स्वीकर्ता होने के कारण मम्मट के अनुसार 'मद्रात्मन:' इत्यादि श्लोक में अप्राकरणिक मदवाचिक अर्थ को आनुषंगिक रूप से वस्तुव्यंग्य मान सकते हैं किन्तु पार्यन्तिक व्यंग्य तो उपमा ही है । वस्तुत: मम्मट यहां पर मदवाचिक अर्थ को व्यंग्य रूप ही मानते हैं । ध्वनित्वेन परीक्षण करने पर तो यह भी उपमा अलंकार व्यंग्य का ही उदाहरण होगा , वस्तु व्यंग्य का नहीं,क्योंकि यहां पर व्यंग्य रूप मदवाचिक अर्थ की प्राधान्येन विवक्षा नहीं है । कवि का मुख्य उद्देश्य यहां मद की प्रतीति कराना नहीं है,अपितु उपमानोपमेयभाव की प्रतीति ही उसका प्रधान लक्ष्य है । प्रधान[3] व्यंग्य को ही ध्वनि कहते हैं अत: यहां अलंकारव्यंग्य है, वस्तुव्यंग्य नहीं ।

१- काव्यप्रकाशदर्पण : चा० वो० पृ० ६६

२- आक्षिप्त एवालंकार: शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्त: शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स:।। ध्व० २।२१
यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेष:-ध्व०पृ० -२३५

३- ध्वनि-सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं पृ० ७८-८१

पंडितराज जगन्नाथ नियन्त्रितप्राकरणिक अर्थ वाले नानार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को व्यंजनागम्य नहीं मानते । इस विषय में इन्होंने 'रस-गंगाधर' के द्वितीय आनन के आरम्भ में ही पर्याप्त विवेचन कर मम्मटादि आचार्यों के मत का खण्डन किया है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं -

'तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यंजनेति प्राचां सिद्धान्त: शिथिल एव । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोरुपमायां तु सा कदाचित्स्यादपीत्यवास्माकं प्रतिभाति'[१] ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के लिए एक नई उद्भावना की है । उनकी दृष्टि में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार से उन्हीं स्थलों पर होगी जहां पर योगरूढ शब्दों के प्रयोगों में अभिधा के द्वारा रूढ़ अर्थ निकलेगा तथा यौगिक अर्थ के लिए अभिधा के असामर्थ्य के कारण व्यंजनावृत्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा ।इसका वे निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहै: सहानिशम् ।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स काल: समुपस्थित: ।।

यहां पर चपला, अबला तथा वारिवाह योगरूढ शब्द हैं । इनका अभिधेयार्थ क्रमश: 'विद्युत्, स्त्री तथा मेघ' है । प्राकरणिक अर्थ के निष्पन्न होने के अनन्तर एक दूसरा अर्थ भी आकांक्षा रखता है जिस दूसरे अर्थ में उक्त शब्दों का क्रमश: 'पुंश्चली, अशक्त: तथा जलवाहक पुरुष' यह अर्थ निकलता है । अब यदि कोई कहे कि इन दूसरे अर्थों को भी अभिधेय मान लिया जाय तो यह असम्भव है क्योंकि अभिधा तो रूढ़ अर्थ को ही देगी -'योगाद्रूढिर्बलीयसी' - इस न्याय के अनुसार । अत: इन दूसरे यौगिक अर्थों का बोध कराने के लिए 'व्यंजना' के अतिरिक्त अन्य कोई गति ही नहीं है ।

पण्डित राज की इस मौलिक उद्भावना के कारण आनन्दवर्धन तथा मम्मट इन दोनों आचार्यों की मर्यादाओं का कथंचित् निर्वाह हो जाता है ।आनन्दवर्धन ने नानार्थक शब्दों के स्थल में अभिधा के नियन्त्रण की कहीं पर भी चर्चा नहीं की, अत: पण्डितराज ने उक्त शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के सम्बन्ध में भी अभिधा के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि इन यह नहीं

१- रसगंगाधर, द्वितीय आनन

कह सकते कि अभिधा तो चपला शब्द का विद्युत् अर्थ देकर नियन्त्रित हो गयी, इसलिए दूसरा 'पुंश्चली' वाला अर्थ नहीं दे सकती, कारण कि अभिधा के द्वारा तो चपला का इस प्रसंग में विद्युत् अर्थ ही निकलेगा क्योंकि अर्थ में शब्द रूढ़ है। यदि 'पुंश्चली' इस यौगिक अर्थ को भी अभिधेय माना जाय तो फिर 'पंक का सेवार' (शैवाल) अर्थ भी अभिधेय ही मानना पड़ेगा। अभिधा के नियमन वाले सिद्धान्त के विरोधी लोग अभिधा का पुनरुज्जीवन भी मान लें अतः अभिधा नियमन की चर्चा ही न की जाय 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा:'। योगरूढ़ शब्दों के स्थल में वस्तुव्यंग्यता मान कर मम्मट के मत का समर्थन सा हो गया, यद्यपि इस संबंध में दोनों के सिद्धान्त में मौलिक भेद है।

पण्डितराज का शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य का सिद्धान्त आपाततः ठीक जंचता है। किन्तु इसका लोचनकार के सिद्धान्त से आत्यन्तिक विरोध पड़ता है। लोचनकार प्रकरणादि को इतना बलवान् तात्पर्य निर्णायक मानते हैं कि इसके कारण कहीं-कहीं 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' इस न्याय का अपाकरण भी हो जाता है। जैसे ग्रीष्मऋतु के वर्णन के प्रकरण में आए हुए 'महाकाल' शब्द का 'महान् वासौ कालश्च' इस व्युत्पत्ति से निकला यौगिक अर्थ ही अभिधेय मानना पड़ता है और जो इसका योगरूढ़ अर्थ है 'शंकर', उसे अभिधेय न मानकर व्यंग्य ही मानना पड़ता है।

<u>आर्थी व्यंजना</u> -

आर्थी व्यंजना की मम्मट ने यह परिभाषा दी है -

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥[१]

वक्ता तथा बोधव्य आदि के वैलक्षण्य के कारण प्रतिभावान् सहृदय जनों को वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थव्यापार को व्यंजना कहते हैं।

१- काव्यप्रकाश, २।२२

आचार्य मम्मट ने व्यंजना के दो मुख्य सहकारित्वों अथवा प्रयोजकों का स्पष्ट निर्देश किया है । वे दो सहकारी हैं - विषय की दृष्टि से वक्ता आदि का वैशिष्ट्य तथा प्रतिपत्ता की दृष्टि से प्रतिभा की अपेक्षा । व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल प्रतिभावान् प्रतिपत्ता को ही होती है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते । ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि व्यंग्यार्थ तो केवल काव्यज्ञत्व द्वारा ही जाना जा सकता है । आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में व्यंजनाशक्ति प्रतिपत्तृप्रतिभा सहाया है[1] । वक्ता आदि की विलक्षणता का ज्ञान भी व्यंजना का मुख्य प्रयोजक है । मम्मट ने केवल आर्थी व्यंजना में ही वक्ता आदिवैशिष्ट्य को सहकारी माना है । शाब्दी व्यंजना में सर्वथा अनपेक्षित हो, यह बात नहीं है, क्योंकि भोजन के प्रकरण में कहे गए 'सुरभिमांसं भवान् भुंक्ते' इस वाक्य से जो 'गोमांसभक्षणरूप' द्वितीय अर्थ की व्यंजना हो रही है उसमें वक्ता का वैशिष्ट्य भी प्रयोजक है । मम्मट के द्वारा दिए गए शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के निम्नलिखित उदाहरण में वक्तृबोधव्य का वैशिष्ट्य व्यंजना में सहायक है -

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।[2]
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वसु ।।

अर्थात् पथिक ! इस पथरीले ग्राम (पिछड़ी बस्ती) में बिछौना (शास्त्र) नहीं है, उठे पयोधर को देख कर यदि रहना चाहते हो तो रहो । यहाँ यदि 'उपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्व' इस व्यंग्य की प्रतीति तो उसी सहृदय को होगी जिसने इस उक्ति की वक्ता स्त्री के कुलटात्व और दु:शीलत्व का तथा इसके बोधव्य जन के प्रवृद्धमदनांकुरत्व वाले भाव का ठीक-ठीक अवधारण कर लिया हो ।

शाब्दी व्यंजना के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ पर वक्ता आदि वैशिष्ट्य का व्यंजना में कोई बाधाकृत नहीं होता जैसे - 'भद्रात्मन' इत्यादि श्लोक में ।

१-(१) शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यवाच्यस्य प्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापार: - लो० पृ० ६२-६३

(२) प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम् - लो० पृ०६।

२- काव्यप्रकाश पृ० १५०

वस्तुत: आर्थी व्यंजना में जो रमणीयता है वह विशुद्ध शाब्दी व्यंजना में नहीं मिलती। 'महात्मन:' आदि विशुद्ध शाब्दी व्यंजनाओं में प्रत्येक शब्द के उभय संकेत के लिए अभिधानकोशों का ज्ञान प्रतिपत्ता के लिए परम आवश्यक है। उनके बिना अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति असम्भव है। कवि को भी ऐसे व्यंजक शब्दों की योजना में पृथक् प्रयास करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति उतनी सहज नहीं होती जितनी की आर्थी व्यंजनाओं में होती है। और जब तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में व्यंग्य अर्थ का झटिति अवभासन नहीं हो तो उसका चमत्कार कम हो ही जाता है क्योंकि व्यंग्यार्थ को तो तुरन्त भासित होना चाहिए। जब प्रतिपत्ता को अभिधानकोश का ज्ञान अपेक्षित ही है तो फिर उनके लिए वह व्यंजक शब्द भी संकेतग्रहार्थ वाचक शब्द के तुल्य ही तो हुआ। सम्भवत: इसी बात को विचार कर पण्डितराज तथा अप्पयदीक्षित आदि कुछ आचार्यों ने ऐसे उदाहरणों का श्लेष-अलंकार में ही अन्तर्भाव किया है क्योंकि वहाँ द्वितीय अर्थ को देने में भी संकेतग्रहाया अभिधाशक्ति ही प्रतिबद्ध होकर समर्थ होती है। हाँ, ऐसे स्थलों में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव में रमणीयता अवश्य है। अत: इस अलंकारांश की व्यंग्यता को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।[1]

ध्वनिकाव्य भेद -

इस तथ्य का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि-भेदों की निश्चित संख्या नहीं बताई है। किन्तु अभिनवगुप्त ने ध्वनि भेदों की गणना करके उनकी संख्या ७४२० मानी है।[2] अभिनवगुप्त ने ध्वनि-भेद

१- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं पृ० ८४-८८

२- अभिनवगुप्त ने ध्वनिभेदों की संख्या ७४२० मानी है उसमें त्रुटि है- लोचनकार जितने ध्वनि के भेद (३५) मानते हैं उतने ही गुणीभूतव्यंग्य के भी (३५)। अलंकारों के अनन्त होने के कारण 'अलंकारत्वावच्छिन्न' ध्वनि का एक ही भेद मानते हैं। इस प्रकार कुल ७१ भेद हुए। अब इनकी त्रिविध संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के साथ योजना होने के कारण ४ से गुणा करने पर २८४ भेद निकलते हैं। इन २८४ संकीर्ण भेदों की शुद्ध ३५ भेदों के साथ भी योजना होने के कारण गुणनफल २८४ X ३५ = ९९४० आता है (लो०पृ०५०१-५०२) किन्तु इस गुणनफल को लोचनकार त्रुटिवशात् ७४२० मानते हैं -
ध्वनि-सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं- पृ० ९२

गणना की जो परम्परा चलाई, उसे परवर्ती सभी आचार्यों ने आत्मसात् कर लिया और अपने-अपने मतानुसार ध्वनि भेदों की संख्या का निर्देश किया।[1]

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद माने हैं। इस तरह लोचनकार से मम्मट ने १६ भेद अधिक बताए हैं। अविवक्षितवाच्य के भेदों में तो आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट में समानता है। [redacted] केवल विवक्षितान्यपरवाच्य के भेदों की गणना में ही अन्तर है। मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ७ भेद माने हैं- पद, वाक्य, पदैकदेश, रचना, वर्ण तथा प्रबन्ध जब कि लोचनकार पदैकदेश को भिन्न न मानने के कारण ५ ही भेद मानते हैं। इस प्रकार मम्मट के अनुसार १ भेद अधिक होता है। पदैकदेश का निर्देश तो ध्वनिकार ने पदादिषु में आए हुए 'आदि' पद के द्वारा ही कर दिया था और लोचनकार ने भी 'आदि' पद के द्वारा पदैकदेश पदद्वितय का ग्रहण करना ही अभीष्ट बताया,[2] किन्तु ध्वनिभेद करते समय पद में ही पदैकदेश पदद्वितयादि का अन्तर्भाव मान लिया। अतः आनन्दवर्धन तथा लोचनकार के अनुसार 'पद', पदैकदेश पदद्वितय आदि का उपलक्षण माना गया। मम्मट ने पद से पदैकदेश को सर्वथा पृथक् करके असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में एक भेद की वृद्धि कर दी। मम्मट ने शब्दशक्तिमूल में वस्तुव्यंग्य को माना और उसके भी पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य होने पर दो भेद माने हैं। इस प्रकार लोचनकार तथा आनन्दवर्धन की अपेक्षा मम्मट के शब्दशक्तिमूल में दो भेद अधिक हुए। अर्थशक्तिमूल में पदप्रकाश्यता तथा वाक्यप्रकाश्यता के अतिरिक्त प्रबन्धप्रकाश्यता को मान कर मम्मट ने १२ भेदों की वृद्धि की है। प्रबन्धप्रकाश्यता मानने के नाते मम्मट आनन्दवर्धन के ही सच्चे अनुयायी हैं, लोचनकार के नहीं, क्योंकि लोचनकार अर्थशक्तिमूल के उपभेदों में प्रबन्धप्रकाश्यता को स्वीकार नहीं करते। किन्तु आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल में भी प्रबन्धप्रकाश्यता स्वीकार करते हैं जब कि मम्मट शब्दशक्तिमूल में केवल वाक्य तथा पदप्रकाश्यता ही मानते हैं। लोचनकार भी यही मानते हैं। मम्मट ने शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अतिरिक्त शब्दार्थोभयशक्तिमूल नाम का एक नया भेद[3] गिना कर १ भेद की वृद्धि की है। इस प्रकार

१- भेदास्तदेकपञ्चाशत्- का०प्र० १८५

२- यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु-ध्व० पृ० ३०२
आदि ग्रहणेन पदैकदेश पदद्वितयादीनां ग्रहणम्- लो० पृ०३०३

३- शब्दार्थोभयभूरेकः - का०प्र० १५६। आचार्य मम्मट को शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि को मानने की प्रेरणा ध्वन्यालोककार के इस वाक्य से मिली है - शब्दशक्त्या अर्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते - ध्व० पृ० २५१।

मम्मट ने लोचनकार से कुछ १६ मेद अधिक मानकर ध्वनि के ५१ मेद बताए हैं ।

इन ५१ मेदों के परस्पर मिश्रित होने पर ५१ + ५१= २६०१ मेद होते हैं । तदनन्तर इनकी योजना त्रिविध संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के साथ होने पर २६०१×४ = १०४०४ मेद होते हैं । अब इन संकर तथा संसृष्टियुक्त ध्वनि मेदों के साथ ५१ शुद्ध ध्वनि मेदों को जोड़ने पर १०४०४+५१= १०४५५ ध्वनिमेद हो जाते हैं।[1]

एकावलीकार विद्याधर ने अविवक्षितवाच्य तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के मेदों की गणना में मम्मट का ही अनुकरण किया है । अन्तर केवल इतना है कि अर्थशक्तिमूल के ३६ मेद[2] गिनाने के अनन्तर प्रबन्धगत ११ प्रकार के अन्य मेदों का भी निर्देश किया है ।

असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि के ८ प्रकार माने हैं -[3] रस, भाव, रसाभास, भावाभास,भावोदय, भावसन्धि, और भावशबलता । इस प्रकार से रसादिध्वनि के मेदों की गणना मम्मटादि किसी आचार्य ने नहीं की है अपितु पदप्रकाश्यता, वाक्यप्रकाश्यता, रचनाप्रकाश्यता के आधार पर ही की गई है । रसादि ध्वनि की पदप्रकाश्यता आदि के विषय में एकावलीकार मौन हैं । उनके ध्वनि मेदों का संक्षिप्त आकलन इस प्रकार है -

४ अविवक्षितवाच्य + ८ असंलक्ष्यक्रमध्वनि + ३६ अर्थशक्तिमूल + ४शब्दशक्तिमूल+ १ उभयशक्तिमूल = ५३ मेद ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ[4] ने मम्मट का ही अनुकरण किया है ।उन्होंने भी शुद्ध ध्वनि के ५१ मेद माने हैं ।

१- तेषां चान्योन्ययोजने संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४) शुद्ध भेदैः सह - शरेषुयुगखेन्दवः(१०४५५) - काव्यप्रकाश: - पृ. १८७

२- एवमपरेऽप्यर्थशक्तिमूलस्य ध्वनेरेकादशप्रबन्धप्रकाश्यभेदाः प्रबन्धान्तरेषु द्रष्टव्याः:- एकावली पृ० १२८

३- अस्य रसभावरसाभासभावाभासभावशान्तिभावोदयभावसन्धिभावशबलत्वरूपतयाष्ट प्रकाराः - एकावली पृ० ८६

४- तदेवमेकपंचाशद् भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः - साहित्यदर्पण ४।११

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर के प्रथम आनन में उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य को असंख्य भेदों वाला माना है[१], किन्तु सामान्यतः उसके पांच भेद माने हैं[२]।

ध्वनि
|
अभिधामूल — लक्षणामूल

अभिधामूल: रसादिध्वनि, वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि[३]

लक्षणामूल: अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

प्रथम आनन में रसादि ध्वनि का ही सांगोपांग विवेचन किया गया है। द्वितीय आनन मे रसादि के अतिरिक्त शेष सभी अभिधामूल ध्वनियों का भेदप्रतिपादन संलक्ष्यक्रमध्वनि के अन्तर्गत किया गया है। यहां पर रसादि का केवल वर्ण,पद आदि की व्यंजकता के नाते निर्देश किया गया है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अनन्तर लक्षणामूल ध्वनि के भेदों का विचार किया गया है।

ध्वनि भेद के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ, आनन्दवर्धन तथा मम्मट दोनों से प्रभावित हैं। आनन्दवर्धन के ही अनुकरण पर उन्होंने कविप्रौढोक्ति तथा स्वतःसंभवी इन दो प्रकार के व्यंजक रूपों को ही स्वीकार किया। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति का कविप्रौढोक्ति में ही अन्तर्भाव किया है[४]। शब्दशक्तिमूल में वस्तुव्यंग्य को स्वीकार कर मम्मट का ही अनुवर्तन किया है।

१,२- तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते तानेव-ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति -

द्विविधः ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्राद्यस्त्रिविधः - रसवस्त्व-लंकारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणात् रस-भाव-तदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानाम् ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः -अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च । एवं पंचात्मके ध्वनौ परम-रमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा । रसगंगाधर-पृष्ठ ८५-८६

३- पण्डितराज जगन्नाथ ने वस्तुध्वनि,अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि - इस प्रकार का प्रयोग अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर किया है। यदि वस्तुव्यंग्य,अलंकारव्यंग्य एवं रसव्यंग्य इस प्रकार कहते हैं तो अधिक उपयुक्त होता।

४- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं - पृ० १६७-२७४

काव्यभेद- आनन्दवर्धन ने सभी दृष्टियों से मीमांसा कर व्यंग्य अर्थ की प्रधान तथा गौण दो प्रकार की स्थितियों के अनुसार क्रमश: काव्य के दो प्रकार निरूपित किए - ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य । इन दो के अतिरिक्त चित्रकाव्य को उन्होंने वस्तुत: काव्य माना ही नहीं । उसे काव्यानुकृति अथवा काव्यचित्र मात्र कह कर छोड़ दिया । इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन का ही अनुकरण किया, कोई नई उद्भावना नहीं की है ।

आचार्य मम्मट ने काव्य की तीन कोटियां मानी हैं । ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम तथा चित्र को अवर(अधम) काव्य कहा है ।[1] परवर्ती सभी आचार्यों ने काव्यभेद निरूपण काव्य-प्रकाश के ही आधार पर किया है । किन्तु विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ इस विषय में कुछ वैमत्य रखते हैं ।

विश्वनाथ काव्य के दो भेद स्वीकार करते हैं[2] - ध्वनि काव्य और गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य । वे चित्रकाव्य की गणना काव्य कोटि में नहीं करते । इस विषय में वे आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं । क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को व्यंग्य रहित होने के कारण काव्यानुकृति मात्र माना है, काव्य नहीं ।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य के चार भेद करते हैं - उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम ।[3] उनके उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण ध्वनि काव्य के लक्षण से साम्य रखता है ।[4] उत्तम काव्य[5] ध्वनिकार सम्मत गुणीभूतव्यंग्य से साम्य रखता हुआ भी उससे कुछ भिन्न है । साम्य केवल इस कारण है कि दोनों (उत्तम काव्य और गुणीभूतव्यंग्य) में व्यंग्य वाच्य की अपेक्षा अप्रधान रहता हुआ, वाच्य का उत्कर्षा-

---

१- इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै: कथित: । काव्यप्रकाश १।४

अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम् ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।। वही १।५ पृ० ३१-३२

२- काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम् - साहित्यदर्पण ४।१

३- तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा - रसगंगाधर पृ० ३६

४- शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम् - वही पृ० ३६

५- यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् - वही पृ० ६६

उत्कर्षाधायक होने के कारण वाच्यत्व हेतु बनता है । भिन्नता स्वाभिक है क्योंकि ध्वनिकार ने वाच्य तथा व्यंग्य के समप्राधान्य होने पर अथवा संदिग्ध-प्राधान्य होने पर भी गुणीभूतव्यंग्यता मानी है । किन्तु रसगंगाधरकार उत्तम काव्य में केवल व्यंग्य का अप्राधान्य मानते हैं, न संदिग्धप्राधान्य और न तुल्यप्राधान्य । इस कारण पण्डितराज का उत्तमकाव्य गुणीभूतव्यंग्य काव्य के समकक्ष नहीं ठहरता ।

काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य है । जहां पर व्यंग्य का चमत्कार वाच्य-चमत्कार से असामानाधिकरण हो, वह मध्यम काव्य है ।[1] असामानाधिकरण का अर्थ है -'अस्फुटतया बोध्य'।[2] अत: सीधा अर्थ यह हुआ कि मध्यम काव्य वह है जहां व्यंग्य का चमत्कार अस्फुट हो और वाच्य का चमत्कार उत्कृष्ट हो । इस प्रकार पण्डितराज के उत्तम तथा मध्यम दोनों काव्य-प्रकार मिलकर गुणीभूतव्यंग्य की बराबरी करते हैं ।

काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य माना गया है । जहां पर शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार उसका उपस्कारक हो, वह अधम काव्य है ।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ को चतुर्विध काव्य-प्रकारों की प्रेरणा सम्भवत: पूर्ववर्ती आचार्य कविकर्णपूर गोस्वामी से मिली हो क्योंकि उन्होंने भी अपने अलंकारकौस्तुभ में इसी प्रकार काव्यभेदों का उल्लेख किया है ।[4]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि व्याकरण, दर्शन साहित्य आदि शास्त्र में परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है । जब एक शास्त्र दूसरे शास्त्र से अछूता नहीं रह पाता, कहीं न कहीं अपने से इतर शास्त्र का आश्रय ले ही लेता है , तब एक ही शास्त्र-परम्परा में लिखे गए ग्रन्थों का एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना रह सकना सर्वथा असम्भव है । जैसे साहित्यशास्त्र में ही [illegible] ,

---

१- यत्र व्यंग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् - रसगंगाधर पृ०७

२- तदसमानाधिकरणत्वं चास्फुटतया बोध्यम् - नागेश(मर्मप्रकाश) पृ० ७६

३- यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृति: प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् - रसगंगाधर,पृ०७८

४- अलंकार कौस्तुभ ।

मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ आदि आचार्य यह दावा नहीं कर सकते कि जो हमने कहा है वह किसी ने नहीं कहा है। सभी ने एक सी ही बात कही है अन्तरमात्र इतना है कि उस के प्रतिपादन की शैली भिन्न है। सौभाग्य से किसी आचार्य पर भगवती सरस्वती की ऐसी कृपा हो जाती है कि वह सर्वथा नूतन तथ्य खोज निकालता है, तदनन्तर अनेक आचार्य उसी पथ का अनुसरण करते हुए अपने-अपने ग्रन्थों की रचना करते हैं, अनुकथन मात्र करते हुए भी उन्हें पर्याप्त यश मिल जाता है। यथा- भगवती की कृपा से ही आचार्य आनन्दवर्धन ने अभूतपूर्व ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। तदनन्तर उसका अनुवदन करने वाले सर्वप्रमुख आचार्य उन्हीं के टीकाकार अभिनवगुप्त हुए। उनके बाद - मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि सभी ने उसी तथ्य को मात्र दुहरा दिया है। एक ही कड़ी में जुड़े होने के कारण उन पर अपने-अपने पूर्ववर्ती आचार्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

उपसंहार -

पूर्व विवेचित तथ्यों के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के लोचन से अधिक प्रभावित रहा है। अभिनवगुप्त ने कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनकी दो साहित्यशास्त्रीय कृतियां हैं - लोचन और अभिनवभारती - दोनों ही टीकाएं हैं, तथापि अभिनवगुप्त 'आचार्य' पद से अभिषिक्त हैं। यह अभिनवगुप्त की अपनी एक विशेषता है। अभिनवगुप्त ने दार्शनिक होते हुए भी साहित्य-कृतियों पर अपनी लेखनी उठाई और उसमें कुछ दूर तक सफल भी हुए। किन्तु, उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जो गुप्त ढंग से परिवर्तन किए उससे आनन्दवर्धन का सरल एवं ऋजु सिद्धान्त भी इतना अधिक उलझ गया कि वह अध्येताओं के लिए दुर्गम दुर्ग बन गया। उस पर अभिनवगुप्त ने गुरुर भी जमा दी - 'किं लोचनं विनालोको भाति' इत्यादि। निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि अभिनवगुप्त ने लोचन टीका नहीं लिखी होती तो 'ध्वन्यालोक' सहृदय जनों के लिए अधिक सरल, सुगम और ग्राह्य होता।

------:o:------

परिशिष्ट

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक-लोचन, अनु० जगन्नाथ पाठक,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,१९६५

: अभिनवभारती (अभि॰ भा॰), गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ भाग१,१९५६
भाग-२, १९३४

: हिन्दी अभिनवभारती,अनु० डा०विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान, अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६०

: तन्त्रालोक, काश्मीर संस्कृत सीरीज़

: ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰), काश्मीर संस्कृत सीरीज़ १९३८

अमरसिंह : अमरकोष, निर्णय सागर प्रेस ,बम्बई

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, अनु०जगन्नाथ पाठक,चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी,1965

: ध्वन्यालोक, दीधिति टीका (चौ॰ सं॰ सि॰ द्वि॰ संस्करण 1953).

: ध्वन्यालोक(ध्व॰),लोचन(लो॰)और बालप्रिया टीका, काशी संस्कृत सीरीज़,१९४०

उद्भट और : काव्यालंकारसारसंग्रह (का॰ अ॰ सा॰ सं॰), एवं लघुवृत्ति की व्याख्या, व्याख्याकार-
प्रतिहारेन्दुराज : डा० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग १९६६

कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,मेघदूतम् और कुमार सम्भवम् ।

कविकर्णपूर-
गोस्वामी : अलंकार कौस्तुभ, वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी १९२६

कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, हिन्दी, अनु० डा० विश्वेश्वर,आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली १९५५

क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९३३

क्षेमराज : स्वच्छन्दतन्त्रम , प्रत्यभिज्ञाहृदयम

जगन्नाथ -
पण्डितराज : रसगंगाधर, अनु० बदरीनाथ झा और मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,१९५५

दण्डी : काव्यादर्श - चौखम्बा संस्कृत सीरीज़

धनंजय,धनिक : दशरूपक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

नरेन्द्रप्रभसूरि : अलंकार महोदधि, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, १९४२

नागेश : मर्मप्रकाश(रसगंगाधर की नागेश कृत व्याख्या)- काव्यमाला

भरत : नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, भाग-१,१९५६
भाग-२, १९३४

भर्तृहरि : वाक्यप्रदीप (बनारस)

भामह : काव्यालंकार, अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा - परिषद्, पटना १९६२

मम्मट : काव्यप्रकाश (का॰प्र॰), अनु० डा० विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, - वाराणसी ,१९६०

काव्यप्रकाश - बालबोधिनी सहित षष्ठ संस्करण

महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, अनु० डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा विद्याभवन- वाराणसी,१९६४ ।

मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६

रुय्यक : अलंकारसर्वस्व- संजीवनी, अनुवादक एवं संपादक- डा० रामचन्द्र - द्विवेदी- मोतीलाल बनारसीदास

राजशेखर : काव्य मीमांसा : हिन्दी अनु० केदारनाथ शर्मा, सारस्वत - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना,१९५४

रुद्रट : काव्यालंकार- निर्णय सागर प्रेस,बम्बई, १९२८

वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - ओरियण्टल बुक एजेन्सी, १९२७

वाचस्पति मिश्र : सांख्यतत्वकौमुदी-प्रभा, व्याख्याकार डा० आद्याप्रसाद मिश्र प्रेम प्रकाशन , इलाहाबाद, १९६६

विश्वनाथ : साहित्य दर्पण (सा॰द॰), विमला टीका, शालग्राम शास्त्री - मोतीलाल - बनारसीदास ।

काव्यप्रकाशदर्पण

विद्याधर : एकावली, श्रीमल्लिनाथकृततरलाख्याटीकयाऽन्विता । बम्बई संस्कृत- सीरीज, १९०३

हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (का॰नु॰शा॰), काव्यमाला १९०१

श्रीहर्ष : रत्नावली

योगसूत्र (यो॰सू॰) व्यासभाष्य सहित

हिन्दी

कान्तिचन्द्र-

पाण्डेय : स्वतन्त्रकलाशास्त्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी वि० सं० २०२४

कृष्णकुमार-

कृष्णकुमार-
शर्मा : ध्वनि सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय और समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।

डा० चण्डिका-
प्रसाद शुक्ल : नैषध परिशीलन

नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६४

निर्मला जैन : रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस - दिल्ली, १९६७

पी०वी०काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - मोतीलाल बनारसीदास

प्रेमस्वरूप गुप्त : रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ १९६२

चिन्मयी माहेश्वरी : रसगंगाधर का समीक्षात्मक अध्ययन

बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना, हिन्दी समिति, सूचना - विभाग, सचिवालय, लखनऊ १९६३

: भारतीयसाहित्यशास्त्र, नन्द किशोर एण्ड सन्स, चौक - वाराणसी

मंजुला जायसवाल : कालिदास के काव्य में ध्वनि तत्त्व

रेवा प्रसाद त्रिवेदी : आनन्दवर्धन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७२

राजवंश सहाय हीरा : भारतीय साहित्य शास्त्र कोश

रामगोपाल -
भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, १९६७

सुरेशचन्द्र पाण्डेय : ध्वनि सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएँ

शिवनाथ पाण्डेय : ध्वनि सम्प्रदाय का विकास

English Books.

Oriental and Comparative Aesthetics.

Bhattacharya-Sivaprasad : Studies in Indian Poetics, Indian Studies Calcutta, 1964.

Chatterji J.C. : Kashmir Saivism (1914).

DE, S.K. : Sanskrit Poetics as a study of Aesthetics, Oxford University Press, Bombay, 1963.

: Some problems of Sanskrit Poetics, Calcutta Oriental Press, 1959.

Dwivedi, R.C. : Principles of Literary Criticism in Sanskrit Motilal Banarsidass, 1969.

Gnoli, Raniero : The Aesthetics Experience According to Abhinavagupta, (A.E.A.A.) Chowkhamba Publication, 1968.

Kane, P.V. : History of Sanskrit Poetics, Third revised edition, Motilal Banarsidass, Varanasi 1961.

Krishnamoorthy, K. : Anandavardhana's Dhvanyāloka or Theory of Suggestion In Poetry. Poona Oriental Book Agency, 1955.

: Essays In Sanskrit Criticism. Manohar Printing Press, Neelakanth Kripa Market, Dharwar.

: Dhvanyāloka And Its Critics. Kāvyalaya Publishers, Mysore.

Masson, J.L. and Patwardhan, M.V. : Aesthetic rapture Vol. I. II. Poona, Deccan College. 1970

: Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics.

Pandey, K.C. : Indian Aeshtetics, Chowkhamba Sankrit Series Office, Varanasi, 1950.

: Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study. Chowkhamba, Varanasi, 1963.

Raghavan, V. : Bhoja's Sringara-Prakash, Punarvasu, Madras, 1963.

: The Number of Rasas, Adyar, Madras, 1940.

Sharma Mukunda-Madhava : The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi 1968.

Sankaran, A. : Some Aspects of Literary Criticism In Sanskrit, or The Theories of Rasa and Dhvani. Published by University of Madras, 1926. Second edition January 1973.

JOURNALS.

Allahabad Studies. University of Allahabad.

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad. (J. G. N. J. R. I.)

Journal of The American Oriental Sicicty. Vol. 92.

------:0:------